प्रगतिवाद की रूपरेखा

(साहित्य और समाज के विभिन्न पक्षों तथा
रचनाओं का प्रगति-परक विश्लेषण)

लेखक
मन्मथनाथ गुप्त

१९५२
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली ६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
क्वीन्स रोड, दिल्ली ६

चुनौती

प्रगतिवादी साहित्य के इर्द-गिर्द जिस वाद-विवाद का सूत्रपात हिन्दी में आज से कोई बीस वर्ष पहले हुआ था। उसके सम्बन्ध में राग-द्वेष-वर्जित होकर (पर निष्पक्ष होकर नहीं) जिस प्रकार से विचार होना चाहिए, वह अब तक नहीं हो सका। नहीं हो सका इसका कारण यह है कि लोग अपनी-अपनी डफली बजाने के लिए तो तैयार थे दूसरों की सुनने के लिए तैयार नहीं थे। ऐसी परिस्थिति में तत्त्व का निर्णय कैसे होता?

फिर इस बीच में जो राजनैतिक उथल-पुथलें हुईं (जो अब भी जारी है) उनसे साहित्य के वास्तविक लक्ष्य के सम्बन्ध में प्रगतिवादी दृष्टिकोण को अन्तिम रूप से बल मिलते रहने पर भी, कई बार ऐसी घटनाएँ हुईं जिनसे प्रगतिवाद की तरफ लोगों को उँगली उठाने का मौका मिल गया। परिणाम यह हुआ कि प्रगतिवाद के शत्रु तथा मित्र दोनों ऊपर-ऊपर की बातों में ही रह गए। गहराई तक जाने का विशेष मौका ही नहीं आया।

इस पुस्तक में संगृहीत लेखों में (जिनमें से कई नये हैं) मैंने प्रगतिवादी साहित्य के विभिन्न पहलुओं के साथ ही उसके मूल स्रोतों तक जाने की चेष्टा की है। एक तो मैंने इसमें साहित्य को उसके बृहत्तर अर्थ में लिया है जिससे उसमें रेडियो से बोला जाने वाला साहित्य तथा फिल्म पर अभिनय किया जाने वाला साहित्य आ जाय। दूसरा थोड़े में संस्कृति के मूल तत्वों पर प्रकाश डालने के लिए कथित भारतीय संस्कृति की जीवित शव-परीक्षा भी की है, तीसरा यह भी दिखलाया है कि सृष्टि-क्रम में मनुष्य का स्थान क्या है? क्योंकि सत्य की यह परिभाषा कुछ बुरी नहीं है कि—

सबार उपरे मानुष सत्य

ताहार उपरे नाई

यानी सबसे बढ़कर मनुष्य ही सत्य है उससे ऊपर कुछ नहीं है, बशर्ते कि मनुष्य अपने को ठीक-ठीक समझे।

पर प्रगतिवाद की विशेषता यह है कि मनुष्य को अपना कच्चा माल मानने पर भी वह भावुकतामय मानवतावाद में बहकर वर्ग-संघर्ष के प्रति अन्धा नहीं है, केवल इतना ही नहीं वह इस संघर्ष में क्रान्तिकारीवर्ग की ओर से हाथ बढ़ाता है।

इच्छा यह थी कि मेरे सारे वक्तव्य के स्पष्टीकरण के लिए यूरोपीय साहित्य के महान् लेखकों के सम्बन्ध में अलग-अलग लेख इस संग्रह में डाल दूँ, कुछ लेख भी तैयार थे, पर यों ही पुस्तक का कलेवर अधिक बढ़ गया देखकर इतने से ही सन्तोष करना पड़ा। लेख अलग-अलग लिखे जाने के कारण कहीं-कहीं पुनरावृत्ति दोष आ गया है, जिससे मैं अपरिचित नहीं हूँ।

मन्मथनाथ गुप्त

विषय-सूची

प्रगतिवाद की रूपरेखा

१

साहित्य में प्रगतिशीलता

कुछ लोगों के निकट प्रगतिशील साहित्य एक हौवा हो चुका है। इसका नाम लेते ही वे ऐसा मुंह बिचका देते हैं मानो यह कोई गर्हित विषय है, जिसका साहित्यिकों के सभ्य समाज में उल्लेख नहीं होना चाहिए था। यह परिस्थिति काफी मजेदार है, क्योंकि हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ लेखक श्री प्रेमचन्द केवल प्रगतिशीलों की व्याख्या के अनुसार ही प्रगतिशील नहीं थे, बल्कि वह स्वयं भी अपने को प्रगतिशील कहने लगे थे। १९३६ में अखिल भारतीय प्रगतिशील-संघ का जो प्रथम अधिवेशन हुआ था, वह उसके सभापति थे। उन्होंने इस पद से गर्जना की थी :

"हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं..."

यह तो प्रेमचन्द द्वारा प्रगति की परिभाषा हुई। हम इस पर बाद को आयेंगे कि प्रगतिशीलता क्या है और क्या नहीं, पर यहाँ पर प्रारम्भिक रूप से इस बात को समझ लेना जरूरी है कि प्रगतिशील होना या प्रगतिशीलता का तकाज़ा करना उतना बड़ा पाप नहीं है जैसा कि कुछ साहित्यकारों ने प्रचार कर रखा है।

प्रगतिशीलता के विरुद्ध जो वातावरण उत्पन्न हुआ है, उसके कारण को भी ढूँढ़ना पड़ेगा, क्योंकि ऐसा किये बिना हम प्रगतिशीलता को उसके उचित उच्चासन पर प्रतिष्ठित करने में समर्थ न होंगे। प्रगतिशीलता पार्टीबन्दी से परे की चीज है; पर भारतवर्ष में कई ऐतिहासिक कारणों से इसको एक अंश तक कम्युनिस्ट पार्टी के साथ एक करके देखा गया था। यही इसके लिए काल साबित हुआ, क्योंकि यह दल कई वर्षों तक जनप्रियता से दूर था।

एक पार्टी के नाते कम्युनिस्ट पार्टी के लिए यह स्वाभाविक था कि वह

जिस भी क्षेत्र में जो भी आन्दोलन चले, उसको अपने दल के लिए काम में लगाने की चेष्टा करे। पर इसका अर्थ यह नहीं कि प्रगतिशील साहित्य का आन्दोलन कम्युनिस्ट पार्टी का आन्दोलन है। प्रेमचन्द किसी पार्टी के नहीं थे, पर वे इस समय तक हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रगतिशील लेखक बने हुए हैं। इस कारण प्रगतिशील साहित्य से इस आधार पर बिदकना कि वह कम्युनिस्ट साहित्य है बिलकुल ऊल-जलूल बात है, और ऐसा करके हम कम्युनिस्टों को बेकार वह महत्व देते हैं जो किसी भी तरह उनको प्राप्य नहीं है।

कम्युनिस्टों की बपौती नहीं है

यहाँ पर एक बात यह साफ कर दी जाए कि मैं इस लेख में किसी भी तरह भारतीय कम्युनिस्ट दल के विरुद्ध कोई फैसला नहीं दे रहा हूँ। कम्युनिस्ट दल एक राजनैतिक दल है। राजनैतिक सहीपन की कसौटी पर ही उसका ठीक मूल्य कूता जा सकता है और यह इस लेख का विषय नहीं है। मेरा कहना केवल इतना ही है कि प्रगतिशील साहित्य किसी पार्टी विशेष की बपौती नहीं है। 'हरि को भजे सो हरि का होई।' जो प्रगतिशील उद्देश्यों को साहित्य में अपनी ज्ञान में या अनजानमें बल पहुँचाता है, उसकी विरोधी प्रवृत्तियों को क्षति पहुँचाता है, वही प्रगतिशील साहित्यिक है.........चाहे वह कम्युनिस्ट हो, चाहे वह सोशलिस्ट हो, चाहे काँग्रेसी हो या कुछ भी न हो। प्रगतिशील दृष्टिकोण को बल पहुँचाने के लिए सबसे पहले इसी बात का स्पष्टीकरण जरूरी है।

प्रेमचन्द ने उसी भाषण में कहा था : "......हम इसका दोष उस समय के साहित्यिकारों पर ही नहीं रख सकते। साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पन्दित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं। ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं। जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो, और उसका एक-एक शब्द नैराश्य में डूबा, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा और शृङ्गारिक भावों का प्रतिबिम्ब बना हो, तो समझ लीजिए कि जाति जड़ता और ह्रास के पंजे में फँस चुकी है और उसमें उद्योग तथा संघर्ष का बल बाकी नहीं रहा। उसने ऊँचे लक्ष्यों की ओर से आँखें बन्द कर ली हैं और उसमें से दुनिया को देखने-समझने की शक्ति लुप्त हो गई है।

"परन्तु हमारी साहित्यिक रुचि बड़ी तेजी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मन बहलाने की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका कुछ और भी उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं

सुनाता, किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूंढता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है, किन्तु उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है जिससे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की वह तीव्रता है जिससे वह हमारे भावों और विचारों में गति पैदा करता है।"

इस लेख के उद्देश्य के लिए इस पहलू का इतना ही स्पष्टीकरण यथेष्ट है; पर जब भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की बात छिड़ गई, तो एक बात और साफ कर दी जाय। द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर जब समाजवादी रूस पर हिटलर ने आक्रमण कर दिया, तो यहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी ने छः महीने बाद जन-युद्ध का नारा दिया। इस नारे के अनुसार कुछ कहानियाँ, कविताएँ आदि हिन्दी, बंगला में लिखी गईं। कहा जाता है कि यह साहित्य कम्युनिस्ट पार्टी का साहित्य था; पर इसे साहित्य में स्थान नहीं मिला। दलगत साहित्य और साहित्य हर समय एक ही होंगे ऐसी कोई बात नहीं।

उन दिनों भारतीय जनता जिसमें काँग्रेसी, क्रांतिकारी, सोशलिस्ट...... सभी शामिल थे, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ जीवन-मरण के संग्राम में लिप्त थी। पर कम्युनिस्टों तथा रायिस्टों के द्वारा उत्पादित इस साहित्य में भिन्न ही नारे दिये गए। ऐसी कहानियों, कविताओं को सही रूप से साहित्य में स्थान नहीं मिला। सच तो यह है कि वह सारा साहित्य कूड़ेखाने में पहुँच चुका है। श्री भैरवप्रसाद गुप्त के 'मशाल' नामक उपन्यास से, जिसकी साम्यवादियों ने प्रशंसा की है पता लगता है कि आज़ाद हिन्द फौज के एक भूतपूर्व सैनिक को नायक बनाकर साम्यवादी उपन्यास लिखे जा सकते हैं। स्मरण होगा कि 'पीपुल्स एज' की एक संख्या में आज़ाद हिन्द फौज के प्राण सुभाष बाबू को टोजो का कुत्ता करके दिखाया गया था। भारतीय साम्य-वादियों में कठमुल्लेपन का अन्त नवयुग का सूचक है।

मैंने ऊपर का ऐतिहासिक उदाहरण इस बात को प्रमाणित करने के लिए पेश किया कि प्रगतिशील साहित्य कोई बन्दर नहीं है कि कोई दल अपनी थीसिस बदलने के साथ ही उसको जैसा चाहे वैसा नचाए। यहाँ पर हम इसको भी ध्यान में रख लें कि इसी नाच नचाने की जिद के कारण ही बहुत से बड़े प्रगतिशील साहित्यिक, जैसे ताराशंकर, सुमित्रानन्दन, जोश आदि कम्यु-निस्टों से या तो हट गए या मुंह से उनके साथ एक हद तक बने होने पर भी उनका साहित्य यहीं से उनसे मुक्त हो गया। कई क्षेत्रों में तो इन साहित्यिकों

पर इसकी प्रतिक्रिया इतनी खराब हुई कि वे रहस्यवाद, अश्लीलता, हालावाद आदि के चक्कर में फँस गए । इस ऐतिहासिक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रगतिशीलता को किसी दल के पहिए के साथ बाँधकर चलाने की चेष्टा एक व्यर्थ तथा हास्यास्पद प्रयास है, खासकर ऐसे समय में जबकि दल क्रान्तिकारी जनता की विद्रोही भावनाओं के विरुद्ध चल रहा हो । साहित्य जनता से, इस कारण जनता के दल से स्वतन्त्र नहीं हो सकता, क्योंकि तब तो वह कल्पना-विलासी हो जायगा, पर उसका स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित होते ही वह अपने नियमों से गतिशील होकर चलेगा । साहित्य और क्रान्तिकारी का आदर्श सम्बन्ध वह था जो गोर्की और लेनिन के बीच था । क्या इन दोनों में कोई किसी के अधीन था ? बिलकुल नहीं, फिर भी उनमें एक संयोग तथा सम्बन्ध था । वह संयोग तथा सम्बन्ध जनगण के साथ एकात्मता पर अवलम्बित था । दोनों जनगण के अनन्य प्रेमी थे, फिर वे मिलते नहीं तो जाते कहाँ ?

कथित प्रगतिशील लेखक-संघ के १९४३ के अधिवेशन के घोषणा-पत्र को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उसमें बड़े विस्तार के साथ फासीवाद के विरुद्ध युद्ध-घोषणा है, पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद को क्रूर और नालायक कहकर ही साफ निकाल दिया गया है । जब नेतृत्व-हीन भारतीय जनता अपने जीवन-मरण के संग्राम में लिप्त थी, और लाखों व्यक्ति जेलों में सड़ रहे थे, उस समय इस प्रकार के साहित्य की सृष्टि करना, जिसमें जापान तथा जर्मनी के विरुद्ध संग्राम करना ही शौर्य माना गया था, प्रगतिशीलता के साथ बलात्कार था । इसी कारण इस युग में कम्युनिस्टों ने जो साहित्य उत्पन्न किया उसे कूड़ेखाने में ही स्थान मिला । यह उचित ही था । आज उसका कहीं पता नहीं है । हिन्दी के कई अच्छे लेखक जो उन दिनों इस बहाव में बह गए थे, बाद को सँभल गए, यहाँ तक कि उन लोगों ने उस युग की अपनी रचनाओं को दबा दिया ।

प्रगति क्या है, अब मैं इस विषय पर आता हूँ, क्योंकि जब तक यह बात स्पष्ट नहीं होगी, तब तक प्रगतिशील साहित्य की पहचान सम्भव नहीं है । प्रगति माने आगे की तरफ गति । जो लोग विकासवाद के सिद्धान्त को चाहे उसके हेगेलीय रूप में, डार्विनीय जीव वैज्ञानिक रूप में अथवा मार्क्सवादी समाज-शास्त्रीय रूप में मानते हैं, उनको प्रगति क्या है·········यह समझना कठिन न होगा । पर ऐसे भी लोग हैं, जो प्रगति के तत्त्व को नहीं मानते ।

फासीवादी दार्शनिक समाज की गतिशीलता को आवश्यक नहीं समझते । उनको यह डर है कि कहीं गतिशीलता या अग्रगति के सिद्धान्त को मान लें,

तो फिर यह मानना ही पड़ेगा कि पूँजीवाद खत्म होगा। जैसे इसके पहले आदिम समाज, फिर गुलाममूलक समाज, फिर सामंतवाद और फिर पूँजीवाद आया, उसी प्रकार पूँजीवाद भी एक दिन विनष्ट होगा। इस महाप्रलय से बचने के लिए भाड़े के टट्टू दार्शनिकों ने कहा कि समाज पर अग्रगति का सिद्धान्त लागू ही नहीं है, कम-से-कम अब वह सिद्धान्त लागू नहीं रहा। उन्होंने कहा स्थितिशील होकर भी पूँजीवाद रह सकता है।

वाल्टर आयकन ने कहा कि पूँजीवाद बिलकुल स्थितिशील हो जाय, उसे लकवा मार दे, उद्योग-धंधों पर नौकरशाही का नियन्त्रण हो, सब आविष्कार तथा उन्नति करीब-करीब रुक जाय, फिर भी पूँजीवाद जी सकता है, उन्होंने लिखा है कि "मार्क्स के समय से एक धारणा की उत्पत्ति हुई हैं कि विस्तारोन्मुख गतिशीलता ही पूँजीवाद का प्राण है। इस गतिशीलता का अन्त हुआ कि पूँजीवाद का अन्त हुआ। बात यह है कि मार्क्स १९ वीं सदी के मध्य भाग में थे, जिस समय पूँजोवाद की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति हो रही थी। इसी से इस प्रवाद की उत्पत्ति हुई। इसके बाद के लोगों के लिए मार्क्स के इस सिद्धान्त की भूल को समझना कठिन न होगा।"

फासीवादियों के मुख्य दार्शनिक नीत्से ने साफ-साफ कहा है कि शोषक और शोषित, भेड़िया और बकरी, दोनों ही हमेशा रहेंगे······ यही प्रकृति का नियम है। उनके निकट किसी ऐसे समाज की कल्पना करना, जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण नहीं रहेगा, हास्यास्पद था। उन्होंने ही अतिमानव सुपरमैन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। हिटलर और मुसोलिनी में संसार ने उसका रूप देख लिया है।

मैं प्रगति की बात कर रहा था। स्पेंगलर ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'पाश्चात्य का ह्रास' में कहा था कि पाश्चात्य अब आगे नहीं जा रहा है न जा सकता है। सच तो यह है कि पूँजीवाद का पतन हो रहा था, और हर दस साल, यहाँ तक कि उससे भी पहले आने वाली मन्दी से यही निष्कर्ष निकलता था। इसी को उन्होंने पाश्चात्य का ह्रास बताया। जो कुछ भी हो फासीवादी लेखकों ने स्पेंगलर के इस उपसंहार को मरोड़कर कहा कि उन्नति या प्रगति नहीं हो रही है, तो न हो। इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं। उन्होंने कहा कि हमारे फ्यूहरर······नेता······बरकरार रहें, हम यों ही जी सकते हैं।

फासीवाद कुछ भी कहें, प्रगति एक सामाजिक सिद्धान्त है, और वह हर समय क्रियाशील है, था और रहेगा। मैंने प्रगति को सामाजिक सिद्धान्त कहा, इसका अर्थ यह नहीं कि वह और क्षेत्रों में लागू नहीं होता। मैंने इसलिए उसे

एक सीमित रूप में कहा है कि हमारे वर्तमान विषय प्रगतिशील साहित्य से इसी का सीधा सम्बन्ध है।

यह स्पष्ट है कि समाज में निरन्तर विकास हो रहा है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि समाज का मानवीय उपादान यदि कुछ भी प्रयास न करे, तो भी प्रगति होगी। प्रगति में प्रयास तो अंतर्निहित है। यदि किसी कारण से प्रयास न होगा तो वह समाज प्रगति नहीं करेगा। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके पहिए अड़े रहेंगे, और समाज स्थितिशील होकर रहेगा। वह समाज विनष्ट हो जायगा। इतिहास में ऐसे कई समाज विनष्ट हो गए, दूसरों ने उन पर अधिकार कर लिया, उनको अपने में जज्ब कर लिया।

इस कारण प्रगति का एक अनिवार्य उपादान प्रयास है। प्रयास में विचार-धारा एक बहुत बड़ी चीज है, और साहित्य, कला आदि विचार-धारा में ही आ जाते हैं। विचार-धारा क्रान्ति अथवा प्रतिक्रिया का एक प्रधान साधन हो सकती है, इसलिए साहित्य प्रगति अथवा प्रतिक्रिया का अस्त्र हो सकता है। स्वाभाविक रूप से वह साहित्य, जो समाज को आगे की ओर से जाने में मदद देता है, प्रगतिशील है। जो साहित्य समाज को पीछे ढकेलता है, वह प्रतिक्रियावादी है।

क्या अश्लीलता प्रगति है ?

जो लोग साहित्य-सम्बन्धी प्रगतिशील दृष्टिकोण को नहीं मानते, वे यह तो मानते ही हैं कि साहित्य में कुछ विषयों का प्रोत्साहन नहीं होना चाहिए, जैसे अप्राकृतिक व्यभिचार। उग्र जी ने इस विषय को लेकर अन्य सभी दृष्टि से अच्छी कुछ कहानियाँ लिखीं, पर वे साहित्य में अपांक्तेय ही समझी गईं। फोटोवत वास्तविकता के दृष्टिकोण से शायद ऐसी कहानियाँ वास्तविकता को प्रतिफलित करती हैं, पर ऐसी कहानियों को लिखना दोष-जनक इस कारण था कि एक गर्हित अपराध को रोमांटिकता से मंडित करके दिखाया गया था। यह समाज-विरोधी कार्य था।

इसी प्रकार सभी इस बात से सहमत होंगे कि अश्लीलता साहित्य का उपजीव्य नहीं हो सकता। इस प्रकार कुछ 'ना' तो हो ही गए, और जहाँ एक 'ना' को मान लिया यानी एक भी क्षेत्र में यह मान लिया गया कि बस यहाँ तक, आगे न बढ़ना, तब प्रश्न केवल परिमाण या मात्रा का रह जाता है कि कहाँ तक साहित्य का दायरा है, कहाँ तक नहीं।

इस प्रकार सभी लोग परोक्ष रूप से यह मानते हैं कि साहित्य को केवल

लेखक के स्वांत: सुख पर नहीं छोड़ दिया जा सकता। उग्र जी का स्वांत: सुख चर्राया था कि वे एक गर्हित विषय को रोमांटिक रूप दें, इस कारण उन पर समाज के डंडे को गिराना पड़ा। बनारसीदासजी इस डंडे की मूठ बने यह ठीक ही था। क्या कोई कहेगा कि कला कला के लिए है, अतएव वैसी कहानियों को प्रोत्साहन दिया जाना उचित था? मैं तो नहीं समझता।

साहित्य के सम्बन्ध में यह कल्पना कि वह एक मदमत्त हाथी है, चाहे जिधर झूम जाय, बहुत ही थोथी बात है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो सभी देशों में साहित्य अपने आदिम काल से कुछ दूसरा ही उद्देश्य सिद्ध करता रहा है। सभी सभ्यताओं में आदिम साहित्य धार्मिक ढंग के थे, और उनका उद्देश्य था एक आदर्श के नाम पर समाज जैसा है, उसे उसी रूप में कायम रखना। संगठित धर्मों के उदय के पहले जो कबीले का काव्य था, उसमें भी कबीले को कायम रखने की बात ही होती थी। प्रेम भी कबीले के ढंग से होता था।

सब-का-सब कबीला साहित्य तथा धार्मिक साहित्य प्रचार साहित्य है। रामायण, महाभारत, बाइबिल, कुरान भी इसके उदाहरण हैं। इन पुस्तकों में एक विशेष समाज-पद्धति का गुण गाया है, जिनके द्वारा कथित आर्य, क्रिश्चियन तथा मोमिन जीवनादर्श का स्पष्टीकरण किया गया है, जो उनके प्रतिपादकों के अनुसार सबसे उच्च आदर्श थे।

यहाँ तक तो सब ठीक है, पर जब हमारे सामने 'मृच्छकटिक', 'शकुन्तला', 'मेघदूत', 'हैमलेट', 'रोमियो जूलियट', 'डीकैमरान' आदि पुस्तकें आती हैं, यानी ऐसे साहित्य का उदय होता है जिसे धार्मिक साहित्य नहीं कहा जा सकता, तब हमसे पूछा जाता है कि यह साहित्य क्या है? इसे स्वीकार करना पड़ेगा कि ऐसे साहित्य की व्याख्या अपेक्षाकृत कठिन है। पर ध्यान से देखने पर यह ज्ञात होगा कि इस प्रकार के साहित्य में भी वे ही नियम क्रियाशील थे, जिनका पहले उल्लेख किया गया है। 'मेघदूत' यद्यपि एक विरही की गाथा है, पर उसका विरह समाज के विशेष अनुकूल है। 'शकुन्तला' एक धार्मिक कहानी का ही रोमांटिक रूप है। शेक्सपियर के नाटकों में बहुत से उपादान हैं, कुछ क्रान्तिकारी उपादान हैं, कुछ अपरिवर्तनवादी उपादान हैं, इनका स्पष्टीकरण एक ब्योरेवार आलोचना मे ही हो सकता है। किसी भी लेखक को लीजिए, वह कितनी भी उड़ान भरे, पर उसका एक आधार होता है। यह आधार जिन विचारों से बना है, उनके साथ एक विशेष सामाजिक व्यवस्था की परिकल्पना मिली हुई है।

तो क्या 'मेघदूत' में भी मनोरंजन के अलावा और कोई बात है? मैं

वह नहीं कहता। पर यह मनोरंजन क्या बला है, इसका भी तो विश्लेषण किया जाय। क्या मनोरंजन के साथ एक व्यक्ति के अन्य सारे विचारों का कोई संबंध नहीं है ? यदि हजरत मुहम्मद के शत्रु कुरेशियों को वीर बनाकर और मुहम्मद को खलनायक बनाकर कोई काव्य लिखा जाय, और कितना भी अच्छा लिखा जाय, तो क्या उससे एक भक्त मुसलमान का मनोरंजन हो सकता है ? यदि गोडसे को महावीर राम तथा गांधीजी को रावण के रूप में चित्रित किया जाय, तो उससे कुछ अत्यंत गुमराह लोगों के अलावा किसी का मनोरंजन नहीं होगा। अतएव मनोरंजन कहिए, अनुभव का विनिमय कहिए या रस की सृष्टि कहिए, इसके साथ हमारे संस्कारों तथा विचारधाराओं का गहरा संबंध है। परकीया प्रेम उच्च वर्ग के साहित्य का एक प्रधान उपजीव्य इस कारण रहा है कि इंद्र से लेकर सब शोषक वर्गों के सदस्यों का परकीया-नुशीलन एक प्रधान कार्य रहा है।

अतएव साहित्य की सामाजिक व्याख्या कोई कपोल कल्पना नहीं है। अवश्य इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि जिस रचना में प्रगति का जितना उत्तम प्रचार होगा वह उतना ही साहित्य होगा। नहीं, इसके लिए जरूरी यह है कि कोई रचना साहित्य होने के साथ ही प्रगतिशील हो, तभी वह उत्तम कही जा सकेगी। जो लोग 'कला कला के लिए'······इस प्रकार के नारे देते हैं, उनको यह स्मरण रखना चाहिए। केवल सोवियत रूस के कलाकार ही नहीं, आधुनिक युग के सबसे ऊँचे साहित्यिक जैसे, इब्सन, शॉ, गैल्सवर्दी, अनातोल फ्रांस, रोम्यां रोलां, टाल्स्टाय, चेकाफ, अप्टन सिक्लेयर, सिक्लेयर लुइस, रवींद्रनाथ, शरत्, प्रेमचंद······अधिकांश रूप में प्रगतिशील विचारों को लेकर चले, और उनके साहित्य में किसी-न-किसी विचार का प्रचार किया गया है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि माना, पर मोपासां कौन से विचार लेकर चले ? क्या वे साहित्यकार नहीं थे ?

इसका उत्तर यह है कि वह साहित्यकार अवश्य थे, पर उनका अधिकांश साहित्य पलायनवादी किस्म का है। जब फ्रांसीसियों के सामने बड़ी-बड़ी समस्याएं थीं, तब केवल अपनी प्रतिभा का व्यय व्यभिचार लीला के वर्णन में करना उचित नहीं था। पर यह भी समझना गलत होगा कि ये अर्द्ध अश्लील कहानियां सामाजिक व्याख्या से बरी हैं। जिस प्रकार न्यूटन के पहले भी मध्याकर्षण का नियम (ला ऑफ ग्रेवीटेसन) क्रियाशील था, और ऐसे लोगों तथा चीजों पर भी क्रियाशील है, जो उस नियम से सर्वथा अपरिचित हैं, उसी प्रकार साहित्य की सामाजिक व्याख्या का नियम भी मोपासां पर घटता है।

मोपासां ने आँख खोलकर उच्च वर्ग के पुरुषों और स्त्रियों को जिस प्रकार देखा, उस प्रकार चित्रित किया। मोपासां की कहानियों में हम इस सड़े-गले वर्ग की मरण-दुन्दुभि सुन सकते हैं। मोपासां ने संभव है अश्लीलता के लिए लिखा हो, पर उनकी उत्पत्ति का कारण तो मौजूद है ही। 'डीमकामैरन', 'लंदन रहस्य', 'अलिफलैला' का अश्लील भाग इसी प्रकार का साहित्य है।

यहां पर मोपासां के प्रति न्याय करने के लिए यह बता दिया जाय कि उन्होंने १८७१-७२ के फ्रेंको प्रयसिन युद्ध पर कुछ कहानियाँ लिखीं, जो प्रगतिशील कहानियों के सबसे उत्कृष्ट उदाहरणों में गिनी जा सकती हैं।

कनस्तर पीटना संगीत नहीं

कोई भी रचना केवल इस कारण प्रगतिशील साहित्य में शुमार नहीं की जा सकती कि उसमें जैसे-तैसे क्रांति की विजय दिखलाई गई है। जो भी रचना किसी दल का साहित्य है, खुद-ब-खुद प्रगतिशील साहित्य हो ही गया, यह नहीं कहा जा सकता। एक तो यह आवश्यक है कि दल प्रगतिशील हो, पर यदि दल प्रगतिशील हो तो भी इतने से ही उसका सारा प्रकाशन साहित्य नहीं हो जाता। दल का प्रचार साहित्य तो बहुत हो सकता है, पर सही माने में वह प्रगतिशील साहित्य ही होगा ऐसी कोई बात नहीं, क्योंकि शायद वह साहित्य ही न हो।

साहित्य उसी प्रकार से एक अलग विषय है, जैसे संगीत। कोई यदि क्रांति के जोश में आकर कनस्तर पीट दे और साथ-साथ जोर से चिल्लाए, तो उसके चिल्लाने को महज इसलिए कि वह क्रांतिकारी जोश से उद्भूत हुआ हैं, संगीत नहीं कहा जा सकता। अक्सर प्रगतिशीलता के व्याख्याकार इस सहज सत्य को भुला देते हैं।

प्रगतिशील साहित्य की यह व्याख्या कि जो साहित्य प्रगतिशील नहीं है, वह साहित्य ही नहीं हो सकता, उस प्रकार का कथन है कि जैसे कोई कहे कि जो सज्जन नहीं, वह आदमी ही नहीं। जैसे सज्जन के अलावा दुर्जन भी हो सकते हैं, उसी प्रकार प्रगतिशील साहित्य के अलावा प्रतिक्रियावादी साहित्य, पलायनवादी साहित्य आदि कई तरह के साहित्य हो सकते हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है, सबसे पहले किसी रचना का साहित्य होना आवश्यक है, तभी वह प्रगतिशील साहित्य हो सकती है······इस बात को प्रगतिशील लेखक स्मरण रखें, तो बहुत भला हो। प्रगतिशील साहित्य के कई झूठे दावेदार ही अक्सर प्रगतिशील साहित्य के उपहास के कारणीभूत होते

हैं। यद्यपि प्रगतिशीलता प्रगति की उत्तरोत्तर व्यापक परिभाषा को अपनाती है, पर प्रगतिशीलता किसी भी हालत में सत् और असत्......सब रोक-थामों से मुक्ति नहीं दिला देती। जो नए समाज का द्योतक है, उसको लाने में सहायक होता है, वह सत् है; जो नए समाज को रोकता है, उसके आगमन के मार्ग में रोड़े अटकाता है, वही असत् है।

यह भी हो सकता है कि एक विचार एक समय में क्रांतिकारी हो, बाद में वही प्रतिक्रिया का रूप ग्रहण कर ले। जब तक एक देश पराधीन होता है, तो वहाँ राष्ट्रीयता प्रगतिमूलक होती है। इसलिए राष्ट्रीयतामूलक सारा साहित्य जिसमें विदेशी साम्राज्यवाद के साथ संग्राम अंतर्निहित है, प्रगतिमूलक होता है। पर जब एक स्वतन्त्र देश में राष्ट्रीयता के तथा राष्ट्रीय उद्योगधंधों की वृद्धि के नाम पर मेहनतकश वर्ग को दबाया जाता है, तो राष्ट्रीयता प्रतिक्रियावादी हो जाती है, और उसकी दुहाई देने वाला सारा साहित्य प्रतिक्रियावादी हो जाता है। इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

आशावाद का प्रचारक

हमारे नए स्वतन्त्र देश में इस बात की आवश्यकता है कि साहित्य लोगों म आशा उत्पन्न कर के नए संग्रामों के लिए हमको तैयार करे। और किसी देश में कुछ भी हो, हमारे यहाँ साहित्य को साहित्य रहते हुए मुस्तैदी के साथ समाज-रचना में भाग लेना पड़ेगा। प्रगतिशील मतवाद का केवल इतना ही कहना है। हम अश्लीलता, पलायनवाद, रहस्यवाद, छायावाद में पड़कर अपनी कर्म-शक्ति को विघटित नहीं होने दे सकते।

२

गुड़िया का घर

आधुनिक नाट्य साहित्य, बल्कि नाट्य-लेखन-पद्धति के जनक इबसेन के नाम से हिंदी के पाठक उतने परिचित नहीं हैं, जितना होना चाहिए। बर्नार्ड शा तथा गैल्सवर्दी-जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के स्वनामधन्य नाटककार भी इबसेनवादी समझे जाते हैं। इसी से इबसेन का महत्त्व स्पष्ट है। बर्नार्ड शा ने तो 'इबसेनवाद' पर एक पुस्तक भी लिखी है। इबसेन में सबसे पहले यह विशेषता प्रचंडता के साथ दृष्टिगोचर होती है कि वे हमारे समाज को उसके नग्नतम रूप में हमारे सामने पेश करते हैं। पहले तो आश्चर्य होता है, हम करीब-करीब फतवा देने को तैयार हो जाते हैं कि इबसेन जिस जगत को हमारे सामने उपस्थित करते हैं, उसका कहीं अस्तित्व नहीं है, किन्तु जब हम आँखें खोलकर अपने चारों ओर देखते हैं एवं अपने अन्दर दृष्टि दौड़ाते हैं तो हमें विवश होकर स्वीकार करना पड़ता है कि हाँ, हमारा समाज इतना ही ढोंगी, हमारे कानून इतने ही अंधेरे से भरे, हमारा दापम्त्य प्रेम इतना ही थोथा तथा हमारा शिष्टाचार इतना ही दिखावटी है। आत्मदर्शन कराने की इस सामर्थ्य में ही इबसेन की महत्ता है।

अब प्रश्न यह है कि इस आत्मदर्शन से अर्थात् अपने सच्चे स्वरूप को जान लेने से हमें लाभ है अथवा हानि? बहुत से लोग इसका उत्तर देते हैं कि इससे तो हानि है। वे कहते हैं कि जब हम जानते हैं कि एक बात सड़ी-गली है और रहेगी, यानी सड़न एक तरफ से निकाल दी जाय तो वह दूसरी किसी जगह पर जाकर कदाचित् इससे अधिक वेग से विकार पैदा करेगी; इस अवस्था में बार-बार उसे लोगों की आँखों के सामने उपस्थित करने से क्या लाभ होगा? वे चाहते हैं कि कवि तथा नाटककार इन बातों पर मिट्टी डालकर ऐसे दृश्य सामने उपस्थित करें, जिससे कि हमारे चित्त पर उदात्त गम्भीर प्रभाव पड़े, हम सौन्दर्य को अधिक निविड़ रूप से अनुभव कर सकें, हमारा प्रेम अधिकतर मधुर हो जाय इत्यादि।

ऐसे लोगों के विषय में हम यही कह सकते हैं कि ये निराशावादी हैं तथा मनुष्य-चरित्र की सम्भावनाओं से परिचित नहीं हैं; तभी वे ऐसी बातें करते हैं। उनका कथन कदाचित् यह है कि It is foolish to be wise where ignorance is bliss अर्थात् जहाँ पर अज्ञान श्रेयस्कर है वहाँ ज्ञानवान् होना मूर्खता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने इस प्रकार की धारणाओं का भंडाफोड़ कर दिया है, मनोविकलन की प्रक्रिया के द्वारा वे बल्कि किसी अनियमितता के निगूढ़तम कारण तक ही पहुँचने को उद्यत रहते हैं, और समझते हैं कि इसको जान लेने के बाद ही उस अनियमितता का इलाज सम्भव है। अस्तु।

प्रस्तुत लेख में हम इबसेन के एक नाटक की आलोचना करेंगे, तथा जो प्रश्न हमने उठाये हैं, आलोचना के दौरान पर उन पर प्रकाश डालते जायँगे। हमने आलोचना के लिए इबसेन का 'गुड़िया का घर' नामक नाटक चुना है। एक तो यह नाटक बहुत छोटा है, दूसरा यह कि समाज के बहुत से पहलुओं पर इससे रोशनी पड़ती है, इसलिए विशेषकर हमने इसको चुना है।

पहले हम इस नाटक के कथा-भाग के विषय में पाठकों को एक धारणा देने की चेष्टा करेंगे, फिर उस पर आलोचना करेंगे। टर्वाल्ड हेलमर एक युवक है, जिसकी आर्थिक दशा पहले बहुत खराब थी, किन्तु कथानक के आरम्भ होते समय वह एक बैंक का मैनेजर नियुक्त हुआ है, जिससे वह तथा उसकी सुन्दरी स्त्री नोरा आशा करती है कि अब बुरे दिनों का अन्त हो गया। हेलमर और नोरा में बड़ा प्रेम है। हेलमर एक कर्तव्यशील युवक है, अर्थात् वह अपने कोट को अपने कपड़े के मुताबिक काटने में विश्वास करता है, परिश्रमी तथा बुद्धिमान है, स्त्री को हमेशा गिलहरी या बुलबुल कहकर पुकारता है, किसी दूसरी स्त्री से वास्ता नहीं रखता। पहले ही दृश्य में हेलमर कहता हुआ नजर आता है "······नोरा, नोरा? तुम कैसी अजीब स्त्री हो? तुम जानती हो, इन मामलों में मेरे सिद्धान्त क्या हैं। किसी प्रकार का कोई ऋण नहीं। घर की जिन्दगी याने गृहस्थी तभी से अस्वच्छन्द तथा कुत्सित हो जाती है, जब से उसकी नींव उधार लेने पर अवलम्बित होती है। हम दोनों ने अब तक बहादुरी से मोरचा लिया है, अब हम अन्तिम मुहूर्त में आकर हिम्मत न हार देंगे।

नोरा बड़े दिन के अवसर पर कुछ खर्च करना चाहती है, इसी पर हेलमर के ये उद्गार हैं।

विवाह के पहले वर्ष में यानी इस समय से कोई आठ वर्ष पहले हेलमर

बहुत बीमार पड़ा था; क्योंकि उन दिनों उस पर बहुत परिश्रम पड़ा था। उससे इतना परिश्रम सहन नहीं हुआ, तथा वह खतरनाक तरीके से बीमार हो गया। तब डॉक्टरों ने कहा कि यदि वह आबहवा बदलने के लिए दक्षिण-यात्रा* कर सके तभी खैर है। बेचारे हेलमर के पास इतना धन कहाँ था ? इसके अतिरिक्त हेलमर को यह बात गुप्त भी नहीं रखनी थी कि वह इतना सख्त बीमार है। अब नोरा बिचारी क्या करती, प्रियतम पति की जान कोई एक हजार डालर के लिए जा रही थी। विकट समस्या है। पति की जान बरकरार रहे तो न जाने कितने डालर उसकी उँगलियों से निकल जायँगे।

श्रीमती लिंडेन नोरा की एक सहेली है। वह बड़ी बुरी अवस्था में फँसकर नौकरी की तलाश में आती है, और नोरा के यहाँ बातचीत करती है। वह अपने जीवन-संग्रामों का, याने अपने त्याग तथा परिश्रम का, बखान करती है, जिन पर कि उसको गर्व है। इस पर निम्न लिखित रूप मे सखियों में बात-होती है :

"नोरा—तो तुमने अपने भाइयों के लिए जो कुछ किया है, उस पर तुम्हें गर्व है ?

श्रीमती लिंडेन—क्या मैंने उस गर्व के लिए अधिकार अर्जन नहीं किया ?

नोरा—अवश्य, बेशक। किन्तु जब बात चल पड़ी तो मैं भी कह देती हूं खीस्टिना, मुझे भी किसी बात पर गौरव तथा गर्व है।

श्रीमती लिंडेन—मैं इसमें सन्देह नहीं करती, किन्तु खोलकर कहो।

नोरा—धीरे बोलो। यदि टर्वाल्ड इसे सुन ले तो न जाने क्या हो किसी भी हालत में वह न सुन पावे, नहीं, खुदा के वास्ते नहीं। खिरीस्टिना खबरदार इस बात को तुम्हारे सिवा कोई न जाने। हाँ।

श्रीमती लिंडेन—आखिर बात भी तो कहो।

नोरा—आओ यहाँ आओ (सोफे पर अपने पास खींचकर बिठाती है) हाँ तो मैं भी किसी बात पर गौरव तथा गर्व कर सकती हूँ। मैंने टर्वाल्ड की जीवन-रक्षा की।

श्रीमती लिंडेन—जीवन-रक्षा की ? कैसे ?

नोरा—मैंने तुमसे हमारी इटली-यात्रा की बाबत कहा है। टर्वाल्ड आज दिन इस यात्रा के बगैर जिंदा न होता।

श्रीमती लिंडेन—हाँ, तुम्हारे पिता ने तुमको उसके लिए धन दिया।

नोरा—(मुस्कराकर) हाँ, टर्वाल्ड तथा सभी ऐसा समझते हैं। किन्तु

श्रीमती लिंडेन—किन्तु ?

नोरा—पिता ने एक कानी कौड़ी नहीं दी। मैंने धन प्राप्त किया।

श्रीमती लिंडेन—तुमने ? इतना धन ?

नोरा—बारह सौ डालर, अड़तालीस सौ क्राउन। हाँ अब क्या कहती हो ?

श्रीमती लिंडेन—प्यारी नोरा, तुमने इतने धन की कैसे व्यवस्था की ? क्या लाटरी में जीत गईं ?

नोरा—(घृणा के साथ) लाटरी में ? छि: कोई भी अहमक उसमें जीत सकता था।

श्रीमती लिंडेन—तो फिर कहाँ से मिला ?

नोरा—(गुनगुनाती है तथा रहस्यमय तरीके से हँसती है)······ ओ: तन-न-न-न-न

श्रीमती लिंडेन—तुम उधार तो ले नहीं सकती थीं।

नोरा—नहीं, क्यों नहीं ?

श्रीमती लिंडेन—वाह यह भी कोई बात है, एक स्त्री अपने पति की सम्मति के बिना उधार कब ले सकती है ?

नोरा—(सिर को उछालकर) जब स्त्री कुछ कारोबार समझती है, और जानती है क्या करना चाहिए तब·········"

सच बात तो यह है नोरा ने यह धन उधार लिया था। उसने अपने पिता का नाम उस हैंडनोट पर डाल दिया था, अवश्य इस अपराध के करने में उसका मतलब केवल यह था कि ऋण मिल जाय, बराबर वह किश्त भी अदा करती आ रही थी. और उसका इरादा था कि जल्दी-जल्दी ऋण को चुकता कर दे।

"श्रीमती लिंडेन—क्या तुम्हारे पति को कभी तुम्हारे पिता से नहीं मालूम हुआ कि धन उन्होंने नहीं दिया ?

नोरा—नहीं, इसका मौका ही कब मिला। पिताजी उसी जमाने में परलोक सिधार गए। मेरा इरादा था कि सब कुछ उन्हें बता देती, और उनसे कह देती कि दामाद से चुप्पी साधे रहें, किन्तु वे दुर्भाग्य से इतने बीमार पड़ गए। आवश्यकता पेश ही नहीं आई।

श्रीमती लिंडेन—और तुमने कभी अपने पति से यह बात स्वीकार नहीं की ?

नोरा—भला कैसे कर सकती थी, जब कि ऋण के नाम से ही उसको चिढ़ है। इसके अतिरिक्त टर्वाल्ड की पुरुषोचित आत्म-निर्भरता को इस बात से कितनी चोट पहुँचती कि वह किसी बात के लिए मेरे निकट ऋणी है। इससे हम लोगों का पारस्परिक सम्बन्ध ही बिलकुल बदल जाता, तथा हमारा यह सोने का संसार एकदम विध्वस्त हो जाता।

श्रीमती लिंडेन—तो क्या तुम कभी उन्हें यह बात न बताओगी ?

नोरा—(सोचकर मुस्कराती है) हाँ, शायद कभी बहुत सालों के बाद, जबकि मैं इतनी सुन्दर न रहूँगी। हँसो मत, मेरा मतलब यह है कि तब, जब टर्वाल्ड मुझ पर इतना आसक्त नहीं रहेगा जितना कि अब है। अर्थात् जब कि उसे, मुझे नाचती हुई, फुदकती हुई, बनती हुई, अभिनय करती हुई देखकर इतनी खुशी नहीं होगी।"

ऋण की किश्तों को अदा करने में तथा सूद गिनने में नोरा का प्राणान्त हो जाता है। वह बहुत अच्छी पोशाक पहनना चाहती है, पति भी इसके लिए उसे यथासाध्य धन देता है, किन्तु वह सस्ती पोशाक पहनकर ऋण की किस्त अदा करने के लिए पैसा बचाती है। पैसे कमाने के लिए वह लुक-छिपकर नकल नवीसी का भी काम करती है। उसके जैसी तितली स्वभाव वाली सुन्दरी के लिए ये सब बातें बड़ी कष्टकर हैं। किन्तु वह सहर्ष इन बातों को झेलती है। अपनी सखी से वह कह रही है : "..........कभी-कभी नकल करते-करते मैं इतना थक जाती थी कि चूर-चूर हो जाती थी। फिर भी इस तरह काम करके धन उपार्जन करने में कितनी बहादुरी थी। मुझे कभी-कभी ऐसा भासित होता था कि मैं एक पुरुष हूँ। ओह !"

अब नाटक में क्रोगस्टाड नामक एक व्यक्ति आता है। बैंक का मैनेजर होते ही हेलमर कुछ कर्मचारियों को निकाल बाहर करता है। उसमें क्रोगस्टाड भी एक है। यह क्रोगस्टाड वही व्यक्ति है, जिससे नोरा ने ऋण लिया था। क्रोगस्टाड पहले तो हेलमर से कहा-सुनी करता है, किन्तु हेलमर एक बात का आदमी है, वह टस से मस नहीं होता। किन्तु क्रोगस्टाड के लिए यह नौकरी जीवन-मरण का प्रश्न है। तब वह नोरा के पास जाता है, और उस गुप्त रहस्य को प्रकट करने की धमकी देकर नोरा से कहता है कि वह हेलमर से उसकी सिफारिश करे।

"नोरा—श्रीयुत क्रोगस्टाड, मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि आपके विषय में मेरी सिफारिश चल नहीं सकती।

क्रोगस्टाड—आप करना नहीं चाहती, किन्तु स्मरण रहे, मैं आपको इसके लिए बाध्य कर सकता हूँ।

नोरा—आपका मतलब यह अवश्य नहीं है कि आप मेरा गुप्त रहस्य मेरे पति के निकट प्रकट कर देंगे।

क्रोगस्टाड—क्यों नहीं ? यदि करूँ तो ?

नोरा—आपके लिए शर्म की बात होगी (कुछ रुआसी होकर)। यह रहस्य, जो कि मेरे जीवन का गौरव तथा गर्व है, इस जघन्य तरीके से खुल जाय, और तुमसे। इससे एक मनमुटाव की सृष्टि होगी, जिसका शायद······

क्रोगस्टाड—केवल मनमुटाव ?

नोरा—(तैश में) किन्तु करके ही न देख लीजिए। आपके लिए तो और भी खराब होगा। मेरे पति जी जान जायँगे आप किस कदर खराब आदमी हैं, फिर तो आपकी नौकरी कभी रहेगी ही नहीं।

क्रोगस्टाड—क्या आप समझ रही हैं कि पारिवारिक अशान्ति में ही मामला खत्म हो जायगा ?

नोरा—यदि वह जान जायँ तो अवश्य ही आपको उसी वक्त खड़े-खड़े रुपये दे दिये जायंगे, किन्तु बस वहीं से आपसे सब नाता खतम।

क्रोगस्टाड—(एक कदम आगे बढ़कर) श्रीमती हेलमर, सुनिए, या तो आपकी स्मृति शक्ति बहुत दुर्बल है या कारोबार कुछ समझने का माद्दा आपमें है ही नहीं। मैं परिस्थिति को आपके सामने स्पष्ट किये देता हूँ।

नोरा—कैसे ? कैसे ? कीजिए।

क्रोगस्टाड—जब आपके पति महाशय बीमार थे तो आप मुझसे बाहर सौ डालर उधार लेने आईं।

नोरा—मैं किसी को जानती ही नहीं थी।

क्रोगस्टाड—मैंने आपको यह धन दिलवाने का वादा किया······

नोरा—और आपने दिलवाया।

क्रोगस्टाड—मैंने आपको यह धन कुछ शर्तों पर दिलवाने का वादा किया था। आप उस समय अपने पति की बीमारी के बारे में व्यस्त थीं तथा रुपया पाने की धुन में इस कदर व्यग्र हो रही थीं कि शायद इस मामले की तफसील भूल गई हैं। मैं उन्हें याद दिलाता हूँ। मैंने एक हैंडनोट के बदले आपको यह धन देना स्वीकार किया।

नोरा—मैंने उस पर हस्ताक्षर किया था।

क्रोगस्टाड—बिलकुल दुरुस्त। किन्तु तब मैंने उसमें कई एक पंक्तियाँ जोड़ दीं, जिसमें आपके पिताजी को इसके लिए जमानतदार बदा गया। आपके पिताजी उस पर दस्तखत करने वाले थे।

नोरा—करने वाले थे? उन्होंने किया।

क्रोगस्टाड—मैंने तारीख की जगह खाली छोड़ दी थी। यानी मेरा मतलब यह था कि आपके पिता उसमें तारीख भी डाल देते। क्या मैं कोई गलत तो नहीं कह रहा हूँ।

नोरा—हाँ, मेरा विश्वास है कि······

क्रोगस्टाड—फिर मैंने वह कागज आपको दे दिया कि आप उस पर दस्तखत करवा दें। क्यों है न यही बात?

नोरा—हाँ।

क्रोगस्टाड—माने लेता हूँ कि आपने कागजात उनके पास भेज दिए, पाँच-छः दिन के अन्दर आपने पिता के दस्तखत करवाकर कागज मुझे वापस दिया और मैंने धन दे दिया।

नोरा—तो? क्या मैं बराबर किस्त ठीक समय पर अदा नहीं करती रही हूँ।

क्रोगस्टाड—हाँ करीब-करीब, किन्तु जिस बात पर कह रहा था, हाँ तो श्रीमती हेलमर, आप उस समय बड़ी विपत्ति में थीं?

नोरा—अवश्य ही मैं विपत्ति में थी।

क्रोगस्टाड—आपके पिता उस समय शायद बहुत बीमार थे?

नोरा—बीमार क्या, वे उस समय मृत्यु शय्या पर थे।

क्रोगस्टाड—और जल्दी ही परलोक सिधार गए?

नोरा—हाँ।

क्रोगस्टाड—अच्छा श्रीमती जी, क्या आपको उनकी मृत्यु-तिथि याद है, यानी महीने का कौन सा दिन था?

नोरा—पिताजी २६ सितम्बर को परलोकवासी हुए।

क्रोगस्टाड—ठीक, मैंने भी खोज की है। यहीं पर आकर गड़बड़झाला होने लगता है (एक कागज निकालता है), जिसका सिर न पैर कुछ समझ में नहीं आता।

नोरा—गड़बड़झाला कैसा? मैं नहीं जानती······

क्रोगस्टाड—मामला जाकर इसी बात पर गड़बड़ होने लगता है कि

आपके पिता अपनी मृत्यु के तीन दिन बाद इस कागज पर दस्तखत करते हैं।

नोरा—क्या ? मेरी समझ में नहीं आता।

क्रोगस्टाड—आपके पिताजी का देहान्त होता है २९ सितम्बर को, किन्तु देखिए वे दस्तखत में २ अक्तूबर की तारीख डालते हैं, क्या यह आश्चर्य-जनक नहीं है ?

नोरा—नहीं, मैंने ही पिता का नाम लिखा था।

क्रोगस्टाड—क्या आप जानती हैं महाशया कि यह एक खतरनाक स्वीकृति है।

नोरा—क्यों ? आपको शीघ्र ही अपना मूलधन मिल जायगा।

इसके बाद फिर क्रोगस्टाड कहता है—श्रीमती हेलमर, आपको कदाचित् यह बिलकुल पता नहीं कि आपने क्या किया है, किन्तु मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि केवल इतने ही के लिए मैं समाज से बहिष्कृत किया गया।

नोरा—आप ? आप मुझे विश्वास दिलाना चाहते हैं कि आपने अपनी स्त्री का जीवन बचाने के लिए बड़ी बहादुरी की।

क्रोगस्टाड—महाशया, कानून उद्देश्य की परवाह नहीं करता।

नोरा—तो ऐसा कानून बड़ा खराब भी होगा।

क्रोगस्टाड—खराब हो या अच्छा, यदि मैं इस कागज को एक अदालत के सामने पेश करूँ तो आपको कानून के अनुसार सजा मिलेगी।

नोरा—मैं इसमें विश्वास नहीं करती। तो क्या इसका मतलब यह है कि लड़की को अपने मुमूर्षु पिता को फिक्र से बचाने का अधिकार नहीं है ? या एक पत्नी को अपने पति के जीवन को बचाने का कोई अधिकार नहीं है ? मैं कानून के विषय में अधिक नहीं जानती, किन्तु कहीं-न-कहीं आपको मिलेगा कि यह निषिद्ध नहीं है।

नोरा हेलमर से क्रोगस्टाड के विषय में अनुरोध करती है, किन्तु हेलमर कुछ नहीं सुनता। सिफारिश करते-करते नोरा कहती है—क्यों इस क्रोगस्टाड ने ऐसा कौन-सा बड़ा भारी अपराध किया कि विपत्ति में पड़ गया ?

हेमलर—कुछ नहीं, जालसाजी; जानती हो क्या बला है।

नोरा—क्या ऐसा नहीं हो सकता कि उसने बड़ी मुसीबत में ऐसा किया हो।

हेलमर—हाँ, और ऐसा भी हो सकता है कि हजारों की तरह नासमझी

में यह काम किया हो । मैं इतना निष्ठुर नहीं हूँ कि एक अपराध के लिए किसी आदमी को नीची निगाह से देखूँ ।

नोरा—नहीं, अवश्य नहीं, टर्वाल्ड ।

हेलमर—बहुत से आदमियों का पुनरुद्धार हो सकता है, यदि वे अपने अपराध को स्वीकार करें तथा उसकी सजा ग्रहण करें ।

नोरा—अपराध ?

हेलमर—किन्तु क्रोगस्टाड ने ऐसा नहीं किया । उसने चालाकियों से मक्कारी से काम लिया, इसी से उसका पतन हुआ ।

नोरा—क्या तुम ऐसा समझते हो ?

हेलमर—जरा सोचो, विवेक पर इतना बड़ा बोझ उठाते हुए एक आदमी क्या करेगा, वह हमेशा डींग मारेगा तथा ढोंग रचेगा । अपनी स्त्री तथा बच्चों के सामने भी वह एक चेहरा लगाये रहेगा नोरा, यह बच्चों के हक में सबसे खराब होता है ।

नोरा—क्यों ?

हेलमर—क्योंकि झूठों का ऐसा वातावरण घर के तमाम वायु-मण्डल को विषाक्त कर देता है । लड़के जो श्वास लेते हैं, उसमें बुराई के कीटाणु भरे रहते हैं ।

हेलमर के घर में एक डाक्टर रैंक आते जाते हैं, जो तपेदिक से पीड़ित हैं, तिल-तिल करके वे निश्चित मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहे हैं । रैंक का पिता असच्चरित्र था, उसकी सजा रैंक को मिल रही है । वे नोरा से कह रहे हैं—अनुपस्थित लोग बहुत जल्दी भुला दिये जाते हैं ।

नोरा—क्या आप ऐसा समझते हैं ?

रैंक—लोग नया बन्धन पैदा कर लेते हैं, और फिर······

नोरा—कौन नये बन्धन पैदा करते हैं ?

रैंक—जब मैं मर जाऊँगा तो तुम और हेलमर नये बन्धन पैदा कर लोगी । बल्कि तुम उस समय की अगवानी कर रही हो । कल वह श्रीमती लिंडेन यहाँ क्या कर रही थीं ?

नोरा—अच्छा तो आप ख्रिस्टीना से ईर्ष्या कर रहे हैं ?

रैंक—अवश्य, मेरे बाद वही इस घर में मेरी जाँ-नशीन होगी, जब मैं चला गया हूँ, तब शायद यही औरत······

नोरा मन में कल्पना करती है कि इस रैंक से रुपये लेकर उस दुष्ट के रुपये दे दिए जायँ । तदनुसार वह प्रस्ताव भी करती है—डॉक्टर रैंक आप

मुझे एक विपत्ति से बचा लें। आप जानते हैं कि टर्वाल्ड मुझे कितना प्यार करता है। वह मेरे लिए मिनटों में जान पर खेल सकता है—

रैंक—क्या एक केवल वही ऐसा है, जो······

नोरा—(जरा चौंककर) कौन ?

रैंक—ऐसा है जो तुम्हारे लिए प्राण अर्पित कर सकता है ?

नोरा—ओह ? अच्छा ?

रैंक—मैंने कसम खा ली है कि मेरी मृत्यु के पूर्व तुम इसे जानोगी। मुझे इससे अच्छा और क्या सुयोग मिलता ? हाँ, नोरा, अब तुम जानती हो, अब तुम यह भी जानती हो, कि तुम मुझमें किस सीमा तक विश्वास कर सकती हो।

नोरा—(शांत भाव से खड़ी होकर) मुझे जाने दीजिए।

रैंक—(बैठे ही बैठे रास्ता छोड़ देता है) नोरा···

नोरा—डाक्टर रैंक, यह आपकी बहुत खराब बात थी।

रैंक—(खड़ा होकर) क्या मेरी यह बात बहुत खराब थी कि मैं तुम्हें किसी तरह प्यार करता हूँ ? क्या यह मेरे लिए बहुत खराब थी ? बहुत ?

नोरा—नहीं, किन्तु आपने कहा यह खराब था, इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी······

रैंक—क्या कहती हो ? क्या तुम इसे जानती थीं ? (नौकर बत्ती दे जाता है।)

नोरा—यह मैं कैसे कह सकती हूँ कि मैं क्या जानती हूँ, क्या नहीं जानती हूँ।

रैंक—इसी से तो मैं रास्ता भूल गया, तुम मेरे लिए एक पहेली हो नोरा ! मुझे यह प्रतीत होता था कि तुम मेरा साथ उतना ही पसन्द करती हो, जितना कि हेलमर का।

नोरा—हाँ, क्या आप नहीं देखते ? कुछ आदमियों से प्रेम करना अच्छा लगता है और कुछ से बातें करना।

क्रोगस्टाड को अब चैन नहीं है, किन्तु हेलमर नहीं सुनता। नतीजा यह होता है कि क्रोगस्टाड एक चिट्ठी में सब बातें लिखकर हेलमर के नाम डालता है। नोरा चिट्ठी पढ़ने में देर करा देती है, किन्तु फिर भी चिट्ठी हेलमर के हाथ में पड़ती है।

चिट्ठी पढ़कर वही हेलमर, जो कि प्रेम की बड़ी कवित्वपूर्ण बात करता था, एकदम तेवर बदल देता है। वह नोरा से कहता है—क्या यह सच है, जो इस पत्र में लिखा है ? नहीं, नहीं यह सत्य नहीं हो सकता।

नोरा—यह सच है, मैंने तुम्हें सबसे बढ़कर प्यार किया है।

हेलमर—रहने दो, इन उड़नघइयों को रहने दो ।

नोरा—टर्वाल्ड ?

हेलमर—अभागिनी नारी, तुमने यह क्या किया ?—ओह कितना दुःखमय जागरण है। इस आठ साल में मैंने जिसे प्यार किया, वह एक ढोंगिन हैं, झूठी है और इससे भी खराब मुजरिम है। ओह कितनी घृणा की बात है, छिः छिः मुझे इसको पहले जान लेना चाहिए था। तुम्हारे पिता से सब बेईमानी, हाँ बेईमानी, चुप रहो, तुममें आई हैं, कोई धर्म नहीं, नीति नहीं, कर्तव्य-बुद्धि नहीं। मैंने वह तुम्हारी ही खातिर की और तुम्हीं ने मेरे साथ ऐसा किया। तुमने मेरा सब सुख मिट्टी में मिला दिया। तुमने मेरा भविष्य नष्ट कर दिया, मैं एक बदमाश के वश में हूँ, वह जैसा नाच नचावे मुझे वैसा ही नाचना पड़ेगा। और यह सब विपत्ति मेरे ऊपर एक सिद्धान्तहीन औरत के कारण आती है।

नोरा—यदि मैं मर जाऊँ तब तो तुम स्वाधीन हो जाओगे।

हेलमर—डींग मारना रहने दो। तुम्हारे पिता को भी यह हथकंडा खूब याद था। तुम यदि मर जाओ तो मुझे क्या फायदा होगा ? खाक भी नहीं। वह इस कहानी को प्रकाशित तो फिर भी कर सकता है। सम्भव है, लोग समझें, इसमें मेरी शरकत थी। हाय तुमने, जिसको कि मैंने हमेशा प्यार, स्नेह, आदर किया, मुझे कहीं का भी न रखा।

हेलमर जब इस तरह कड़े-से-कड़े शब्द कड़े-से-कड़े तरीके से कह रहा है तो नोरा के नाम से एक पत्र आता है! हेलमर उस पत्र को स्वयं खोलता है, और पत्र पढ़कर एकदम हर्ष से उछल उठता है। श्रीमती लिंडेन से क्रोगस्टाड का प्रेम था, किन्तु श्रीमती लिंडेन ने अपने परिवार को बचाने के लिए प्रेम न होते हुए भी एक रुपये वाले से शादी की थी। अब वह फिर क्रोगस्टाड के साथ जीवन में हिस्सेदारी करने के लिए तैयार है। उसी के प्रभाव में आकर क्रोगस्टाड नोरा के द्वारा जाल किया हुआ कागज लौटा देता है। यह पत्र वही था, इसमें उस कागज को देखकर ही हेलमर उछल पड़ता है।

हेलमर—नोरा मैं बच गया!

नोरा—और मैं ?

हेलमर—तुम भी, हम दोनों बच गए। नोरा मैंने अब तुम्हें क्षमा कर दिया, मैं जानता हूँ कि जो कुछ भी तुमने किया, वह मेरे प्रेम के लिए किया।

अब नोरा के बोलने की बारी है, वह कहती है—बैठो टर्वाल्ड, मुझे तुमसे

बहुत-कुछ कहना है। ठीक है, तुम मुझे समझ नहीं पा रहे हो, आज के पहले मैंने भी तुम्हें कभी नहीं समझ पाया था। बीच में मत बोलो। सुने जाओ। हम गत आठ वर्षों से विवाह सूत्र में आबद्ध हैं, किन्तु यह पहली ही दफा मैंने तुम्हें जाना, क्या यह बात अजीब नहीं है हम और तुम गम्भीर रूप से बात कर रहे हैं। पहले पिता ने फिर तुमने मुझ पर बड़ा अन्याय किया।

हेलमर—क्या ? तुम्हारे पिताजी ने तथा मैंने ?—उन लोगों ने जिन्होंने कि तुम्हें दुनिया में सबसे अधिक प्यार किया।

नोरा—तुमने मुझे कभी प्यार नहीं किया। ऐसा सोचने में तुम्हें आनन्द मिलता था, बस। जब मैं घर पर पिताजी के यहाँ थी तो वे मुझसे अपने मत कहा करते थे। मैं भी उन्हीं मतों का पोषण करती थी। यदि मेरे और मत थे तो मैं उन्हें छिपाती, उन्हें वे न भाते। वे मुझे अपनी गुड़िया बच्ची कहा करते थे। और मुझसे ऐसे खेलते थे जैसे कि मैं गुड़ियों से खेलती हूँ। फिर मैं तुम्हारे घर पर रहने आई—

हेलमर—हम लोगों की शादी के बारे में कैसा शब्द है ?

नोरा—(न बिचककर) मेरा मतलब यह है कि मैं पिता के हाथ से तुम्हारे हाथ आई। तुम सभी बातें अपनी रुचि के अनुसार नियत करते थे, मैं भी वैसी रुचि वाली हो गई थी या यों ही बनती रही। कौन-सा सही है मैं नहीं जानती। अब मैं जब इन बातों पर सोच रही हूँ तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है, जैसे मैं कोई भिखमंगिन थी। मैं तुम्हारे लिए तमाशे रचा करती थी। तुमने तथा पिताजी ने मुझ पर बड़ा अन्याय किया है। यह तुम्हारा ही दोष है कि मेरा जीवन नष्ट हो रहा है।

हेलमर—ये बातें क्यों ? क्या तुम यहाँ सुखी नहीं रहीं ?

नोरा—नहीं, केवल रंगरेलियों में मग्न रही, बस। हमारा घर एक खिलौनाघर रहा है। मैं तुम्हारी गुड़िया पत्नी थी, जिस भाँति कि मैं पिताजी की गुड़िया लड़की थी। और ये लड़के यह मेरे गुड्डे थे। यही हमारा विवाह रहा है टर्वाल्ड !

इसके बाद नोरा चली जाने का इरादा जाहिर करती है। तब हेलमर कहता है—क्या तुम अपने पवित्रतम कर्तव्यों की इस प्रकार अवहेलना कर सकती हो ?

नोरा—मेरे पवित्रतम कर्तव्य तुम किसे कहते हो ?

हेलमर—क्यों क्यों ? तुम्हारे पति तथा बच्चों के प्रति कर्तव्य।

नोरा—मेरे उतने ही पवित्र कर्तव्य और भी हैं।

हेलमर—असम्भव ? भला क्या ?

नोरा—मेरे प्रति मेरा कर्तव्य ।

हेलमर—सब बातों के पहले तुम स्त्री तथा माता हो ।

नोरा—मैं अब इन बातों में विश्वास नहीं करती। मैं समझती हूँ कि सब बातों के पहले मैं एक मनुष्य हूँ। से कि तुम हो, कम-से-कम मैं होने की चेष्टा करूँगी । मैं जानती हूँ कि टर्वाल्ड अधिकतर व्यक्ति तुम्हारी राय के हैं और किताबों में भी ऐसा ही लिखते हैं। अधिकतर व्यक्ति जिस बात को कहते हैं अथवा पुस्तकों में जो बात लिखी जाती है, उससे मैं सन्तुष्ट नहीं रह सकती । मुझे इन बातों का उत्तर स्वयं सोच निकालना चाहिए ।

हेलमर—क्या तुम निश्चित रूप से जानती हो कि घर में तुम्हारा स्थान क्या है ? क्या इन प्रश्नों के सम्बन्ध में तुम्हारे निकट एक ऐसा पथ-प्रदर्शक नहीं मौजूद है, जो कि कभी भूल कर ही नहीं सकता ? क्या तुम्हारे निकट धर्म नहीं है ?

नोरा—मैं नहीं जानती, धर्म ठीक-ठीक क्या है । पादरी ने मुझे बतलाया था कि धर्म यह है, वह है। जब कि मैं यहाँ से विदा हो जाऊँ और अपने पैरों पर खड़ी होऊँ तो देखूँगी कि उसने जो सिखाया है, वह कहाँ तक सत्य है, और मेरे लिए कहाँ तक सत्य है ।

हेलमर—ऐसी बातें कभी सुनी ही नहीं । किन्तु यदि धर्म तुम्हें मार्ग प्रदर्शन नहीं करवा सकता तो विवेक क्या कहता है ?

नोरा—देखो टर्वाल्ड, यह कहना मुश्किल है, मैं केवल इतना ही जानती हूँ कि मैं इन बातों के सम्बन्ध में तुमसे विभिन्न तरीके से सोचती हूँ । मैं देख रही हूँ कानून उनसे भिन्न हैं । जैसा कि मैं उनके बारे में सोचा करती थी । फिर भी मैं विश्वास नहीं कर सकती कि वे ठीक हैं । मालूम होता है, कानून में न एक अपनी लड़की को मुमूर्षु पिता को फिक्र से अलग रखने का अधिकार है, न एक स्त्री को अपने पति के जीवन की रक्षा करने का अधिकार है । मैं ऐसी बातों में विश्वास नहीं करती ।

हेलमर—तुम एक बच्चे की तरह बातें कर रही हो, तुम उस समाज को नहीं समझतीं, जिसमें रहती हो ।

नोरा—नहीं, मैं नहीं समझती हूँ । मुझे अभी इस बात को तय करना है कि मैं सही हूँ कि समाज ।

हेलमर—नोरा, तुम बीमार हो, तुम्हारी बुद्धि ठिकाने नहीं है ।

नोरा—इसके विरुद्ध मैं यह समझती हूँ कि मैंने आज के पहले किसी बात

को स्पष्ट ही नहीं देखा था ।

हेलमर—तो इसकी एक ही व्याख्या है ।

नोरा—क्या ?

हेलमर—कि तुम मुझे प्यार नहीं करती हो ।

नोरा—बिलकुल सही है ।

हेलमर—क्या तुम ऐसा कह रही हो ?

नोरा—हाँ अवश्य, तभी तो मैं यहाँ रहना नहीं चाहती । मैं विवश हूँ मैं अब तुम्हें प्यार नहीं करती हूँ ।

हेलमर—क्या तुम इस विषय पर भी इतनी ही निश्चित हो ?

नोरा— हाँ ।

हेलमर—क्या तुम बता सकती हो कि मैं किस भाँति तुम्हारे प्रेम से वंचित हुआ ।

नोरा—रोज ऐसे मौके नहीं आते; आज आया । जब तुमको क्रोगस्टाड की चिट्ठी मिली तो मैं यह नहीं समझती थी कि तुम उसकी शर्तों पर राजी हो जाओगे । मैंने सोचा था कि तुम उसे यह कहकर धता बता दोगे कि जा, अपनी बात दुनिया में फैला । और मैंने यह भी सोचा था कि तुम सारी बात अपने ऊपर ले लोगे । कहोगे कि मुजरिम तुम हो । अवश्य ही मैं यह प्रकांड बलिदान स्वीकार न करती, किन्तु तुम्हारे मुकाबले में मेरी बात कौन सुनता ? इसी मौके से तो मैं डर रही थी । तभी तो मैं आत्महत्या करने जा रही थी ।

हेलमर मैं सहर्ष दिन-रात तुम्हारे निमित्त काम करता हूँ । नोरा, तुम्हारे लिए अभावों का सामना कर सकता हूँ, किन्तु कोई भी मनुष्य अपनी आबरू में प्यार के लिए धब्बा लगाना पसन्द न करेगा ।

नोरा—लाखों स्त्रियों ने ऐसा किया है । खैर, फिर जब तुम्हारा डर कागज लौटने से जाता रहा तो तुमने मुझे क्षमा भी कर दिया; मैं फिर तुम्हारी बुलबुल और गिलहरी होगई । उस समय टर्वाल्ड, मुझे मालूम हुआ कि इन आठ सालों में मैं एक अपरिचित के साथ रहती आई हूँ, और उसके लिए तीन बच्चे भी जने हैं । मैं इस बात को सोच भी नहीं सकती, इच्छा होती है शतधा होकर विदीर्ण हो जाऊँ ।

इसके बाद नोरा एक भी पैसा लेने से इन्कार करके तथा यह भी कहकर कि चिट्ठी न लिखना, इस विशाल विश्व में अकेली अपना पथ आप ढूँढ़ लेने के लिए तथा अपनी समस्याओं का आप समाधान करने के लिए निकल जाती

है। यहीं पर नाटक खत्म हो जाता है। संक्षेप में नाटक का रूप यह है।

हम नाटक के नायक तथा नायिका की अलग-अलग समालोचना करेंगे। पहले नोरा को ही लें। आरम्भ से अन्त तक उसके चरित्र में हमें कोई खराब बात नहीं दिखाई देती। नोरा देखती है कि उसका पति मर रहा है; साथ-ही-साथ वह देख रही है कि उसको बचाना सम्भव है, केवल कोई बारह सौ डालर से उसके पति के प्राण बच सकते हैं। वह चाहती है कि यह रकम उधार मिल जाय, इसलिए उधार लेती है, किन्तु कानून से वह उधार नहीं ले सकती। क्रोगस्टाड बखेड़ा खड़ा करता है; नोरा अपने पिता के द्वारा हस्ताक्षर करा देने का वादा करती है,किन्तु दुर्भाग्य से उसी समय उसका पिता सख्त बीमार हो जाता है। नोरा सोचती है, अब खुद ही दस्तखत कर दूँ। वह कर देती है। कानून की दृष्टि में यह जालसाजी है। क्रोगस्टाड के शब्दों में कानून उद्देश्यों को नहीं देखा करता।

यह देखने की बात है कि इस जालसाजी में नोरा का बिलकुल यह उद्देश्य नहीं है कि रुपये मार ले, बल्कि वह बड़े ही नियम से किस्त अदा करती है। यदि उसके वश में होता तो वह फौरन रुपये दे देती। वहाँ पर एक समस्या है। किसी देश विशेष की नहीं, बल्कि सब कानूनों की यह एक बड़ी निन्दा तथा भर्त्सना है, उनकी अपूर्णता तथा कोताही पर इबसेन की यह फटकार है। यदि क्रोगस्टाड यह जालसाजी प्रकट कर देता, जैसा कि वह इरादा करता था, हेलमर उसकी शर्तें न मान लेता और उसकी प्रेमिका श्रीमती लिंडेन हस्तक्षेप न करती, तो नोरा को जेलखाने जाना पड़ता। क्या कोई भी हृदयवान् व्यक्ति अपने हृदय पर हाथ रखकर यह कह सकता है कि नोरा मुजरिम है, तथा उसे जेल जाना चाहिए? कभी नहीं, हम तो जब नोरा को साल के बाद साल कौड़ी-कौड़ी जमाकर अपनी विलासिता को काट-छाँटकर ('तितली स्वभाव' वाली सुन्दरी नोरा को अच्छे कपड़े कितने पसन्द हैं) बराबर किश्त अदा करते हुए देखते हैं तो हमें मालूम देता है कि टर्वाल्ड के लिए यह सचमुच गर्व और गौरव की बात है। हमें तब प्रतीत होता है कि नोरा एक रमणी-रत्न है, और हेलमर का यह सौभाग्य था कि उसने इस रमणी का प्रेम प्राप्त किया था। नोरा हमारे सम्मुख एक गरीयसी महीयसी महिला के रूप में आती है। उसका यह गौरव अन्तिम मुहूर्त्त तक कायम रहता है। नोरा ने ही प्रेम को समझा है। वह हमारे युग की जूलिएट है, रूप में दिग्विजयिनी, त्याग में महीयसी, प्रेम में गरीयसी। अन्त में जब उस पर हेलमर का कायरपन खुल जाता है, तो वह उसका घर छोड़कर चली जाती है। यह नारीत्व की

विजय है। डाक्टर रैंक के साथ नोरा के व्यवहार में विश्व के सनातन मतवादी बहुत आपत्तिजनक बातें पाते हैं। किन्तु हम उससे केवल स्वाभिमान। क्या यह बात सही नहीं है कि "कुछ आदमियों से प्रेम करना अच्छा लगता है कुछ से बातें करना।" हम यौथ सहजात (Nerdinstinct) के वशवर्ती होकर चाहे यह बात खुल्लम-खुल्ला स्वीकार न करें, किन्तु है यह बात सत्य। किसी से बातें करना कोई दोष नहीं है इस वाक्य के बूते पर नोरा को द्विचारिणी होने का फतवा दिया गया है, किन्तु यह नोरा द्विचारिणी है तो सभी नर तथा नारी द्विचारिणी हैं। आधुनिकतम मनोविज्ञान इसी बात के पक्ष में गवाही देगा। अस्तु जब तक पति या पत्नी को धोखा देने का उपादान नहीं है, तब तक दूसरों के साथ सम्बन्ध सही है।

हेलमर एक भद्र पुरुष है, किन्तु न तो वह कोई प्रेमिका ही है, न हम उसको हृदयवान् व्यक्ति कह सकते हैं। वह भी अपने समाज के कानून की तरह उद्देश्यों को नहीं देखता, तथा लोक-लज्जा की (जहाँ कि लोक-लज्जा केवल गले में बँधे हुए घड़े की तरह है) बहुत परवाह करता है। इस आदर्श भद्र पुरुष के चरित्र में सबसे अधिक जो बात अखरती है, वह यह है कि अप-राध किये जाने पर वह इतना नाराज नहीं है, जितना कि उसके जग-जाहिर हो जाने के कारण। तभी तो वह जाल किया हुआ कागज मिलते ही बिना माँगे नोरा को क्षमा करने को तैयार हो जाता है। इस कागज के मिलने के पहले वह इतना चिंघाड़ रहा था, कागज मिलते ही वह फिर नोरा को गिलहरी और बुलबुल कहने को तैयार है। यह केवल हेलमर की चारि-त्रिक विशेषता नहीं है, हेलमर के नाम पर जगत् के भद्र पुरुषों को इबसेन ने कोसा है। हेलमर ने कभी कोई जालसाज़ी नहीं की, कभी कोई अपराध नहीं किया, किन्तु जब हम उसको नोरा के साथ मनुष्यता के तराजू पर तौलते हैं, तो निर्विवाद रूप से यही पाते हैं कि वह नोरा के चरण-चुम्बन करनें के उपयुक्त नहीं है।

हेलमर भद्र पुरुष है अर्थात् समाज के उस वर्ग का सदस्य है, जिसका एक अद्भुत (Roll) है। समाज का मंगल ऐसे लोगों से होगा या नहीं यह संदिग्ध है। हेलमर हमेशा मस्तिष्क से परिचालित होता है नोरा हृदय से। इन दोनों में हमें नोरा चाहिए। हेमलर रूढ़िवादी है तथा यौथ—सहजात बुद्धि का शिकार; नोरा विद्रोहिणी तथा स्वाधीन है। हेलमर कभी सोचने का कष्ट नहीं उठाता। जो प्रचलित भद्रमत है वही उसका मत है। नोरा जब सोचती है तो स्वाधीन भाव से सोचती है।

इन बातों के अतिरिक्त इबसेन ने हमारे सामाजिक व्यवहारों में बहुत ढोंग से भरी बातों को लिया है। उदाहरणतः एक दफा हेलमर और नोरा साथ हैं। बाहर से डॉक्टर रैंक पुकारता है—मैं हूँ, क्या मैं एक मुहूर्त्त के लिए अन्दर आ सकता हूँ।

हेलमर—(धीमी आवाज में खिसियाकर) इसे भला इस वक्त में कौनसा काम पड़ गया। (चिल्लाकर) ठहरो अभी खुलता है। (किवाड़ा खोलकर) आओ, यह बड़ी अच्छी बात है कि आये।

सवेरे से शाम तक एक भद्र पुरुष को ऐसा अभिनय करते बीतता है। यही हमारे शिष्टाचार की पोल है। यही हमारे समाज की सभ्यता है ?

इबसेन के इस सर्चलाइट में नोरा भी नहीं बचती। हेलमर का खयाल है, जैसे कि हर एक भद्र पुरुष का खयाल है कि मैकरून नामक मिठाई खाने से दाँत खराब हो जाते हैं; इसलिए उसकी सख्त हिदायत है कि नोरा मैकरून न खावे, किन्तु नोरा को यह मिठाई बहुत प्रिय है। वह पति से चुराकर कभी-कभी मैकरून खा लेती है, और झूठ बोलती है।

यही हमारा समाज है गुड़िया-गुड्डों का समाज है।

अब जो प्रश्न मैंने लेख के आरम्भ में उठाया था, उसका उत्तर दिया जाय कि हमारे चरित्र के भंडाफोड़ से हमें लाभ होगा या नहीं ? नोरा को लाभ हुआ और मेरा खयाल है हमें भी होगा। उदाहरण-स्वरूप हम हेलमर की तरह भद्र पुरुष न होकर हृदयवान् हो सकते हैं। प्रेम के सच्चे अर्थ को हम हृदयंगम करके जीवन में उसे कार्यरूप में परिणत कर सकते हैं। प्रेम माने उपभोग, किन्तु प्रेम माने त्याग भी हैं, बल्कि त्याग-मंडित उपभोग ही प्रेम है। हेलमर को तो केवल अपनी धुन थी और कुछ नहीं। प्रेम उसमें खाक भी नहीं था। जब मौका आया तो उसने दुम हिला दी। और ये जो छोटे-मोटे ढोंग हैं, जिनको शिष्टाचार कहते हैं, इनसे क्या हम नहीं बच सकते ? क्या हम अधिक स्पष्टवादी नहीं हो सकते ?

इबसेन की रचना बड़ी ही मार्मिक है, यद्यपि रवीन्द्रनाथ रोम्याँ रोलाँ आदि की तरह उसमें बात-बात में कविता नहीं है। इबसेन शायद वैसी बनी-ठनी भाषा में विश्वास नहीं रखते। न मालूम कब हमारे भारतवर्ष में इबसेन-जैसे लेखक की उत्पत्ति होगी। रवीन्द्रनाथ को छोड़कर हमारा साहित्य अब आगे जाने को लालायित हो रहा है। भारतवर्ष को योरप से कहीं अधिक इबसेन की आवश्यकता है।

३

प्रेमचन्द की कला पर सरसरी दृष्टि

एक समय था जब यह समझा जाता था कि साहित्य केवल मनोरंजन या अवसर विनोद की वस्तु है। पर अब धीरे-धीरे लोग यह समझ रहे हैं कि साहित्य का प्रयोजन तथा उसका उपयोग और ही है। बहुत दिनों तक यह भी समझा जाता रहा कि साहित्य निष्पक्ष हो सकता है, पर अधिक गहराई तक जाने से यह ज्ञात हुआ कि जो साहित्य बिलकुल तटस्थ ज्ञात होता है, वह उतना तटस्थ नहीं है। यदि किसी साहित्य में किसी वर्ग विशेष के प्रति पक्षपात नहीं है, यदि इस सम्बन्ध में उसका कुछ वक्तव्य नहीं है, ऐसा प्रमाणित भी किया जा सके, तो भी उस साहित्य के सम्बन्ध में इतना तो कहा ही जा सकता है कि वह जीवन में अहरह वर्तमान समस्याओं के प्रति तटस्थता की मनोवृत्ति उत्पन्न करके पाठकों को उन समस्याओं से बे-खबर करता रहता है। इस प्रकार जीवन का समस्याओं के प्रति बे-खबर कर देना शासक वर्ग के लिए ही हितकर होता है। इसलिए जो साहित्य उदासीन या तटस्थ ज्ञात होता है, वह परोक्ष रूप से पक्षपातपूर्ण है।

कुछ लोगों ने ऐसा अद्भुत प्रचार कार्य कर रखा है मानो पक्षपात करना एक अपराध है, और जो साहित्य पक्षपात करता है, उसके प्रति वे इस तरीके से नाक-भौं सिकोड़ते हैं, मानो वह दो कौड़ी का हो। यह प्रचार-कार्य इतना असर कर गया है, और अच्छे-अच्छे लोग इसकी भँवर में फँस चुके हैं कि बहुत से क्षेत्रों में यह साध्य एक स्वयं सिद्ध का रूप धारण कर चुका है।

पर क्या पक्षपात इतनी खराब वस्तु है। क्या मृत्यु के मुकाबले में जीवन, द्वेष के मुकाबले में प्रेम, कायरता के मुकाबले में साहस, प्रतिक्रिया के मुकाबले में प्रगति, सामाजिक रूप से अनावश्यक परोपजीवी वर्ग के मुकाबले में ऐतिहासिक रूप से आवश्यक भविष्ययुक्त वर्ग, प्रतिक्रान्ति के मुकाबले में क्रांति के साथ पक्षपात हेय तथा निन्दनीय है? साधारण बुद्धि तो हमें यह बताती है

कि नहीं । मैं तो यह समझता हूँ कि हर हालत में तटस्थता को बुत बनाकर पूजने की यह मनोवृत्ति ही ऐसे लोगों के द्वारा उत्पन्न की गई है जो समाज के स्थिर स्वार्थ वाले लोग हैं, या ऐसे लोग हैं, जो उनके पिट्ठू हैं, या उनकी तनख्वाह खाते हैं, या तनख्वाह नहीं भी खाते हैं तो इनके द्वारा उत्पन्न वातावरण में इस तरह से पाले हैं कि उनके लिए यह संभव नहीं है कि वे किसी विषय पर स्वतन्त्र रूप से सोचें ।

प्रेमचन्द में सबसे बड़ी बात यह थी कि वे अपने युग के एक बलिष्ठ प्रतीक होने के साथ-ही-साथ स्वतन्त्रता से सोचने का माद्दा रखते थे, और इसी कारण उन्होंने समाज की प्रगतिशील शक्तियों के साथ पक्षपात किया । पर यह पक्षपात एक राजनीतिक दल की पुस्तिकाओं के लेखक के तरीके पर नहीं एक कलाकार की तरह किया यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो सुप्रसिद्ध समाजवादी नेता डिमिट्रोफ ने लेखकों के सामने बोलते हुए यह कहा था कि लेखक का काम यह नहीं है कि वह इन्कलाब जिन्दाबाद के ढँग पर चिल्ला पड़े, जिस लेखक का इन्कलाब के प्रति पक्षपात जितना सूक्ष्म होगा, वह उतना ही अच्छा इन्कलाबी कलाकार होगा ।

प्रेमचन्द के विषय में सबसे विशिष्ट बात यह है कि वे अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में उतने आत्मचैतन्य सम्पन्न नहीं थे, फिर भी उनकी प्रथम रचनाओं में भी हम बहुत ही परोक्ष रूप से इतने परोक्ष रूप से कि सभी समालोचक उन्हें गलत समझ गए, क्रांतिकारी प्रगतिशील शक्तियों की ही विजय दिखाई गई है । शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि एकाधिक समालोचक उन्हें उनकी समग्रता में सही तरह से न समझ पाकर गान्धीवाद का प्रतिपादक समझते हैं ।

अवश्य 'गोदान' के सम्बन्ध में उन सभी का यह मत है कि इस कृति में वे गांधीवाद से फिर गए, और उनका झुकाव समाजवाद की धारा की ओर हुआ । पर मैंने ही इस बात का प्रतिपादन किया है कि 'गोदान' में तो उनकी कला आत्म-सचेतन रूप से समाजवाद की ओर झुक जाती है, पर 'प्रेमाश्रम' 'सेवासदन' आदि सभी रचनाओं में वे गांधीवाद को व्यर्थता में पर्यवसित दिखलाते हैं ।

यह एक बहुत क्रान्तिकारी मत है, इसलिए मैंने इस बात को स्थापित करने के लिए एक बृहत् ग्रन्थ लिखा । विराट् पुस्तक प्रकाशित हो गई । यह सम्भव नहीं है कि इस छोटे से लेख में उस मत का विस्तार के साथ प्रतिपादन किया जाय, पर संक्षेप में इतना बता दिया जा सकता है कि एक कलाकार अपनी कला में जितना देता है, याने सचेतन रूप से जितना देता है, उसकी

कला में उससे अधिक हो सकता है, और होता है। अवश्य कम भी हो सकता है। यह कोई जरूरी नहीं है कि एक लेखक अपनी कला का सबसे बड़ा आलोचक हो, सम्भव है उसकी आलोचना बिलकुल ही गलत हो और वह अपनी कला के सम्बन्ध में, अपनी विभिन्न रचनाओं की अन्तर्गत वस्तु, उसकी प्रवृत्ति तथा झुकाव के सम्बन्ध में बिलकुल गलत धारणा रखता हो।

सबसे मजे की बात यह है कि प्रेमचन्द अपने प्रारम्भिक कलात्मक जीवन में सचाई के साथ गांधीवादी थे। १९१७ में ही रूस में समाजवादी क्रान्ति हो चुकी थी। उससे भी बहुत पहले से याने १८४८ से, जिसे हम वैज्ञानिक समाजवाद कहते हैं, उसका प्रतिपादन हो रहा था। १८६४ में इसी विचार को कार्य रूप में परिणत करने के लिए प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय तथा १८८९ में द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय की स्थापना हो चुकी थी। इस समय एक विराट साहित्य का उदय हो चुका था, जिसमें से अधिकांश अंग्रेजी में मौजूद भी था।

पर न तो समाजवाद की भनक देश में पहुँची थी न उनके सम्बन्ध में किसी को कुछ ज्ञान था। अवश्य अस्पष्ट रूप से समानता की चाह लोगों में थी, पर उसको कोई वैज्ञानिक रूप प्राप्त न था। यह परिस्थिति थी जब गांधीजी ने दिग्विजयी की तरह भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया। हमें इसके ब्यौरे में जाने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसा कैसे हुआ कि अपने उदय के साथ ही गांधीजी मध्याह्न रेखा पर पहुँच गए। जो परिस्थिति थी, उसमें यही स्वाभाविक था। प्रथम महायुद्ध के बाद भारतीय मानवता यह आशा कर रही थी कि यदि स्वतन्त्रता नहीं तो उसे बहुत विस्तृत शासन-सुधार दे दिये जायँगे। पर इसके विपरीत भारतवर्ष को रौलट बिल का तोहफा मिला।

इस विश्वास-घात के दुर्दमनीय प्रहार के मारे भारत की आत्मा कराह रही थी। काँग्रेस के सब राजनीतिज्ञों का दिवाला पिट चुका था। उनके पास कोई ऐसा उपाय नहीं था जिससे वे सरकार के इस प्रकार का मुकाबला कर सकते। वे सब बगलें झाँक रहे थे। ऐसे समय में गांधीजी ने अपने असहयोग अस्त्र को सबके सामने रखा। यही एक बड़ी बात थी।

पर गांधीजी ने केवल इतना ही नहीं किया, उन्होंने इससे भी एक बड़ी बात की। अब तक राजनीति कुछ पढ़े-लिखे अवकाश प्राप्त लोगों के अवसर विनोद की सामग्री थी पर गांधीजी ने ही, मैं अपनी किसी पुस्तक से ही उद्धृत कर रहा हूँ, इस राजनीति को मध्यवित्त श्रेणी के स्वर्ग से उतारकर जनता के मध्य में लाकर रख दिया। फिर भला वे महात्मा, अवतार, जो कुछ भी समझे गए, वह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

ऐसे वातावरण में जब कि वह बिलकुल गांधीमय हो रहा था, प्रेमचन्दजी के लिए यह स्वाभाविक था कि वे मानसिक रूप से सम्पूर्ण रूप से गांधीजी के पुजारी होते। जिस व्यक्ति नें अपनें जीवन में यह प्रत्यक्ष किया था कि गरीबी क्या है, उस युग में यदि वह समाजवादी नहीं हुआ तो उसके लिए गांधीवादी होना आवश्यक था।

इसी कारण उस युग में (Subjective) रूप से सम्पूर्ण गांधीवादी थे, और यह उनकी कला के लिए अच्छा ही हुआ। यदि वे इस प्रकार गांधीवादी न होते, तो उनकी कला में युग का सही प्रतिफलन नहीं हो सकता था। यदि कोई व्यक्ति गांधीवाद के प्रति समाजवादी आलोचनात्मक दृष्टिकोण लेकर लेखनी धारण करता, तो सम्भव है कि वह गांधीवाद के ऐतिहासिक भाग के प्रति न्याय नहीं कर सकता, पर सम्भव है वह गांधीवाद को उसके पूर्ण गौरव में चित्रित न कर सकता।

पर केवल गांधीवादी होने से ही कोई प्रेमचन्द नहीं हो सकता था, यदि वह उसके साथ ही कलाकार भी न होता। मैंनें इसी को अपने उल्लिखित ग्रन्थ में यों लिखा है कि यद्यपि प्रेमचन्द गांधीवाद, शान्तिवाद, आदि न मालूम कौन-कौन से वाद-विवादों से आँख लड़ाते रहे, यह एक गांधीवादी के नाते जरूरी था, पर इसके साथ ही वे अपनी कला के लंगोट के प्रति सच्चे रहे।

यही कारण है कि प्रारम्भिक रचनाओं में भी यानें 'प्रेमाश्रम', रंगभूमि', 'कर्मभूमि' के कथानक देखने में तो गांधीवादी हैं, पह वे अपनी कहानी को जिस नतीजे पर पहुँचा देते हैं, उसे यदि ध्यान से देखा जाय और गहराई के साथ उसकी जाँच की जाय तो यह ज्ञात होगा कि उन्होंने गांधीवाद की जो जय दिखलाई है, वह वास्तव में कोई जय नहीं है, वल्कि उसकी पराजय ही है।

उदाहरणार्थ 'प्रेमाश्रम' को लिया जाय, इसमें प्रेमचन्द ग्राम-जीवन की समस्याओं को लेकर चलते हैं। समस्याएँ बिलकुल आर्थिक राजनीतिक हैं, समस्याओं की प्रबलता हमारे सामने है। एक समस्या तो संयुक्त-परिवार प्रथा भी है। नये युग की नई जरूरतों को यह पूरी करने में असमर्थ है। जिस युग में जमीन में ही सम्पत्ति थी, और वही उत्पादन का मुख्य जरिया था, उसे युग में संयुक्त-परिवार-प्रथा ठीक थी, और चलती भी थी, पर जिस युग में सब लोगों के रोजगार भिन्न-भिन्न हैं, कोई कम कमाता है कोई अधिक, उस युग में इस प्रथा का सफल होना या वर्तमान रहना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है।

प्रेमचन्द ने यह दिखलाया था कि संयुक्त-परिवार प्रथा रह नहीं पाती। प्रभाशंकर ऐसे व्यक्ति के रहते हुए भी जो इस प्रथा के अनन्य उपासक हैं,

यह प्रथा रह नहीं पाती। प्रेमचन्द इस बात को तो दिखलाते हैं, पर उनको सहानुभूति किस पद्धति से है यह स्पष्ट कहा जाता है। इसीलिए 'प्रेमाश्रम' एक तरफ तो संयुक्त-परिवार-प्रथा के टूटकर गिर पड़ने का एक महाकाव्य है, पर उसमें हम इस टूटने-बिखरने वाली पद्धति की मरण यंत्रणा को सुन सकते हैं, और ऐसे सुन सकते हैं मानो हमारा कोई प्रियजन मर रहा हो। प्रेमचन्द की कला-प्रकृति के द्वन्द्वधर्मी होनें का यह परिणाम है।

गाँधीवाद अन्तिम विश्लेषण में सामन्तवाद का ही एक परिष्कृत आदर्श रूप है, स्वाभाविक रूप से गांधीवाद में संयुक्त-परिवार-प्रथा के लिए बड़ा मोह है, और उसके सम्बन्ध में एक Idyllic या गो-चारण और वेणु-वादन-मूलक धारणा मौजूद है। पर मेरा इशारा इस समस्या से नहीं है, गाँव की जो समस्या है, वह आर्थिक सामाजिक है, उसका समाधान भी आर्थिक सामाजिक होना चाहिए। लखनपुर में जमींदार, कारिन्दे, पुलिस लश्कर की ज्यादती तो दिखाई गई है, पर इनका समाधान क्या दिखलाया गया है? यही न कि प्रेमाश्रम बनता है, और कुछ सद्दुद्देश्यपूर्ण व्यक्ति एक आश्रम बनाकर बैठ जाते हैं। इससे यह तो मालूम होता है कि समस्या सुलझ गई है, पर जरा गहराई में जाइये तो ज्ञात होगा कि यह कोई समाधान नहीं समाधान की मृग मरीचिका-मात्र है।

इसी प्रकार हम 'रंगभूमि' में भी देखते हैं। इसमें सूरदास की सृष्टि तो मानो गाँधीजी के नमूने पर हुई है। यह पुस्तक गाँधीवाद के अच्छे तथा अन्य पहलुओं के चित्रणों के कारण अमर रहेगी। पर इसमें भी हम क्या देखते हैं? क्या सूरदास अपने असंख्य गुण, परोपकार आदि के बावजूद आक्रमणकारी कारखाने वाद के अभियान को रोक पाता है? इसमें संदेह नहीं कि सूरे की लड़ाई बड़ी मार्मिक है, और हमारी श्रद्धा को बरबस अपनी तरफ खींच लेती है, पर श्रद्धा और गौरव की बात नहीं है। किसी राजनीतिक मतवाद की सफलता या विफलता को हम केवल दयाभावमूलक श्रद्धा या गौरव की भावना से कैसे नाप सकते हैं? हम उसकी सफलता को उसके द्वारा प्राप्त राजनीतिक सामाजिक सफलता से ही नाप सकते हैं।

इस दृष्टि से देखने पर सूरे के सारे संघर्षों का परिणाम देखते हैं? यही न कि गाँव से गाँव वाले खदेड़ दिए गए हैं, और उनके गाँव में आग लगी हुई है लोग कराहते हुए भाग रहे हैं। थोड़े दिन में इस गाँव में कारखाने दिखाई पड़ते हैं या पड़ेंगे।

क्या इसको हम सूरदास के मतवाद की विजय कह सकते हैं? अवश्य

हमारा यह कहना नहीं है कि हमेशा हार अन्तिम असफलता का सूचक है। नहीं नहीं, कभी-कभी पराजय के जरिये से ही विजय का मार्ग पाया जाता है। कभी-कभी पराजय आसानी से प्राप्त ऊपरी विजय से अधिक अर्थपूर्ण हो सकती है, यदि उसके ऊपरी चेहरे के भीतर विजय के बीज निहित हों। पर यदि हम आत्म-प्रवंचना न करें, और अपनी दृष्टि को 'रंगभूमि' की कथा तक ही वास्तविकता के अन्दर सीमित रखें, और कल्पना के पर लगाकर उड़ान न भरने लगें, तो हमें आसानी से ज्ञात हो जायगा कि सूरदास की हार पूँजीवाद के मुकाबले में सामन्तवाद की अर्थात् एक अधिकतर प्रतिक्रियावादी पद्धति के मुकाबले में कम प्रतिक्रियावादी पद्धति की विजय है।

श्री अंचल जी का कहना है कि "प्रेमचन्द की दृष्टि गांधीवादी आदर्शवाद को भेदकर आगे नहीं जाती। उनका मशीन-विरोध नैतिक और आचारिक मूल्यों पर अधिकाधिक जोर, राजनीतिक और सामाजिक माँगों के वैधानिक और साम्यवादी आग्रहों की ओर से उनकी उदासीनता, हृदय-परिवर्तन की आशा पर उनका विश्वास ये सब उनकी दृष्टि को धूमिल किये हुए हैं। इसलिए प्रेमचन्द का साहित्य एक क्रान्तिकारी ढंग पर राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल मचवाने के बजाय सामाजिक और मानवीय सेवा पर ही अधिक जोर देता है। परन्तु जीवन की उन बुनियादी शक्तियों को, जो पूँजीवाद को नष्ट करने और समाजवाद को स्थापित करने के लिए काम कर रही हैं, मौजूदा समाज के ह्रास और जनक्रान्ति की अनिवार्यता की जड़ें जमाने वाली कोई संगठित योजना वे नहीं दे सके।"

इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द की दृष्टि गांधीवादी आदर्श पर डटी हुई या निबद्ध है, पर जैसा कि मैंने बताया कि अपनी कला के प्रति सच्चे रहने के कारण वे वास्तविकता से अपने को अलग नहीं कर पाए, इसलिए इस Subjective पहलू का असर इतना ही हुआ है कि वे इस वाद के अच्छे पहलुओं को बहुत खूबी के साथ दिखला सके। यह भी सही है कि मशीन-विरोध आदि भावनाओं से उनकी मानसिक सहानुभूति है, पर ऐसा होते हुए भी वे ('रंगभूमि' को ही लीजिये, जो उनके गांधीवाद के पुटयुक्त उपन्यासों में बृहत्तम और सर्वश्रेष्ठ है) मशीन-विरोध की विजय नहीं दिखलाते हैं, बल्कि उसकी स्पष्ट पराजय दिखलाते हैं।

कला की जाँच में कलाकार का निजी मत, झुकाव, प्रवृत्ति तथा उसकी Tendencies का बहुत महत्त्व है, पर यदि कलाकार की कला इतनी शक्तिशाली है कि वह निजी मतों के बावजूद सत्य और तथ्य के प्रति अन्त

में जाकर सच्चा साबित होता है, तो उसके निजी मत आदि को बहुत महत्त्व नहीं दिया जा सकता। उदाहरणस्वरूप आजकल लेखकों में यह फैशन हो गया है कि वे सब-के-सब प्रगतिवाद, यहाँ तक कि समाजवाद की कसम खाते हैं, पर इनमें से बहुतों की कला की जाँच की जाय तो उसमें स्पष्ट प्रतिक्रियावाद, गतानुगतिकवाद या जो—है—सो—रहे—वाद मिलेगा। जैसे इन लेखकों को केवल इनके मतों के कारण समाजवादी तथा इनकी कला को प्रगतिवादी कहना सम्भव न होगा, उसी प्रकार से प्रथम युग के प्रेमचन्द को उनके निजी मत के लिए ही क्रान्तिकारी न कहना सम्भव न होगा।

कलाकार का सही परिचय उसकी कला में है न कि उसके अन्य तरीके से प्रकाशित मतवाद में। साधारण समालोचना में प्रेमचन्द के साहित्य को दो भागों में बाँटा गया है, एक गांधीवादी प्रेमचन्द, जिसमें 'गोदान' के अतिरिक्त उनकी सभी रचनाएँ आ जाती हैं, और दूसरा समाजवादी प्रेमचन्द, जिसमें केवल उनका 'गोदान' आता है।

मैं प्रेमचन्द-साहित्य को इस तरीके से विभाजित नहीं करता, मैं तो उसे यों विभाजित करता हूँ······एक तो अचेतनायुक्त समाजवादी रचना, जिनमें 'गोदान' के अतिरिक्त उनकी सभी रचनाएँ आती हैं, और आत्म सचेतन समाजवादी रचना, जिसमें गोदान' आता है।

मैं जानता हूँ कि मेरा यह मतवाद बहुत ही अभिनव है और प्रेमचन्द-समालोचना में एक क्रांतिकारी युगान्तर उपस्थित करता है। मैं इस बात को मानता हूँ, इसी कारण मुझे इस मत को स्थापित करने के लिए एक विराट ग्रंथ लिखना पड़ा, और जिसके निष्कर्ष सूत्र रूप में इस लेख में पेश करने की चेष्टा की गई है। सच तो यह है कि इस दृष्टिकोण को ग्रहण करने के बाद ही हम प्रेमचन्द की कला का क्रांतिकारित्व समझ सकते हैं। हमें दुःख है कि अंचल जी जैसे गहराई तक जाने वाले समालोचक भी उनकी कला में वास्तविकता की विजय के इस उपादन को सम्यक् रूप से नहीं समझ सके, तभी वे यह कहकर रह गए कि वे सामाजिक उथल-पुथल मचवाने के बाद सामाजिक और मानवीय सेवा पर ही अधिक जोर देते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि वे जोर देते हैं; पर इसका नतीजा किस रूप में दिखाया जाता है, क्या यह कुछ भी महत्त्व नहीं रखता? गाँधीवाद में तो खैर वहाँ तक तो प्रगतिशील उपादान भी था ही, जहाँ तक और जिस हद तक उसने साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियों को संगठित किया, और उसके लिए जनता की शक्ति को आगे बढ़ाया, पर यदि कोई कलाकार फासिस्टवाद को

चित्रित करे, और इसमें बहुत रंग भी भरे, पर उसका अन्त ऐसा दिखलाये कि अनिवार्य ऐतिहासिक शक्तियों के सामने वह परास्त हो गया, और यह भी दिखलाये कि उसका परास्त होना स्वाभाविक था, तो क्या उस लेखक को हम फासिस्टवादी कह सकते हैं ?

प्रेमचन्द के प्रारम्भिक युग की रचनाओं में गांधीवाद का मोह-जाल दृष्टिगोचर होता है, पर यह जाल कितना भी घना हो, उसके अन्दर से वास्तविकता का सूर्य अपनी औपादानिक शक्ति के साथ प्रकाशित होने में बाधाग्रस्त नहीं होता।

अब हम इस पहलू को छोड़कर प्रेमचन्द-साहित्य के एक दूसरे पहलू पर आते हैं जिसमें वे हिन्दी-साहित्य में ही नहीं, सारे भारतीय साहित्य में अपराजेय हैं। रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों में हम बहुत-सी समस्याएँ देखते हैं। उनमें संघर्ष भी चित्रित है, पर वर्ग-संघर्ष नहीं। उनका साहित्य परिपूर्ण रूप से केवल ऐसे वर्ग का साहित्य है, जिसे रोटी-दाल की फिक्र नहीं है। उनके समय में भी निम्न-मध्य-वित्त वर्ग में रोटी के लाले पड़ने लगे थे, फिर भी इन छोटी-मोटी बातों के मुकाबले रोटी तथा आर्थिक ढाँचे का बहुत महत्त्व रखने पर भी वे उस पर ध्यान नहीं देते।

शरच्चन्द्र रवीन्द्रनाथ के मुकाबले में निम्नतर वर्ग को लेकर चलते हैं, पर वे अधिकांश रूप में इस वर्ग की वैवाहिक और हृदय-सम्बन्धी समस्याओं तक ही अपनी लेखनी को सीमित रख सके। 'अभागी का स्वर्ग' तथा 'महेश' कहानी में वर्ग-संघर्ष को वे बहुत सुन्दर रूप में चित्रित करते हैं, पर उनके विराट साहित्य में ऐसी दो-एक कहानियों की क्या हैसियत है ? 'अभागी का स्वर्ग' नामक की तुलना कहानी प्रेमचन्द के 'कफन' से की जा सकती है। 'अभागी का स्वर्ग' यह तो हमें दिखलाता ही है कि वर्तमान समाज में गरीबों को जीने का अधिकार नहीं है, साथ ही वह यह भी दिखलाता है कि मरने के बाद भी शोषक और शोषित वर्ग के लोगों में फर्क है। 'महेश' कहानी भी बहुत ऊँचे दर्जे की है। मैं अपनी 'शरच्चन्द्र' नामक पुस्तक में 'महेश' के सम्बन्ध में लिख चुका हूँ कि शरत बाबू की रचनाओंमें एक यह 'महेश' ही ऐसी कहानी है, जिसमें गरीब की आह का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट हुआ है। यदि इस गल्प का शीर्षक 'प्रोलेटेरियट का जन्म' होता तो शायद यह एक सोवियट गल्प हो जाता।[1]

पर हम प्रेमचन्द की तरफ जब दृष्टि डालते हैं तो उनके सारे साहित्य में

---

[1] शरच्चन्द्र······पृष्ठ १६८

हमें वर्ग-संघर्ष दृष्टिगोचर होता है। किसान, जमींदार, मजदूर, पूंजीपति का संघर्ष उनकी प्रत्येक महत्त्वपूर्ण पुस्तक में है। उनके साहित्य में हम जन-गण का अभिमान सर्वदा देखते हैं, साथ ही हम यह भी देखते हैं कि जनगण सही मार्ग पर है, और उसकी विजय अनिवार्य है। इधर बंगला आदि भाषाओं में बहुत से लेखकों ने संघर्ष को अपना उपजीव्य बनाया है, पर अपनी मृत्यु तक प्रेमचन्द इस क्षेत्र में अकेले थे, यदि यह कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

यद्यपि हमारे दुर्भाग्य से आत्मसचेतन समाजवादी प्रेमचन्द हमें केवल 'गोदान' ही दे सके, फिर भी अकेला 'गोदान' साहित्य का कुतुबमीनार है। इसमें हम उनकी कला को सम्पूर्ण रूप से गांधीवाद के मोह से मुक्त देखते हैं। भाषा, शैली, अन्तर्गत वस्तु, कथानक जिस दृष्टि से भी देखा जाय, यह हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है। इसमें हमें एक ऐसे कलाकार का दर्शन होता है जो सब तरह से सचेतन, आत्मस्थ तथा सन्देह-मुक्त हो चुका है। उनकी दृष्टि निखर चुकी है, अब उन्होंने मार्ग का सन्धान कर लिया है।

यह कहना गलत होगा कि उनके बाकी सभी उपन्यास एक ही कोटि के हैं। 'कायाकल्प' में निश्चित रूप से एक प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति है। उसमें जन्मान्तरवाद को लेकर एक अजीब गड़बड़झाले की सृष्टि हुई है, और इस प्रकार की बातें कतई समझ में नहीं आतीं। उसी उपन्यास में उसका वस्तुवाद उनके भाववाद के सामने दब जाता है। अवश्य इसी उपन्यास में अन्य उपादान तथा हिस्से ऐसे हैं, जो उनके साधारण उपन्यासों की तरह प्रगति की प्रवृत्तियाँ लिये हुए हैं।

भाषा की दृष्टि से उन्होंने बोल-चाल की भाषा ही अधिक अपनाई। वे पहले उर्दू के लेखक थे, सरशार की शैली के प्रशंसक थे, इस कारण उनकी भाषा अक्सर उर्दू की ओर झुकी हुई है। प्रसाद गुण अधिक न होने पर भी ओज में वे उसकी कमी को पूरा कर लेना चाहते हैं।

यद्यपि प्रेमचन्द हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में एक नये युग का प्रवर्तन करते हैं, फिर भी उनके अनुकरणकारी के रूप में हम किसी को नहीं देखते। बात यह है कि जिस कथावस्तु को उन्होंने उठाया था, उसे उन्होंने खुद ही समाप्त-सा कर दिया। बाद को कई अच्छे उपन्यासकार उपस्थित हुए। पर जिस भी दृष्टि से देखा जाय कोई उनकी ऊँचाई तक न जा सका। अवश्य कुछ लोग गहराई तक गए, और कदाचित् एकाध क्षेत्र में अधिक गहराई तक गये, पर उनकी सृष्टि शक्ति इतनी सीमित तथा दुर्बल रही कि वे विशेष आगे न जा सके, यहाँ पर हम ब्यौरे में जाकर पचड़े में न पड़ेंगे, पर इतना तो सत्य है कि

अभी तक जब हमसे कोई अहिन्दी-भाषी हिन्दी-उपन्यास के विषय में पूछता है तो हम प्रेमचन्द के बाद किसी इतर के लेखक का नाम लेते हिचकिचाते हैं। बात बनाना और विचार-धारा बघारना बहुत आसान है, पर कला के रूप में अपने वक्तव्य को पेश करना बहुत कठिन है। नहीं तो कोई भी राजनीतिक पुस्तिका का लेखक किसी भी क्रांतिकारी कलाकार से अधिक क्रांतिकारी होने का दावा कर सकता था।

हमने इस बात को छोड़ दिया कि प्रेमचन्द ने जिस कथावस्तु को लिया, उसे खत्म-सा करके रख दिया, इसलिए इस पर दो एक बात और कह देनी चाहिएँ। १९३५ में याने प्रेमचन्द के निधन वर्ष तक गांधीवाद का जो रूप खुला था, अब गत कई सालों में इतिहास के पन्ने उलट चुकने के कारण उसका रूप और अधिक खुल चुका है। भारतवर्ष को स्वराज्य मिल चुका है। डंके की चोट अब यह कहा जा रहा है कि गांधीवाद के कारण ही हमें जो कुछ प्राप्त हुआ है सो प्राप्त हुआ, आपात दृष्टि से जो लोग ऐसा कह रहे हैं, वे ऐसा कह सकते हैं। मैं यहाँ पर इस तर्क में नहीं पड़ना चाहता कि असली बात क्या है, पर यहाँ केवल इतना बता देना चाहता हूँ कि बहुत से ऐसे लोग भी मौजूद हैं जो यह समझते हैं कि जब तक कांग्रेस तथा जनता गांधीवाद के दायरे में रही, तब तक कोई विशेष अग्रगति नहीं हुई, पर ज्यों ही जनता ने १९४२ की क्रान्ति के रूप में गांधीवाद की रस्सी तुड़ाकर भागना शुरू किया, और साम्राज्यवाद पर हमला कर दिया इसके साथ ही अन्य क्रान्तिकारी शक्तियाँ मिलीं, आजाद हिन्द फौज के कारण ब्रिटेन की भारतीय सेना और पुलिस बृटिश सरकार के प्रति वफादार नहीं रही, तभी बृटिश सरकार ने यहाँ से प्रस्थान में ही भलाई समझी। सत्य जो कुछ भी हो, यह निश्चित है कि १९३५ में गांधीवाद का जो रूप था, वह आगे नहीं रहा। गत सालों में बल्कि ज्यों-ज्यों दिन जा रहे हैं त्यों-त्यों यह साबित हो रहा है कि गांधीवाद को जिन लोगों ने वाहन बनाया, उनका आदर्शवाद चर्मगम्भीर था। उसमें कोई तत्त्व नहीं था। पर यह बात तो अब लोगों की समझ में आने लगी है। १९३७ में बल्कि 'गोदान' से पहले ही इस बात को समझ लेना और सर्वतोभावेन उससे पल्ला छुड़ाकर साहित्य-सृष्टि करना प्रेमचन्द की अन्तर्दृष्टि-सम्पन्नता का ही परिचायक है।

प्रेमचन्द का कैनवास इतना वृहत् है कि उन पर संक्षेप में भी लिखते हुए बहुत समय लगेगा। यदि वे कुछ दिन और जीवित रहते तो हिन्दी-साहित्य उनके जीवन के 'मंगल सूत्र' को पकड़कर बहुत आगे बढ़ जाता। मृत्यु के पहले

उनके विचार जिस रफ़्तार से क्रान्तिकारी होते जा रहे थे; उससे हिन्दी-साहित्य को बड़ी आशाएँ थीं। उनकी बलिष्ठ बहुमुखी कल्पना विचारों को कला के रूप में पेश करने की सामर्थ्य रखती थी। उनकी रचना में विचार तथा वस्तु का वह समन्वय होता है जो क्रान्तिकारी कला की विशेषता है।

अवश्य यह समझना भूल है कि प्रेमचन्द तक ही हमारी कला रह जायगी। वह तो अनिवार्य रूप से आगे की ओर जा रही है। भविष्य का अनागत कलाकार प्रेमचन्द के अधूरे 'मंगल सूत्र' को पूरा करेगा। हम भारतीय साहित्य में उस अनागत महान् कलाकार के आगमन की नूपुर ध्वनि नहीं उसके गांडीव की टंकार सुन रहे हैं।

रवीन्द्रनाथ का 'गोरा'

यद्यपि हिन्दी में रवीन्द्रनाथ के सारे उपन्यास अनूदित हो चुके हैं, और उनका प्रचार भी अधिक है, तथापि उपन्यासकार के रूप में उनकी प्रतिभा जन-साधारण के निकट उतनी प्रकट नहीं है, ऐसा कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

मैं इस लेख में उनके उपन्यासकार जीवन की रूपरेखा व उनके उपन्यास पर समालोचना करूँगा। उन्होंने अपने जीवन-काल में कई उपन्यास लिखे, जिनकी संख्या १२ है। दूसरे शब्दों में उन्होंने उतने ही उपन्यास लिखे जितने प्रेमचन्द ने लिखे हैं।

वस्तुतः यह तो सम्भव नहीं कि उनके सारे उपन्यासों की आलोचना इस छोटे से लेख में की जाय। अतः मैं उनके 'गोरा' नामक उपन्यास को चुनता हूँ जो कदाचित् बंगाल के बाहर सबसे अधिक परिचित उपन्यास है। जैसा कि इस उपन्यास के परिचय से पाठकों को मालूम होगा, कि इसका सम्बन्ध बंगाल और भारत के उस युग के इतिहास से है जब बंगाल में ब्रह्म समाज ने बहुत भारी समाज-सुधार के कार्य किये थे, पर कट्टर हिन्दुओं ने उनका विरोध किया था और वर्षों तक दोनों मतों के लोगों में बड़ा झगड़ा चला था। इसी ऐतिहासिक झगड़े को इस उपन्यास में एक कहानी का रूप दिया गया है। संक्षेप में इस उपन्यास का कथानक यों है—

"कृष्णदयाल बाबू पछाँह में सरकारी नौकरी करते थे। उनके साथ उनकी स्त्री आनन्दमयी थी। उसी जमाने में १८५७ का सिपाही-विद्रोह हुआ। बहुत से अंग्रेज मारे गए। एक मेम ने, जिसका पति मारा गया था, कृष्णदयाल बाबू के घर में आश्रय लिया। उसने वहीं एक पुत्र को जन्म दिया और मर गई। कृष्णदयाल बाबू ने उस लड़के को अपना लिया, सच तो यह है कि आनन्दमयी ने उसे अपना लड़का करके पालना शुरू किया, और उसका नाम गोरा रखा गया। यह गोरा पढ़ने-लिखनें में बहुत चतुर निकला। उसकी रुचि धर्म की ओर

थी, और वह बहुत कट्टर सनातनी बन गया।

कृष्णदयाल बाबू नौकरी के जमाने में तो बिलकुल उदार थे, पर जब वे पेन्शन लेकर कलकत्ता लौटे तो वे बहुत कट्टर निकले। हर समय साधु-सन्तों की सेवा करते थे, यहाँ तक कि जिस हिस्से में वे भजन-पूजन करते थे उसमें आनन्दमयी और गोरा का भी जाना मना था। गोरा को अपने जन्म के रहस्य का पता नहीं था और न किसी और को ही यह ज्ञात था। कृष्णदयाल को गोरा से कोई विशेष प्रेम नहीं था, पर वे इसलिए इस बात को छिपाए हुए थे कि उन्हें यह डर था कि कहीं ब्रिटिश सरकार को पता लग जाय, तो उनकी पेन्शन न बन्द हो जाय। आनन्दमयी इस कारण नहीं बताती थी कि उसे गोरा से बहुत प्रेम था, और वह डरती थी कि कहीं गोरा को अपने जन्म का पता न लग जाय। उन्हें आशंका थी कि इससे वह उनसे अलग हो जायगा।

विनय के साथ गोरा की बहुत मित्रता थी। विनय भी बहुत उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुका था, गोरा के साथ उनका सम्बन्ध गुरु-शिष्य का था, और दोनों बैठकर इस बात पर सोचा करते थे कि देश की उन्नति कैसे हो। गोरा ब्रह्म समाज के उन लोगों को बहुत बुरा समझता था कि जिन्हें अपने देश में कोई अच्छी बात दिखाई नहीं देती थी।

एक दिन विनय अपने घर में बैठा हुआ था कि उसके घर के सामने एक एक्सीडेण्ट हो गया। एक किराये की गाड़ी पर एक बूढ़े सज्जन और उनकी कन्या जा रहे थे कि उधर से एक प्राइवेट गाड़ी आई। दोनों में टक्कर हुई, और किराये वाली गाड़ी उलटते-उलटते बची। बूढ़े सज्जन को या उनकी कन्या को कोई चोट तो नहीं आई, पर बूढ़े सज्जन का सिर घूम गया। विनय ने दौड़कर उन सज्जन को अपने घर में बुला लिया, और जब वे बेहोश होने लगे तो डॉक्टर बुलवा दिया। थोड़ी ही देर में वे ठीक हो गए, और ये बूढ़े सज्जन परेश बाबू घर चले गए। उनके साथ जो लड़की थी वह उनकी लड़की नहीं थी, पर दोनों में पिता-पुत्री से भी बढ़कर घनिष्ठ सम्बन्ध था। उस लड़की का नाम सुचरिता था।

परेश बाबू ब्रह्म समाज के थे। उनकी कई अपनी लड़कियाँ भी थीं। अब विनय का इनके घर आना-जाना शुरू हुआ। विनय ने यह जो समझ रखा था कि ब्रह्म समाज के लोग ऐसे होते हैं और वैसे होते हैं, उसने व्यवहार में देखा कि वे भी दूसरों की ही तरह आदमी हैं, और परेश बाबू तो बहुत ही सज्जन मालूम हुए।

परेश बाबू कृष्णदयाल बाबू के किसी तरह के जाने-पहचाने थे। इसलिए

उन्होंने एक दिन गोरा से कहा कि वह जाकर उनसे मिल आय। वह गया तो उसे विनय भी वहीं पर दिखाई पड़ा। उस दिन वहाँ एक हारान बाबू भी मौजूद थे। यह ब्रह्म समाज के नवयुवक नेताओं में थे। वे स्वयं यह समझते थे कि उनकी शादी सुचरिता से होगी। विचारों में वे कट्टर होने के साथ ही बड़े वहमी स्वभाव के थे। गोरा और उनमें फौरन जोर की बहस हुई। गोरा ने अपने देश और सनातन समाज का पक्ष लिया, और हारान ने उसका डटकर विरोध किया।

विनय परेश बाबू के घर पर बहुत अधिक जाने लगा, और घर भर से उसकी दोस्ती हो गई। गोरा नें इसका विरोध किया, पर आनन्दमयी,जिसे विनय भी माँ कहकर पुकारा करता था, इसमें कोई बुराई नहीं देखती थी। इस बात को लेकर गोरा और विनय में काफी झगड़ा हो गया, यहाँ तक कि गोरा ने यह समझ लिया कि विनय से उसका सम्बन्ध टूट चुका है। विनय बड़ी उधेड़-बुन में रहा, कभी इधर जाता, तो कभी उधर जाता। उसका मन धीरे-धीरे परेश बाबू की कन्या ललिता की ओर झुक रहा था। पर वह इस बात को स्वीकार करना नहीं चाहता था। मानो इस बात को अस्वीकार करने के लिए उसने गोरा के सौतेले भाई की लड़की से शादी करना स्वीकार कर लिया, पर तब तक आनन्दमयी को ललिता के साथ उसके स्नेह का,पता लग चुका था, इस कारण उन्होंने यह शादी नहीं होने दी। गोरा तो पहले ही विनय से निराश होकर अपने काम में अन्य साथियों को लेकर चलने का निश्चय कर चुका था।

परेश बाबू की स्त्री वरदा सुन्दरी बहुत कट्टर ब्राह्म थी, और अन्य किसी समाज में भी भलाई हो सकती है इस बात को मानने के लिए वह तैयार नहीं थी। वह गोरा यहाँ तक कि विनय को विशेष पसन्द नहीं करती थी। उन्हें तो हारान जैसे लोग पसन्द थे। पर परेश बाबू सन्त स्वभाव के व्यक्ति थे इस कारण वरदा सुन्दरी का वश नहीं चलता था। वह हाकिमों के घर आना-जाना बड़े सम्मान की बात समझती थी। इसलिए जब एक बार यह प्रस्ताव हुआ कि लाट साहब आ रहे हैं और उसमें उनकी कन्याओं को अंग्रेजी कविता आदि आवृत्ति करने का मौका मिलेगा, तो वह बहुत खुश हुई। एक आदमी कम पड़ता था, सो उसके लिए विनय को राजी कर लिया गया।

उधर गोरा को यह खयाल आया कि देश को अच्छी तरह जानना चाहिए। इस कारण वह लोटा-कम्बल लेकर गाँव-गाँव में घूमने लगा। इसी सिलसिले में उसने कहीं पर देखा कि गाँव वालों के साथ सरकारी अफसर ज्यादती कर

रहे हैं। बस इस बात पर गोरा उनसे भिड़ गया। पहले तो हाकिम ने उसे समझाया, पर जब वह उनकी बातों को मानने के लिए राजी नहीं हुआ तो उसे जेल भेज दिया गया। विनय, ललिता वगैरा कविता-आवृत्ति करने के लिए उसी हाकिम के यहाँ अतिथि बनकर गए थे। ज्यों ही विनय को इस बात का पता लगा, उसने छोटे लाट के सामने कविता आदि पढ़ने यहाँ तक कि उस हाकिम के यहाँ और एक मिनट भी रहने से इन्कार किया। ललिता ने भी उसका साथ दिया। पर वरदा सुन्दरी और हारान इस घटना को इस दृष्टि से देखने के लिए तैयार नहीं हुए। हारान ने तो गोरा पर ही दोष लगाया। पर विनय नहीं माना। विनय और ललिता उसी समय वहाँ से रवाना हो गए, और घर चले गए।

हारान बाबू की कट्टरता तथा कई मौकों पर उनका व्यवहार देखकर सुचरिता उनसे खिन्न हो चुकी थी। जिन दिनों गोरा बाहर था, उन्हीं दिनों उसने करीब-करीब स्पष्ट रूप से हारान बाबू को यह कह दिया था कि वह उनसे शादी करना नहीं चाहती। फिर भी हारान बाबू निराश नहीं हुए थे और समझते थे कि यह सुचरिता का एक खयाल है, जो समय पाकर दूर हो जायगा। वह अपने को बहुत लायक वर समझता था, पर सुचरिता उसे विशेष सम्मान की दृष्टि से नहीं देखती थी। हारान ने परेश बाबू से कहा कि वे सुचरिता पर अपना असर डालें, पर वह इस मामले में हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझते थे। वरदा सुन्दरी ने सुचरिता को समझाया, केवल यही नहीं उन्होंने उस पर सब तरह से दबाव डाले, पर सुचरिता नहीं मानी।

जब हारान ने यह परिस्थिति देखी, तो उसने परेश बाबू के विरुद्ध प्रचार कार्य शुरू किया। यद्यपि परेश बाबू बहुत उदार व्यक्ति थे, तो भी वे ब्राह्म थे और यह चाहते थे कि ब्राह्म गण उन्हें अच्छा कहें। इस कारण हारान ने ललिता और विनय के एक साथ स्टीमर पर चले आने की घटना को लेकर एक तूफान खड़ा कर दिया। जब विनय को इस बात का पता लगा तो वह हिचकिचाया कि क्या करे। आनन्दमयी ने सारी बात समझकर उसे ललिता के साथ शादी करने की सलाह दी। पर अड़चन यह थी कि किस मत से शादी हो, ब्राह्म मत से या हिन्दू मत से। विनय ने जब देखा कि इतनी सी बात है, तब वह ब्राह्म बनने पर तैयार हुआ, पर ललिता ने उसे यह त्याग करने से रोका। आनन्दमयी ने भी इसे पसन्द नहीं किया। गोरा तथा उसके साथी तो इसके विरोधी थे ही।

गोरा के छूटने के बाद केवल हिन्दू धर्म की विजय दिखलाने के लिए उसके

शिष्यों ने यह तय किया कि धूम-धाम से प्रायश्चित्त किया जाय। कृष्णदयाल बाबू गोरा को समझाते रहे, पर गोरा या उसके शिष्यों ने इस बात को नहीं माना।

बड़े जोर से प्रायश्चित्त की सभा बैठी हुई थी। इतने में खबर आई कि कृष्णदयाल बाबू बहुत सख्त बीमार हैं और उनके मुँह से खून आ रहा है। गोरा प्रायश्चित्त छोड़कर घर आया। कृष्णदयाल बाबू की हालत खराब थी। उन्होंने समझा कि उनका अन्तिम समय आ चुका है, इस कारण उन्होंने गोरा को उसके जन्म का रहस्य बता दिया, और यह कह दिया कि क्यों वे स्वयं कट्टर होते हुए भी उसके कट्टरपन का विरोध करते रहे। कृष्णदयाल बाबू की बीमारी मामूली साबित हुई। डॉक्टर ने कहा कि कोई खतरा नहीं है।

गोरा को जब यह ज्ञात हो गया कि वह एक आयरिशमैन का लड़का है, तब वह समझ गया कि क्यों कृष्णदयाल स्वयं कट्टर होते हुए भी बराबर उसे कट्टर सनातनी आचारों से रोकते थे, उसकी समझ में यह भी बात आ गई कि क्यों आनन्दमयी के विचार इतने उदार थे। आनन्दमयी ने उसे कभी कहा था, 'बेटा तुझे गोद में पाकर मैं धर्म के असली मतलब को समझ गई थी और कट्टरता से भागती हूँ।' आनन्दमयी को यह जो डर था कि गोरा अपनें जन्म का रहस्य जान जायगा, तो वह उससे अलग हो जायगा, यह गलत साबित हुआ। दोनों में जिस बन्धन की सृष्टि हो चुकी थी, वह अमिट था। गोरा को जब सब-कुछ मालूम हो गया, तो वह पुकार उठा—"मां·····"

आनन्दमयी ने कहा —"बेटा·····"

फिर गोरा बोला—"माँ, मैं तुम ही में अपने स्वप्न की भारत माता को पाता हूँ, वह भारत माता जिसके लिए सभी सम्प्रदाय एक से हैं और उनमें कोई भेद नहीं।"

ललित और विनय के विवाह के कारण हारान तथा अन्य कट्टर ब्राह्मों ने इतना शोर मचाया था कि बेचारे परेश बाबू पहाड़ जाकर इससे बचने की तैयारी कर रहे थे। सुचरिता भी उनके साथ जा रही थी। इतने में गोरा ने आकर उन लोगों को अपनें जन्म के रहस्य की बात बताई, और बताया कि कट्टरता उसके लिए कितनी गलत थी। सुचरिता के प्रति उसका जो प्रेम कट्टरता के कारण दबा हुआ था, अब उसकें मार्ग में कोई बाधा नहीं रही। परेश बाबू ने दोनों को आशीर्वाद दिया।

अब तो विनय और गोरा में कोई भेद-भाव नहीं रहा, कट्टरता का मोह हट

गया, और आनन्दमयी भारत माता की सब सन्तानें एक हो गईं।

यह रहा इस उपन्यास का सार भाग। स्वाभाविक रूप से इस उपन्यास के सम्बन्ध में बहुत तीव्र वाद-विवाद हुए और जब १६०८-६ के लगभग यह प्रकाशित हुआ, तो इसको लक्ष्य करके एक आँधी-सी चल पड़ी। रवीन्द्रनाथ को बहुत भला-बुरा कहा गया, और यहाँ तक कहा गया कि उन्होंने कला की आड़ में ब्राह्म साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहित किया है।

मैंने स्वयं इस उपन्यास को कई बार पढ़ा है। इसमें सन्देह नहीं कि इस उपन्यास में बहुत अप्रिय सत्य हैं। ये सत्य जितने अप्रिय लगते हैं या लग सकते हैं, जिस युग में यह उपन्यास प्रकाशित हुआ था, उस युग में आज से अधिक अप्रिय अथवा कटु रहे होंगे। यह निश्चित है।

सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्,
न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
परन्तु आज यही अभीष्ट है।

मैंने इस उपन्यास को, विशेषकर इसके अन्तिम भाग को बहुत ध्यानपूर्वक पढ़ा है और मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि भले ही रवीन्द्रनाथ एक ब्राह्म-परिवार में पले हों, ऐसा परिवार, जो ब्राह्म समाज का नेतृत्व करता था, परन्तु वे इस उपन्यास में किसी प्रकार की भी संकीर्णता से बहुत ऊँचे उठ गए हैं। आगे चलकर उन्होंने अपने हिबार्ट व्याख्यान में जिस मानव धर्म का प्रतिपादन किया था, उसी को हम इस उपन्यास में प्रतिफलित पाते हैं।

जिन लोगों ने 'गोरा' नामक उपन्यास नहीं पढ़ा है, उनकी अवगति के लिए बता दूँ कि इस उपन्यास में कवीन्द्र ने उस समय के बंगाल के सनातन हिन्दू समाज और ब्रह्म समाज के संघर्ष को दिखाया है। यह संघर्ष बड़ा प्रचण्ड था जैसा कि इस उपन्यास में भी प्रतिफलित हुआ है। सारे समाज में यह संघर्ष तथा हृदय-मंथन चल रहा था कि नवीन विचारों को कहाँ तक अपनाया जाय और रुढ़ि को कहाँ तक छोड़ा जाय। यदि रवीन्द्रनाथ इस संघर्ष को इस रूप में दिखाते कि मानो ब्रह्म समाज सारी प्रगति का द्योतक है, और सनातन समाज में केवल प्रतिक्रिया-मात्र है, तो उनका यह उपन्यास कला की कोटि से निकलकर 'पार्टी लिटरेचर' यानी दलगत साहित्य की श्रेणी में आ जाता, पर रवीन्द्रनाथ ने ऐसा नहीं किया है।

गोरा और विनय इस उपन्यास के दो प्रमुख पात्र हैं। दोनों सनातनी हिन्दू हैं, घटना-चक्र ऐसा होता है कि दोनों सनातन समाज के स्वीकृत दायरे से अन्त तक निकल जाते हैं, पर वे ब्रह्म सम्प्रदाय की दीक्षा नहीं लेते। विनय

अपेक्षाकृत दुर्बल चित्त व्यक्ति है, पर वह ब्राह्म धर्म में दीक्षा लेने के लिए तैयार हो जाने पर भी अन्त तक इस इच्छा से अलग हो जाता है। इसी प्रकार इस उपन्यास की दो मुख्य नायिका ललिता और सुचरिता ब्राह्म होती हुई भी ब्राह्म नहीं रहतीं, अर्थात् वे अपना कल्याण संकीर्ण ब्राह्म समाज के बाहर ही खोज लेती हैं। इस प्रकार से उपन्यास का अन्त होता है। अन्त में कबीर साहब की मानो वही वाणी प्रतिध्वनित होती है—

'अरे इन दोउन ने राह न पाई'

और एक तृतीय मार्ग अर्थात् इस समस्त साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर कल्याण का मार्ग दिखाई पड़ता है।

इस उपन्यास में ब्राह्म समाज की कट्टरता का उसी प्रकार से पर्दा-फाश किया गया है, जिस प्रकार से सनातन समाज पर चाबुक लगाये गए हैं। सच तो यह है कि हारान और वरदा सुन्दरी चरित्र में उन्होंने ब्राह्म कट्टरता का साथ-ही-साथ ब्राह्म समाज कमेटी तक का जिस तरह पर्दा-फाश किया है और उन्हें नग्न रूप में दिखलाया है, वह हिन्दू समाज के कट्टर पात्रों की कट्टरता से कहीं अधिक स्पष्ट है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि एक ब्राह्म होने के नाते हमारे कवीन्द्र ब्रह्म समाज का अधिक प्रत्यक्ष परिचय रखते होंगे। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश साम्राज्यवाद की छत्र-छाया में ब्राह्मगण अपने को जो बहुत श्रेष्ठ समझते थे, इस कारण उन पर कसकर चाबुक लगाने की आवश्यकता थी। रवीन्द्रनाथ ने बिलकुल निष्पक्ष भाव से इस कार्य को किया, अपितु जैसा कि मैं बता चुका हूँ ब्रह्म समाज पर ही उनकी चोटें अधिक हुई हैं। अवश्य उस युग में लोगों ने जो यह कहा था कि यह उपन्यास हिन्दू समाज पर अधिक तीव्र कटाक्ष करता है, सो मैं तो यह बता ही चुका हूँ कि यह उपन्यास अप्रिय सत्यों का एक पिटारा-सा है, और चूँकि हिन्दू समाज में ऐसे विन्दु अधिक थे जिन पर चोट लग सकती थी, इसलिए यदि हिन्दू समाज के लोगों को यह मालूम हुआ कि उन पर चोट अधिक की गई है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

यद्यपि अब ब्रह्म समाज तथा हिन्दू समाज के लोगों में कोई विशेष प्रभेद नहीं रहा, या यों कहा जाय कि समस्त हिन्दू समाज अब ब्रह्म समाज की उन तमाम बातों को अपना चुका है जो सुन्दर थीं, और ब्रह्म समाज अपनी आत्मतुष्ट गर्वित भावनाओं को त्याग चुका है परन्तु आज भी 'गोरा' उपन्यास पाठकों को यथेष्ट रसास्वादन कराता है। ऐसे उपन्यास, जो समसामयिक वाद-विवादों को लेकर लिखे जाते हैं जैसे प्रेमचन्द ने अनुमानतः अपने सारे उप-

न्यास लिखे हैं, उनके सम्बन्ध में अक्सर यह भी कहा जाता है कि उस प्रकार के वाद-विवादों का अन्त होते ही वे उपन्यास भी समाप्त हो जाते हैं। पर आज भी 'गोरा' को पढ़ने पर यह ज्ञात होता है कि यदि किसी समसामयिक वाद-विवाद को लेकर या किसी समसामयिक आन्दोलन पर कोई उपन्यास या काव्य-कृति लिखी जाती है, और वह इतनी उत्कृष्ट होती है कि साहित्य की श्रेणी में आ जाय, तो उसके समाप्त होने की कोई आशंका नहीं रह जाती। विश्व-साहित्य में इसके बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। रामायण, महाभारत, ओडिसी से लेकर विक्टर ह्यूगो के 'लामिजेराबल' और '६३' से लेकर टाल्स्टाय की 'युद्ध और शान्ति' और ऐसी सैकड़ों पुस्तकें समसामयिक आंदोलनों तथा उफानों को लेकर लिखे गए हैं। ये आन्दोलन कब के समाप्त हो चुके, ये उफान कब के बैठ चुके, पर उनको आधार मानकर जिस साहित्य की रचना हुई, वह किसी भी रूप में पुराना नहीं हुआ और ज्यों-का-त्यों ताजा बना हुआ है।

सच तो यह है कि 'गोरा' जिस समय लिखा गया था, उसी समय ब्रह्म समाज और हिन्दू समाज के इस आपसी विवाद का जोश बहुत-कुछ मर चुका था। इस अर्थ में 'गोरा' उसी समय बहुत-कुछ एक ऐतिहासिक उपन्यास था। इस समय तो गोरा, हारान बाबू, सुचरिता, विनय, वरदासुन्दरी बहुत-कुछ उसी प्रकार से ऐतिहासिक पात्र हैं, जिस प्रकार से राणा प्रतापसिंह, शिवाजी, अकबर, औरंगज़ेब आदि हैं। किसी उपन्यास के ऐतिहासिक होने की कसौटी केवल इतनी ही नहीं है कि उसके पात्र तथा पात्रियाँ वास्तविक रूप से ऐतिहासिक थीं। परख तो इस बात में है कि उस उपन्यास में जिन पात्रों तथा पात्रियों का वर्णन किया गया है, वे उस युग में हो सकते थे या नहीं। यदि वे पात्र तथा पात्रियाँ उस युग में हो सकते थे, और वे उसी प्रकार से सोचते हैं जैसा कि उस युग के व्यक्ति सोचते थे तो वह उपन्यास ऐतिहासिक वस्तुवाद के आधार पर सही उतरता है। उस अवस्था में उस उपन्यास के मर जाने का कोई डर नहीं है, क्योंकि उपन्यास अर्थात् सफल उपन्यास किसी समसामयिक आदोलन के तानें-बाने को भले ही ग्रहण कर ले, उनका बाकी ढाँचा और बनावट ऐसे सर्वकालीन आधार पर बनी होती है कि वह उपन्यास हमेशा दिलचस्पी का विषय बना रहता है।

यही बात 'गोरा' उपन्यास के सम्बन्ध में कही जा सकती है। तो क्या 'गोरा' अब एक ऐतिहासिक उपन्यास-मात्र है? नहीं, हमने जिस विस्तृत अर्थ में ऐतिहासिक उपन्यास का प्रयोग किया है, उस अर्थ में तो सभी वस्तुवादी उप-

न्यास ऐतिहासिक उपन्यास कहे जा सकते हैं। इसीलिए यह स्पष्ट कर दिया जाय कि साधरण अर्थ में ऐतिहासिक उपन्यास केवल उसी उपन्यास को कहा जाता है, जो एक ऐसे काल के लोगों को लेकर लिखा गया हो जिसे लोग वर्तमान काल न मानकर ऐतिहासिक काल के अन्तर्गत मानते हैं। इस अर्थ में 'गोरा' को वस्तुवादी उपन्यास कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

अवश्य आज वस्तुवाद में जिन बातों को अत्यन्त अपरिहार्य समझा जाता है, उनमें से कई उपादान गोरा में नहीं मिलेंगे, जैसे आर्थिक अवस्था तथा वर्गों का संघर्ष फिर भी रवीन्द्रनाथ के साथ न्याय करने के लिए यह बता देना आवश्यक है कि गोरा के भ्रमण के बहाने उस समय ग्राम-वासियों की दुर्दशा का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही यह भी बता दिया जाय कि ग्रामवासियों की आर्थिक दुर्दशा के बजाय गोरा उनके विचारों के सम्बन्ध में ही अधिक चिन्तित है, और इस कारण इस पुस्तक में इसी विषय का अधिक व्यापक वर्णन आता है।

मैंने बार-बार इस बात को कहा है कि इस उपन्यास में उस समय होने वाले विचारों के संघर्ष पर ही अधिक महत्त्व दिया गया है, पर बाद के लेखकों की तरह खुले शब्दों में न सही, गोरा ने यह अनुभव कर लिया था कि जनता को अज्ञान की कीचड़ से उठने देने में यदि एक-मात्र नहीं तो अन्यतम प्रधान बाधक बृटिश साम्राज्यवाद था। इसी कारण गोरा को बृटिश साम्राज्यवाद के साथ संघर्ष में जाना पड़ा, और जेल की यात्रा भी करनी पड़ी। स्मरण रहे कि उस समय भारतवर्ष में व्यापक रूप से सत्याग्रह का प्रारम्भ नहीं हुआ था। हाँ, स्वदेशी आन्दोलन के सिलसिले में भद्र अवज्ञा का किसी-न-किसी रूप में प्रयोग हुआ था। यह भी एक बहुत सुन्दर बात है कि गोरा ने जमानत देकर छूटने से इन्कार किया। उसने जमानत देने में इन्कार करते हुए जो बात कही वह भी बड़े मार्के की है। उसने इस कारण जमानत देने से इन्कार किया कि जिन ग्रामवासियों को लेकर वह जेल गया था उनमें से केवल उसी के लिए जमानत देकर छूटना सुलभ था, बाकी लोग जमानत नहीं दे सकते थे। 'गोरा' में इस प्रकार जो साधारण जनता के साथ एक होकर जीने और मरनें की प्रवृत्ति है, वही सब प्रकार के जन-आन्दोलनों की आत्मा है। दुःख है कि 'गोरा' उपन्यास के इन पहलुओं पर बँगला के अच्छे समालोचकों तक ने ध्यान नहीं दिया।

'गोरा' में न तो राजनीतिक मुक्ति के स्वरूप का ही कोई स्पष्टीकरण किया गया है, और न इसमें उसके मार्ग का ही कोई निर्देश किया गया है, फिर भी

इस उपन्यास में यह बात भली-भाँति दरसा दी गई है कि साम्राज्यवाद के साथ एक अपरिहार्य कर्तव्य है। रवीन्द्रनाथ इस पहलू को उसके तार्किक उपसंहार तक नहीं ले जाते। यह पहलू बीच ही में छूट जाता है।

अन्त इस प्रकार होता है कि सभी मुख्य पात्र तथा पात्रियाँ साम्प्रदायिकता से अलग हो जाती हैं और ऊपर उठ जाती हैं। गोरा, जिसे इस उपन्यास का प्रधान नायक कहा जा सकता है, अपनी कट्टरता छोड़कर अपने को भारत के मानव-समाज का एक अंग समझ लेता है। उसम कोई भेद-भाव नहीं रह जाता। केवल यही नहीं यह एक प्रगतिवादी अन्त हुआ है, पर केवल गोरा के विचार बदल जाने से, या गोरा और सुचरिता के अपनी-अपनी कट्टरता के कठघरों से निकट आकर एक दूसरे से मिलित होने पर देश की समस्या तो वहीं रह जाती है। विचार-परिवर्तन विशेषकर कूपमण्डूकता को छोड़कर उच्चतर विचार ग्रहण करना अपनी जगह पर एक बहुत बड़ी बात है, और सच तो यह है कि अच्छे विचार हुए बिना तथा अच्छा परिप्रेक्षित प्राप्त किये बिना कोई अच्छा काम नहीं हो सकता पर केवल विचारों से कुछ हुआ नहीं करता। अवश्य उपन्यासकार के लिए यह कोई ठेका नहीं है कि वह अन्त तक प्रत्येक पात्र की सारी ब तों को बताये, पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि यदि यह समझा जाय कि जब गोरा के विचार कट्टर थे, तब वह कर्मशील था, और जब उसके विचार उदार हो गए तो वह शादी करके घर बैठ गया तो यह तो कोई विशेष प्रगति नहीं हुई।

इस एक त्रुटि के अतिरिक्त 'गोरा' उपन्यास भारतीय साहित्य का एक अमर उपन्यास है। केवल यही नहीं, यह कहा जा सकता है कि बाद के उपन्यास-कारों के लिए जिनमें शरत् और प्रेमचन्द थे, यह एक 'माडेल' के रूप में रहा।

७

प्रेमचन्द का असमाप्त उपन्यास 'मंगल सूत्र'

सब-कुछ कह-सुन लेने के बाद अब भी प्रेमचन्द हिन्दी भाषा के सबसे बड़े उपन्यासकार रह गए हैं। आधुनिक समय में हिन्दी में बहुत-से उपन्यासकार हैं और उनमें से कइयों ने अच्छी प्रतिभा का परिचय दिया है, पर प्रतिभा और साथ-ही-साथ सृष्टि-शक्ति की विपुलता, ये दोनों गुण प्रेमचन्द के अतिरिक्त किसी दूसरे उपन्यासकार में अभी तक एक साथ नहीं पाए गए। प्रेमचन्द ने अच्छा भी लिखा और बहुत अधिक भी लिखा।

उनके लिखे उपन्यास ये हैं— (१) वरदान, (२) प्रतिज्ञा, (३) सेवा सदन, (४) प्रेमाश्रम, (५) रंगभूमि, (६) कायाकल्प, (७) गबन, (८) निर्मला, (९) कर्मभूमि तथा (१०) गोदान। इनके अतिरिक्त उन्होंने लगभग २५० कहानियाँ भी लिखी हैं। किन्तु यही उनकी सारी रचना नहीं है। उन्होंने शेख-शादी की जीवनी आदि कई अन्य पुस्तकें भी लिखी हैं जो इतनी परिचित नहीं हैं। दो नाटक भी उन्होंने लिखे, जो सफल नहीं हुए। उन्होंने अन्य कई क्षेत्रों में प्रयास किया, पर वे उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में ही सबसे अधिक सफल हैं और इस क्षेत्र में वे अभी तक हिन्दी-साहित्य में अपराजित हैं।

मैं अपनी 'कथाकार प्रेमचन्द' नामक पुस्तक में प्रेमचन्द की कला पर विस्तार के साथ आलोचना कर चुका हूँ। यहाँ उसकी पुनरावृत्ति करने की न तो आवश्यकता है और न उसके लिए स्थान ही है। फिर भी भूमिका के रूप में कुछ शब्द यहाँ देना आवश्यक है। मैंने उपर्युक्त पुस्तक में, प्रेमचन्द की कला की आत्मा का विवेचन इन शब्दों में किया था—

"उनकी कला का विकास हाथीदाँत के मीनार पर बैठकर कमल चर्वण करते-करते नहीं हुआ, बल्कि जीवन के कठोर संग्राम के दौरान में उसका विकास हुआ। उनकी कला में भले ही रेती से साफ की हुई परिष्कृति नहीं आई हो, किन्तु उसमें जीवन की तड़पन और शोणित का प्रवाह खूब आया।

यदि प्रेमचन्द और अधिक दिन जीवित रहते तो अवश्य ही उनका साहित्य और भी सुदूर विस्तृत होता, किन्तु जैसा कि वह है, वह भी कुछ कम विस्तृत नहीं है। बालज़क की तरह उनके उपन्यासों में दो हज़ार विशिष्ट चरित्र तो नहीं आते और उनके उपन्यासों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उनके चरित्र सर्वथा नए हैं, कई बार तो उनके कई उपन्यासों का मुख्य चरित्र एक ही व्यक्ति मालूम होता है, किन्तु फिर भी उनकी रचनाओं में न तो विशिष्ट चरित्रों का ही अभाव है और न घटनाओं का ही! 'कायाकल्प', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' तथा 'कर्मभूमि' के नायक बहुत-कुछ एक टाइप के होने पर भी वे व्यक्तित्व-हीन हो गए हों, ऐसी बात नहीं। उनकी सबकी अपनी-अपनी कमजोरियाँ, खामख्यालियाँ तथा गुण-अवगुण मौजूद हैं।" (पृष्ठ ६५७)

उसी पुस्तक में बाद में चलकर समसामयिक भारतीय उपन्यास-साहित्य में प्रेमचन्द की कला के मूल्य को कूतते हुए मैंने लिखा था—"एक दूसरे माप-दंड से नापने पर भी प्रेमचन्द की रचनाएँ बहुत विस्तृत ठहरती हैं। वह माप-दंड यह है कि क्या उनके उपन्यासों के पढ़ने से समसामयिक हिन्दी-हिन्दुस्तानी-भाषी लोगों का एक खाका हमारी आँखों के सामने खिच जाता है या नहीं। इसका उत्तर हाँ में देना पड़ेगा। सच बात तो यह है कि किसी भी एक भारतीय उपन्यासकार ने—हम इनमें रवीन्द्रनाथ, शरच्चन्द्र और कन्हैयालाल मुंशी को भी गिन रहे हैं—समसामयिक भारतीय जीवन का, उसकी समस्याओं तथा [illegible] का इतना व्यापक चित्रण नहीं किया है। रवीन्द्रनाथ और शरत् बा[illegible] हम एक-मात्र आतंकवाद के अतिरिक्त भारत के राजनीतिक संग्राम [illegible]छ भी पता नहीं पाते। अवश्य रवीन्द्रनाथ के नाटक 'अचलायतन', '[illegible]तकषी', तथा उपन्यास 'घरेबा रे' और 'चार अध्याय' को समसामयिक राजनीतिक आन्दोलनों के साथ संयुक्त कया जा सकता है, किन्तु इनकी राजनीति व्यावहारिक राजनीति से इतनी दूर है कि पाठक यदि चाहे तो भुला सकता है कि इनका राजनीति के साथ कुछ सम्बन्ध भी है। इस प्रकार शरत् बाबू 'पथेरदावी' के अतिरिक्त कहीं भी राजनीति के पास नहीं फटकते। शरत्बाबू के सैकड़ों नायक-नायिकाएँ अपने युग में चलने वाले इन संग्रामों तथा आन्दोलनों से बिलकुल बेखबर हैं। वर्ग-संघर्ष के चित्रण की दृष्टि भी प्रेमचन्द में शरत्बाबू से उच्चतर है। यह ठीक है कि उनकी कला उतनी निखरी हुई नहीं है, और अक्सर शिथिल भी है किन्तु यह दूसरी बात है। किसान की एक जात है, किन्तु उसके कितने खून चूसने वाले हैं, इस बात को यदि किसी को जानना हो तो इस सम्बन्ध में समाजवादी दलों की दस पुस्तिकाओं से

इतना नहीं जानेगा, जितना प्रेमचन्द के एक 'गोदान' से जान सकता है।"
(पृष्ठ ६६७)

प्रेमचन्द की कला की भूमिका के रूप में इतनी बातें कह देने के बाद अब मैं इस लेख के विषय पर आता हूँ। प्रेमचन्द के प्रेमी पाठक जानते हैं कि जिस समय उनका देहान्त हुआ उस समय वे 'मंगल सूत्र' नाम का एक उपन्यास लिख रहे थे, पर अकाल मृत्यु के कारण वे उसे समाप्त नहीं कर सके। अब यह अधूरा उपन्यास 'मंगल सूत्र' नाम से ही बनारस के 'हिन्दुस्तान-पब्लिशिंग-हाउस' से प्रकाशित हुआ है। पहले यह खबर मिली थी कि प्रेमचन्दजी के सुपुत्र श्री अमृतराय जी इस अधूरे उपन्यास को पूरा कर रहे हैं, और वह सम्पूर्ण होकर ही प्रकाशित होगा। इस सम्बन्ध में कुछ लोगों की राय थी कि इस प्रकार प्रेमचन्द के एक उपन्यास को पूरा करके जनता के सामने रखना धोखेबाजी होगी, पर मैं बराबर यह मानता रहा कि इस उपन्यास के इस प्रकार पूर्ण होकर प्रकाशित होने में उस दशा में तो कोई हानि नहीं, यदि प्रकाशकों की तरफ से यह साफ-साफ बता दिया जाय कि उपन्यास का इतना अंश प्रेमचन्द का लिखा हुआ है, और इतना दूसरे का। साहित्य के इतिहास में कई बार ऐसा हो चुका है। अस्तु।

पर 'मंगल सूत्र' जिस रूप में प्रकाशित हुआ है, उसे एक उपन्यास न कहकर एक ऐतिहासिक आलेख या Document कहना ही अधिक उचित होगा। इसको तो वे ही लोग पढ़ेंगे जो प्रेमचन्द-साहित्य के विकास का अध्ययन करना चाहते हैं, या जो यह जानना चाहते हैं कि अपने अन्तिम दिनों में उस महान् कलाकार की विचार-धारा किधर को बह रही थी, तथा उसकी कला परिष्कृत किस प्रकार हुई। इसलिए इस पुस्तक में एक भूमिका होनी चाहिए थी, जिसमें यह बताया जाता कि प्रेमचन्द ने यह उपन्यास किन दिनों में और किन परिस्थितियों में लिखा। आलेख के रूप में ही महत्त्वपूर्ण होने के कारण

इसमें उनकी पत्नी तथा पुत्रों का इससे सम्बन्धित कोई वक्तव्य जोड़ दिया जाता तो अच्छा रहता ।

जब यह पुस्तक मेरे सामनें आई तो मुझे तो यह भी पता नहीं चला कि इसमें केवल उतना ही अंश है जितना प्रेमचन्द ने लिखा था या कुछ जोड़ा भी गया है। जब मैंने इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द के सुपुत्र श्री श्रीपतराय से पत्र लिखकर पूछा तभी मुझे पता लगा कि केवल उतना ही अंश छापा गया है जितना प्रेमचन्द ने लिखा था। अच्छा हो कि द्वितीय संस्करण में इन सारी बातों पर प्रकाश डालते हुए एक छोटी-सी भूमिका जोड़ दी जाय।

'मंगल सूत्र' जिस रूप में प्रकाशित हुआ है, इसमें मुश्किल से तेरह हजार शब्द होंगे। संक्षेप में इसका कथानक यों है—

बड़े बेटे संतकुमार को वकील बनाकर, छोटे बेटे साधुकुमार को बी. ए. की डिग्री दिलाकर और छोटी लड़की पंकजा के विवाह के लिए स्त्री के हाथों में, पाँच हजार रुपये नक़द रखकर, साहित्यिक देवकुमार नें ईश्वर-चिन्तन में सारा समय बिताने का विचार किया। पर साहित्यिक के नाते उनमें एक अकड़ भी थी और वे चाहते थे कि राजा और रईस उनके द्वार पर आयँ और उनकी खुशामद करें, जो एक अनहोनी बात थी। पहले वे साहित्य-अनुशीलन में अपना सारा समय बिताते थे, किन्तु इधर उन्हें साहित्य से कुछ अरुचि हो गई थी।

देवकुमार नें इस प्रकार अपने को धनोपार्जन से पृथक् कर लिया, यह बात बड़े बेटे संतकुमार को पसन्द नहीं थी और वह खुलकर इसका प्रतिवाद कर रहा था। देवकुमार ने अपने यौवन में बाप-दादों की जायदाद का बहुत बड़ा हिस्सा भोग-विलास में फूँक दिया था, उन्होंने जिस जमीन को मामूली दाम पर बेचा था, अब उसका दाम लाखों पर पहुँच चुका था। संतकुमार को इस बात पर भी बड़ी चिढ़ थी और वह हर समय इस चिन्ता में घुला करता था कि वह जायदाद किसी प्रकार मुकदमा आदि करके वापस मिले। पर मुकदमे के लिए पैसों की आवश्यकता थी, और वह पैसा उसके पास था नहीं।

सन्तकुमार इस प्रकार के स्वभाव का था। पर उसका छोटा भाई साधुकुमार बराबर पिता का ध्यान रखकर चलता था। देवकुमार की पत्नी शैव्या यों तो देवकुमार के यौवन के कारनामों से सुखी नहीं थी, पर सन्तकुमार जैसे हर समय अपने पिता के पीछे हाथ धोकर पड़ा रहता था, वह उससे सहमत नहीं थी। सन्तकुमार इस सम्बन्ध में जब अति कर जाता था, तो वह उसे डाँट भी देती थी।

सन्तकुमार केवल पिता पर ही खड्गहस्त रखता हो, ऐसी बात नही। वह अपनी पत्नी पुष्पा पर भी नाराज रहता था। पुष्पा बिलकुल फल सी सुन्दर, नाजुक, हलकी फुलकी थी। वह आत्माभिमानिनी थी। जब वह पति से नाराज होती थी, तो भी घर के काम काज पहले की भाँति करती रहती थी। पर पति की ओर कभी ताकती नही थी। यही उसका अस्त्र था।"

एक बार पुष्पा नाराज हो गई तो सन्तकुमार ने मना लिया। फिर भी यह मनाना ऊपर से था। पुष्पा सधि-पत्र पर हस्ताक्षर स्वरूप पान का एक बीडा लगाकर सन्तकुमार को देती हुई बोली—"अब कभी वह बात मुँह से न निकालना। अगर मैं तुम्हारी आश्रिता हूँ तो तुम भी मेरे आश्रित हो। मै तुम्हारे घर मे जितना काम करती हूँ, इतना ही काम दूसरो के घर मे करूँ तो निर्वाह कर सकती हूँ या नही, बोलो ?"

सन्तकुमार ने कडा जवाब देने की इच्छा को रोककर कहा, "बहुत अच्छी तरह।"

"तब मै जो कुछ कमाऊँगी वह मेरा होगा। यहा मे चाहे प्राण भी दे दूँ पर मेरा किसी चीज पर अधिकार नही। तुम जब चाहो मुझे घर से निकाल सकते हो।"

"कहती जाओ, मगर उसका जवाब सुनने के लिए तैयार रहो।"

-"तुम्हारे पास कोई जवाब नही है, केवल हठधर्मी है। तुम कहोगे, यहाँ तुम्हारा जो सम्मान है वह वहाँ न रहेगा, वहाँ कोई तुम्हारी रक्षा करने वाला न होगा, कोई तुम्हारे दुख-दद मे साथ देने वाला न होगा। इसी तरह की और भी कितनी ही दलीले तुम दे सकते हो। मगर मैंने मिस बटलर को आजीवन क्वाँरी रहकर सम्मान के साथ जिदगी काटते देखा है। उनका निजी जीवन कैसा था, यह म नही जानती। सभव है, वह हिदू गृहिणी के आदर्श के अनुकूल न रहा हो, मगर उनकी इज्जत सभी करते थे, और उन्हे अपनी रक्षा के लिए किसी पुरुष का आश्रय लेने की कभी जरूरत नही हुई।

सन्तकुमार मिस बटलर को जानता था। वह नगर की प्रसिद्ध लेडी डॉक्टर थी। पुष्पा के घर से उसका अपनापन सा हो गया था। पुष्पा के पिता डॉक्टर थे और एक पेशे के व्यक्तियो मे कुछ घनिष्ठता हो ही जाती है। पुष्पा ने जो समस्या सन्तकुमार के सामने रख दी थी उस पर मीठे और निरीह शब्दो में कुछ कहना उसके लिए कठिन हो रहा था और चुप रहना उसकी पुरुषता के लिए उससे भी कठिन था।

वह दुविधा मे पडकर बोला, "मगर सभी स्त्रिया मिस बटलर तो नही हो सकती ?"

पुष्पा ने आवेश के साथ कहा, "क्यो ? अगर वह डॉक्टरी पढकर अपना व्यवसाय कर सकती है, तो मै क्यो नहीं कर सकती ?"

"उनके समाज में और हमारे समाज मे बडा अतर है।"

"अर्थात् उनके समाज के पुरुष शिष्ट है, शीलवान् है, और हमारे समाज के पुरुष चरित्र हीन है, लम्पट है, विशेषकर जो पढे-लिखे है।"

"यह क्यो नही कहती कि उस समाज मे नारियो में आत्मबल है, अपनी रक्षा करने की शक्ति है और पुरुषो को काबू मे रखने की कला है।"

"हमें भी तो वही आत्मबल, शक्ति और कला प्राप्त करना चाहती हैं, लेकिन तुम लोगो के मारे जब कुछ चलने पावे ? मर्यादा और आदर्श और जानें किन किन बहानो से हमे बचाने की और हमारे ऊपर अपनी हुकूमत जमाए रखने की कोशिश करते रहते हो।"

× × ×

पर सन्तकुमार इस समय लडना नही चाहता था। वह चाहता था कि पुष्पा अपने पिता से दस हजार रुपये दिलाए, जिससे वह मुकदमा लडकर देवकुमार की बेची हुई जायदाद वापस ले सके। पर पुष्पा पिता को यह बात लिखने पर राजी नही हुई। इस पर सन्तकुमार ने होठ चबाकर कहा, "जरा-सी बात तुमसे नही लिखी जाती, उस पर दावा यह है कि घर पर मेरा भी अधिकार है!"

पुष्पा ने जोश के साथ कहा, "मेरा अधिकार तो उसी क्षण हो गया जब मेरी गाँठ तुमसे बँधी।"

सन्तकुमार ने गर्व के साथ कहा, "ऐसा अधिकार जितनी आसानी से मिल जाता है उतनी ही आसानी से छिन भी जाता है।"

पुष्पा को ये बातें बुरी लगी, पर ये थे सन्तकुमार। हाँ, पुष्पा का मन अपने देवर साधुकुमार से बहुत बहलता था क्योकि वह बुद्धिमान् और विचारशील था। धन को ही वह एक-मात्र काम्य वस्तु नही समझता था।

सन्तकुमार को मिस्टर सिनहा का साथ मिल गया था, जो बडे कुशल वकील थे। उनका पेशा था मुकदमे बनाना। जैसे कवि एक कल्पना पर पूरा काव्य लिख डालता है, उसी तरह सिनहा साहब भी कल्पना पर मुकदमो की सृष्टि कर डालते थे। न जाने कवि क्यों नही हुए ? मगर कवि होकर वे भी साहित्य की चाहे जितनी श्री वृद्धि कर सकते, अपना कुछ उपकार नही कर

सकते थे। कानून की उपासना करके उन्हे सभी सिद्धियाँ मिल गई थी। शानदार बँगले में रहते थे, बडे-बडे रईसो और हुक्कामो से दोस्ती थी, प्रतिष्ठा भी थी, रौब भी था। कलम मे ऐसा जादू था कि मुकदमे में जान डाल देते। ऐसे-ऐसे प्रसग सोच निकालते, ऐसे ऐसे चरित्रो की रचना करते कि कल्पना सजीव हो जाती थी। बडे-बडे घाघ भी उसकी तह तक न पहुँच सकते। सब-कुछ इनना स्वाभाविक, इतना सम्बद्ध होता था कि उस पर मिथ्या का भ्रम तक न हो सकता था। वे सन्तकुमार के साथ के पढे हुए थे। दोनो मे गहरी दोस्ती थी। सन्तकुमार के मन मे एक भावना उठी, और सिनहा ने उसमे रग रूप भरकर जीता जागता पुतला खडा कर दिया, और मुकदमा दायर करने का निश्चय कर लिया गया।

सिनहा ने सन्तकुमार से कहा कि मुकदमा बन सकता है, और देवकुमार की जायदाद वापस मिल सकती है। बस इतना साबित करना था कि देवकुमार का मस्तिष्क विकृत था। सिन्हा ने सन्तकुमार से यह भी कहा कि वह जज पर असर डालने के लिए जज की लडकी 'तिब्बी' पर डोरे डालना शुरू करे। तिब्बी रूपवती थी, प्रसाधन भी खूब करती थी, पर उसके मन में पुरुषो को आकर्षित करने की भावना ज़रा भी नही थी। वह स्वय अपने रूप में मग्न थी।

फिर भी मुहासिरा शुरू हो गया। मुकदमा जो जीतना था। यद्यपि अन्य युवक तिब्बी की अवज्ञा से निराश होकर लौटते थे, पर सन्तकुमार के सयम और विचारशीलता के कारण उनकी ओर वह खिचती थी। सन्तकुमार ने उसके निकट अपने को अनमेल विवाह का शिकार बताया था। तिब्बी में वे सब अवगुण थे, जो धनियो में पाये जाते है, जैसे नौकरो को बिना कारण डाटना इत्यादि। सन्तकुमार ने चालाकी से तिब्बी को अपने वश मे कर लिया। पर वह खतरनाक हद तक न तो गया, और न जाना चाहता था, क्योंकि उसके सामने उद्देश्य स्पष्ट थे।

सिनहा के कहने से सन्तकुमार देवकुमार को इस बात पर राजी करना चाहता था कि वे अपने आपको इस मुकदमे के अनुसार बना ले। पर देवकुमार राजी नही हुए। बोले कि वे थोडे से रुपयो के लिए अपनी आत्मा को बेचने को तैयार नही है। प्रश्न तो केवल दो लाख का था, पर उन्होने कहा कि दस लाख पर भी वे आत्मा बेचने को तैयार नही होगे।

सन्तकुमार ने तीखे स्वर मे कहा, "अगर आप इसे आत्मा का बेचना कहते है, तो बेचना पडेगा। इसके सिवा दूसरा उपाय नही है। और आप इस दृष्टि से

इस मामले को देखते ही क्यों हैं ? धर्म वह है जिससे समाज का हित हो। अधर्म वह है जिससे समाज का अहित हो । इससे समाज का कौन-सा अहित हो जायगा, यह आप बता सकते हैं ?"

देवकुमार नें सतर्क होकर कहा, "समाज अपनी मर्यादाओं पर टिका हुआ है। उन मर्यादाओं को तोड़ दो और समाज का अन्त हो जायगा।"

दोनों तरफ से शास्त्रार्थ होने लगे।

देवकुमार बहुत बिगड़े, पर काम न बना । सिनहा ने समझाया, 'धैर्य से काम लो, काम बनेगा। तुम क्या जानो, बाप को बेटा कितना प्यारा होता है। नालिश दायर हो जायँगी, तो देखना, तुम्हारे पिता क्या करते हैं।' "देवकुमार बोले, "मुझे अपना धर्म, पत्नी और पुत्र प्यारा है ।'

अन्त में दोनों मित्र उठ खड़े हुए। देवकुमार सोच में पड़ गए उधर सन्तकुमार पिता पर बहुत नाराज हुआ। बोला, "जी चाहता है इन्हें गोली मार दूँ। मैं इन्हें बाप नहीं, शत्रु समझता हूँ।"

देवकुमार को धमकियों से झुकाना असंभव था, मगर तर्क के सामने उन की गरदन आप-ही-आप झुक जाती थी। इन दिनों वे यही पहेली सोचते रहते थे कि संसार की कुव्यवस्था क्यों है ? कर्म और संसार का आश्रय लेकर वे कहीं पहुँच पाते थे। सर्वात्मवाद से भी उनकी गुत्थी न सुलझती थी। अगर सारा विश्व एकात्म है तो फिर यह भेद क्यों है ? क्यों एक आदमी जिंदगी-भर बड़ी-से-बड़ी मेहनत करके भी भूखों मरता है, और दूसरा आदमी हाथ-पाँव न हिलाने पर भी फूलों की सेज पर सोता है। यह सर्वात्म है, या घोर अनात्म ? बुद्धि जबाब देती, 'यहाँ सभी को अपनी शक्ति और साधनों के हिसाब से उन्नति करने का अवसर है।' मगर शंका पूछती, 'सबको समान अवसर कहाँ है ? बाजार लगा हुआ है। जो चाहे, वहाँ से अपनी इच्छा की चीज खरीद सकता है। मगर खरीदेगा तो वही जिसके पास पैसे हैं। और जब सबके पास पैसे नहीं हैं तो सबका बराबर का अधिकार कैसे माना जाय ? इस तरह का आत्म-मंथन उनके जीवन में कभी नहीं हुआ था। उनकी साहित्यिक बुद्धि ऐसी व्यवस्था से संतुष्ट तो हो ही नहीं सकती थी, पर मन के सामने अभी तक ऐसी कोई गुत्थी नहीं आई थी जो प्रश्न को वैयक्तिक अंत तक ले जाती। इस समय उनकी दशा उस आदमी की-सी थी जो रोज मार्ग में ईंटें पड़ी देखता है, और बचकर निकल जाता है। रात को कितने लोगों को ठोकर लगती होंगी, कितनों के हाथ-पैर टूटते होंगे, इसका ध्यान उसे नहीं आता। मगर एक दिन जब वह खुद रात को ठोकर खाकर अपनें घुटने फोड़ लेता है तो

उसकी निवारण-शक्ति हठ करने लगती है, और वह उस सारे ढेर को मार्ग से हटाने पर तैयार हो जाता है। देवकुमार को वहीं ठोकर लगी थी। कहाँ है न्याय ? कहाँ है ? एक गरीब आदमी किसी खेत में बालें नोचकर खा लेता है। कानून उसे सजा देता है। दूसरा अमीर आदमी दिन-दहाड़े दूसरों को लूटता है और उसे पदवी मिलती है, सम्मान मिलता है। कुछ आदमी तरह-तरह के हथियार बाँधकर आते हैं और निरीह, दुर्बल मजदूरों पर आतंक जमाकर उन्हें गुलाम बना लेते हैं। वे लगान, टैक्स और महसूल तथा अन्य कितने ही नामों से उन्हें लूटना शुरू करते हैं, और आप लम्बे-लम्बे वेतन उड़ाते हैं, शिकार खेलते हैं, नाचते हैं, रँगरेलियाँ मनाते हैं। यही है ईश्वर का रचा हुआ संसार ? यही न्याय है ?

वे सोचते रहे, और अंत में उनकी शंकाओं को इस धारणा से तसकीन हुई कि इस अनीति-भरे संसार में धर्म-अधर्म का विचार गलत है, आत्मघात है और जुआ खेलकर या दूसरों के लोभ और आसक्ति से फायदा उठाकर सम्पत्ति खड़ी करना उतना ही बुरा या अच्छा है, जितना कानूनी दाँव-पेच से। बेशक वह महाजन के बीस हजार के कर्जदार हैं। नीति कहती है कि उस जायदाद को बेचकर उसके बीस हजार दे दिये जायँ। बाकी उन्हें मिल जाय।

देवकुमार इन्हीं विचारों के वश में सेठ गिरधरदास के पास पहुँचे। ये सेठजी वही थे, जिनको जायदाद बेची गई थी। भला सेठजी जायदाद क्यों लौटाते ? वहाँ खासा गाली-गुफ्ता हुआ। देवकुमार भरे हुए लौटे।

उसी रात को सिनहा और सन्तकुमार ने एक बार फिर देवकुमार पर जोर डालने का निश्चय किया। दोनों आकर खड़े ही हुए थे कि देवकुमार ने प्रोत्साहन के भाव से कहा, "तुम लोगों ने अभी तक मुआमला दायर नहीं किया ? नाहक क्यों देर कर रहे हो ?"

सन्तकुमार के सूखे हुए निराश मन में उल्लास की आँधी-सी आ गई। क्या सचमुच कहीं ईश्वर है जिस पर उसे कभी विश्वास नहीं हुआ ? जरूर कोई दैवी शक्ति है। भीख माँगने आए थे, वरदान मिल गया।

पर रुपयों की आवश्यकता थी। इसी समय भाग्य से देवकुमार के भक्तों ने प्रस्ताव किया कि देवकुमार की साठवीं सालगिरह धूम-धाम से मनाई जाय और उन्हें मोटी थैली भेंट की जाय। एक राजा साहब इस कमेटी के सभापति बन गए। कुछ ही दिनों में थैली एकत्र हुई, और देवकुमार को भेंट की गई। उनके मुँह पर गर्व था, हर्ष था, विजय थी।

यहीं पर प्रेमचन्द का 'मंगल सूत्र' रुक जाता है। कहानी की गति से ही

स्पष्ट है कि यह पुस्तक अधूरी भी नहीं हो पाई—वास्तव में अभी तो इसका प्रारंभ ही हुआ है। पता नहीं, पात्र-पात्रियों को लेखक कहाँ ले जाता। कहानी के केवल इतने भाग को देखकर यह कहना भी कठिन ही ज्ञात होता है कि कहानी किधर को जाती। इस पुस्तक का नाम 'मंगल सूत्र' रखा गया था। इससे इतना अनुमान करना तो असंगत न होगा कि वे इस कहानी को मानसिक रूप से अन्त तक बना चुके थे और सारी कहानी ऐसी थी कि उस पर 'मंगल सूत्र' नाम लागू हो सकता था। कई लेखक ऐसे होते हैं जो कहानी की एक मोटी-सी कल्पना बनाने के बाद लिखते हैं। और कई ऐसे भी होते हैं कि जिन्हें कलम पकड़ने के समय तक यह भी पता ही नहीं होता कि वे क्या लिखने जा रहे हैं। एक ही लेखक कभी पहले प्रकार से और कभी दूसरे प्रकार से भी लिख सकता है। इस पुस्तक का नामकरण हो चुका था, इससे यह अनुमान करना शायद अनुचित न होगा कि प्रेमचन्द जी कल्पना में 'मंगल-सूत्र' के मोटे-मोटे सूत्र तो अवश्य ही बन चुके थे, नहीं तो वे इसका नाम-करण कैसे कर लेते ?

अब रही यह बात कि केवल 'मंगल सूत्र' नाम से इस सम्बन्ध में अनुमान किया जा सकता है या नहीं, कि इस कहानी का अन्त किस प्रकार होता ? इस सम्बन्ध में मेरा वक्तव्य इतना ही है, कि केवल नाम से कहानी की परि-णति के सम्बन्ध में १०० में ९९ संभावनाएँ गलत हो सकती हैं और फिर ऐसे अटकलपच्चू अनुमानों से कोई उद्देश्य भी सिद्ध नहीं होता। पर इस विषय में कौतूहल होना स्वाभाविक है। इसी कौतूहल के वशवर्ती होकर मैंने प्रेमचन्दजी के सुपुत्र श्री श्रीपतराय को पत्र लिखा था, जिसके उत्तर में उन्होंने १८-५-५० को लिखा था—

"उन्होंने अपने अन्तिम दिनों में अपने अन्तिम और असमाप्त उपन्यास की आलोचना मेरे साथ की थी। वे 'गोदान' की तरह इसे बहुत-कुछ आत्म कथा-मूलक बनाना चाहते थे, पर 'गोदान' में जहाँ वातावरण दूसरा है, इसमें वह शहराती होता। इसमें वे अपने मानदंडों के अनुसार यह दिखाना चाहते थे कि सफलता के लिए चालाकी (craft) अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं है। वे इस उपन्यास से यह दिखाना चाहते थे कि एक ईमानदार, परिश्रमी और सीधा-सादा आदमी ऐसी सफलता प्राप्त कर सकता है जिसे देखकर लोग ईर्ष्या करें, और यह जगत् सुरुचिपूर्ण मान्यताओं के सम्पूर्ण विरुद्ध नहीं है। मेरा ऐसा विश्वास है कि वे ऐसा समझते थे कि उन्हें अपने जीवन में सफलता प्राप्त हुई है, और ऐसा वे उचित कारणों से ही समझते थे, ऐसा मेरा अनुमान

है। उनका जीवन ईमानदारी का एक मूर्त रूप था, जिसे युगों तक लोग याद करेंगे। इसे सभी मानते हैं और एक जीवन के लिए उन्होंने बहुत-कुछ किया यह भी निःसन्देह है।"

मेरे मित्र श्री श्रीपतराय के उक्त पत्र से 'मंगल सूत्र' के सम्बन्ध में ही निश्चित बातों का पता लगता है—

१. 'मंगल सूत्र' 'गोदान' की तरह आत्मकथामूलक होता।

२. उसका वातावरण ग्राम्य न होकर शहरी होता।

जहाँ तक दूसरी बात का सम्बन्ध है उसका अनुमान तो 'मंगल सूत्र' का जितना भाग लिखा जा चुका है, उसी से किया जा सकता है। तो भी केवल इन पृष्ठों को देखकर निश्चयपूर्वक कहना शायद ठीक नहीं होगा, क्योंकि प्रेमचन्द ने 'गोदान' में ही शहर से गाँव और गाँव से शहर जाने का क्रम अनुसरण किया था। 'मंगल सूत्र' के पहले सौ पृष्ठों के शहरी जीवन से सम्बन्धित होने पर भी प्रेमचन्द बाद में किसी बहासे ग्राम्ने जीवन में जाय सकते थे।

रही 'मंगल सूत्र' के 'गोदान' की तरह आत्मकथा-मूलक होने की बात, सो इससे भी कुछ विशेष स्पष्टीकरण नहीं होता। क्या 'गोदान' आत्म-कथा मूलक है? ऐसा किस अर्थ में कहा जा सकता है? ऐसे तो सभी उपन्यास अपनें प्रणेता की आत्मकथा होते हैं, क्योंकि उपन्यास को उप-न्यास बनाने के लिए यह जरूरी होता है कि उपन्यासकार उसे जी चुका हो। और काँटे की बात तो यह है कि उपन्यासकार को उपन्यास के केवल एक पात्र या पात्री का नहीं, बल्कि सारे पात्रों तथा पात्रियों का जीवन जीना पड़ता है। यदि इस प्रकार के विस्तृत अर्थ में 'मंगल सूत्र' को उस महान् कलाकार की आत्मकथा कहा जाय, तो बात भली-भाँति समझ में आती है, पर इससे कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

इन कारणों से अनुमानों में न जाकर, जितना उपन्यास हमारे सामने है, उस पर थोड़े से शब्द कह देना अधिक युक्तियुक्त होगा। यह निर्विवाद सिद्ध है कि 'मंगल सूत्र' में प्रेमचन्दजी की कला अपने सर्वश्रेष्ठ निखार पर है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में (इनमें 'गोदान' को बहुत-कुछ अपवाद गिना जा सकता है) बहुत-से अंश ऐसे आते हैं, जिन्हें काटकर निकाल दिया जाय, तो कला में किसी प्रकार की कमी आने के बजायकव निखरती है, पर 'मंगल सूत्र' में ऐसा एक भी वाक्य नहीं है।

एक तरह के वे उपन्यासकार होते हैं जो अपनी पहली ही रचना में कल

के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हुए मालूम देते हैं, जैसे शरच्चन्द्र। पर प्रेमचन्द की कला में बराबर विकास होता रहा है। 'मंगल सूत्र' के उपलब्ध अंश में उनकी कला अपने सारे क्लेशों तथा आवर्जनाओं को हटाकर अलग कर चुकी है। इसी कारण उनकी मृत्यु पर और भी दुःख होता है। अस्तु!

ऐसा मालूम होता है कि इस उपन्यास में प्रेमचन्द मध्यम तथा उच्च-वर्ग का बहुत बड़े पैमाने पर पर्दा-फाश करने पर तुले हुए थे। दाम्पत्य-प्रेम, वकालत, पिता-पुत्र का सम्बन्ध, साहित्यकार, धर्म और दर्शन किस प्रकार इस समाज में केवल क्रय-विक्रय के पण्य हैं, किस प्रकार सारे आदर्शवादों के पीछे केवल जघन्य धन-पिपासा है, और इस कारण किस प्रकार यह समाज सड़-गल चुका है, इसे वे इस उपन्यास में दिखाने पर तुले हुए थे।

दुःख की बात है कि यह काम अधूरा ही रह गया, और इस 'मंगल सूत्र' का सूत्र बीच में ही टूट गया।

८

बच्चों के लिए साहित्य की रचना

इधर हिंदी के प्रकाशकों तथा लेखकों का ध्यान बाल-साहित्य की ओर अधिक जा रहा है। एक तो साक्षरता की वृद्धि के कारण ऐसे साहित्य की माँग और खपत बहुत अधिक बढ़ गई है, और दूसरे बच्चों के माता-पिता भी यह अनुभव करने लगे हैं कि गेंद-बल्ले आदि के साथ-साथ बच्चों के हाथों में साहित्य भी देते रहना चाहिए। प्रकाशक लोग इस ओर अधिक आकृष्ट हो रहे हैं, इसका रहस्य यह नहीं है कि एकाएक राष्ट्र-निर्माण में उन्हें दिलचस्पी हो गई है, बल्कि इसका कारण बहुत-कुछ व्यापारिक है।

वयस्कों के लिए एक पुस्तक प्रकाशित करने में जितना कागज और पूँजी लगती है, उतने ही कागज तथा पूँजी में बच्चों की कई पुस्तकें प्रकाशित हो जाती हैं। इसीलिए प्रकाशकगण इस तरफ आकृष्ट हो रहे हैं। पर उनके लिए सबसे बड़े आकर्षण का कारण शायद एक और है। वह यह कि वे शिशु-साहित्य की पुस्तकों को कापी राइट के आधार पर लेते हैं।

हिंदी-प्रकाशकों की शिशु-साहित्य के सम्बन्ध में यह जो गलत धारणा है कि मिडिलची पुस्तकें लिख सकता है, क्योंकि बच्चों की पुस्तकों को लिखने में धरा ही क्या है, यह बहुत ही गलत है।

मैंने इस विषय पर जहाँ तक अध्ययन किया तथा व्यावहारिक रूप से देखा वहाँ तक यही बात मेरी समझ में आई कि शिशुओं के लिए साहित्य-सृष्टि करना वयस्कों के लिए साहित्य-सृष्टि करने से कहीं कठिन है। जो व्यक्ति जितना अधिक ज्ञान रखेगा, पर साथ ही बच्चों के लिए लिखते समय जितना कम-से-कम ज्ञान अपने लेख में भरेगा, वही बच्चों के साहित्य का उतना ही बड़ा लेखक हो सकता है। अवश्य उसे लिखने की कला भी आनी चाहिए। जो लेखक परम ज्ञानी होते हुए भी अपने लेख में ज्ञान का कतई प्रदर्शन न करेगा, वही बच्चों के साहित्य का उच्च कोटि का लेखक हो सकेगा। परम ज्ञानी होने पर भी जब ज्ञान का प्रदर्शन न होगा, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके लेख में अज्ञान या अल्प ज्ञान का बोल-बाला होगा। इसके विपरीत

उस लेखक के न चाहने पर भी उसका ज्ञान छन-छन कर सुबोध रूप में उस साहित्य में आ जायगा।

दूर की बात जाने दी जाय, हमारे पड़ोस के बंगला-साहित्य में शिशु-साहित्य के लेखकों के सम्बन्ध में वह धारणा कतई नहीं है कि जो हिंदी के प्रकाशकों में फैली हुई है। वहाँ बड़े-से-बड़े लेखक शिशु-साहित्य की रचना करते हैं, अवश्य कुछ लेखक ऐसे भी हैं जो केवल शिशु-साहित्य की रचना करते हैं, और अपने विषय के अच्छे लेखक माने जाते हैं, पर ऐसे लोगों की संख्या उँगलियों पर गिनने योग्य है।

कवीन्द्र रवीन्द्र शिशु-साहित्य के बहुत प्रमुख लेखक थे। उन्होंने इस विषय में जो-कुछ भी लिखा है, वह शिशु-साहित्य में अब भी आदर्श बना हुआ है। उन्होंने बच्चों के लिए कुछ कविताएँ लिखीं, आज हम उनमें से कुछ कविताओं को न केवल पढ़ सकते हैं, बल्कि ग्रामोफोन के रिकार्डों की बदौलत हम उन्हें उन्हीं के मुँह से सुन सकते हैं। बंगाली बच्चों के लिए यह शिक्षा की कितनी बड़ी बात है कि वे स्वयं रवीन्द्रनाथ के मुँह से अच्छी-से-अच्छी चीजों को सुनकर न केवल अपना मनोरंजन कर सकते हैं, बल्कि आवृत्ति की कला को भी सीख सकते हैं। कवीन्द्र आवृत्तिकता में भी गुरु थे। उनकी आवाज जितनी मीठी थी, उतनी ही उनकी आवृत्ति की शैली मर्मस्पर्शी थी।

रवीन्द्रनाथ के अतिरिक्त सैकड़ों बँगला के लेखकों ने बँगला के शिशु-साहित्य को अपनी रचनाओं से ऐश्वर्यशाली बनाया है। वहाँ किसी लेखक को इस कारण शिशु-साहित्य से बचना नहीं पड़ता कि उसमें कम पैसे मिलते हैं। सच तो यह है कि शिशु-साहित्य की बिक्री बहुत अधिक है।

अवश्य हिंदी के प्रकाशक यह कह सकते हैं कि बँगला में शिशु-साहित्य की अधिक खपत है, इसी कारण वहाँ के प्रकाशक अच्छे लेखकों को शिशु-साहित्य के निर्माण के लिए निमन्त्रण दे सकते हैं। यह बात एक हद तक ठीक है। प्रत्येक मध्यवित्त बंगाली परिवार में शिशु-साहित्य का कोई-न-कोई संग्रह मिलेगा जिसमें समय-समय पर वृद्धि होती रहती है। मैं समझता हूँ कि जैसे शिशु-साहित्य को उत्कृष्ट रूप में प्रकाशित करने तथा उत्कृष्ट लेखकों से लिखवाने में प्रकाशकों का हाथ है, उसी प्रकार हिंदी-भाषी जनता का यह कर्तव्य है कि वह अपने होनहारों के लिए हिंदी-पत्रिकाएँ खरीद दे। जब इस तरह से सब लोगों का सहयोग होगा तभी शिशु-साहित्य की ठीक से उन्नति हो सकेगी। यह आशा करना कि प्रकाशक लोग ही सारा त्याग करें, वर्तमान समय में बिलकुल असम्भव है।

हिंदी में बाल-साहित्य के नाम से जो कूड़ा-करकट आम तौर से चल रहा है वह बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं है। इसके कुछ कारणों को तो मैं बता चुका, पर, यहाँ पर मैं विशेषकर हिंदी के अच्छे लेखकों को दो शब्द कहना चाहूँगा। आखिर क्या बात है कि हिंदी के अच्छे लेखक इस तरफ नहीं झुकते। एक तो जैसा कि मैं बता चुका हूँ उनसे माँग नहीं की जाती, क्योंकि जब प्रकाशकों को ८ आने पेज पर लिखनें वाले लेखक मिल जाते हैं, तो वे अच्छे लेखकों के पास क्यों जायँ।

दूसरी बात यह है कि शिशु-साहित्य के कुछ लेखकों, भाइयों और दादाओं ने ऐसा प्रचार-कार्य कर रखा है कि वे ही इस विषय के एक-मात्र अधिकारी हैं। इस प्रचार कार्य के कारण अच्छे लेखक इस मार्ग पर पैर रखते घबराते हैं। मैं समझता हूँ कि प्रकाशकों तथा लेखकों को इस प्रकार के दावेदारों से बचना चाहिए।

मुझे इस प्रकार के हिंदी-शिशु-साहित्य के कई ठेकेदारों से जमकर बातचीत करने का मौका हुआ, तो यह पता लगा कि यद्यपि वे हर समय बाल-मनोविज्ञान आदि की दुहाई देते हैं, पर उन्हें अधिकांश क्षेत्र में मनोविज्ञान का क, ख, ग भी मालूम नहीं है। वे न तो शिक्षा-शास्त्र के आधुनिकतम सिद्धान्तों से परिचित हैं, और न वे यही समझते हैं कि उच्च कोटि का बाल-साहित्य क्या है। मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि ऐसे लोग दूसरी भाषाओं के बाल-साहित्यों से बिलकुल अपरिचित हैं। ऐसे लोगों ने हिंदी की बड़ी सेवाएँ कीं, क्योंकि जिन दिनों कोई भी बाल-साहित्य का नारा नहीं लगाता था, उन दिनों अज्ञ रूप में ही सही, वे उसका अलख जगा रहे थे, पर अब समय आ गया है कि हमें ऐसे लोगों से मुक्ति मिले। इसमें सन्देह नहीं कि इनके प्रभाव में अब हिंदी का शिशु-साहित्य आगे उन्नति नहीं कर सकता।

अब मैं शिशु-साहित्य की अंतर्गत वस्तु पर आता हूँ। शिशु का मन बहुत ही कोमल होता है। वह जो-कुछ देखता और सुनता है, उसी का अनुकरण करने लगता है। उसका मन बहुत ही कल्पना-प्रवण होता है। इसी कारण उसके लिए यह संभव है कि वह कंकड़ के छोटे-छोटे टुकड़ों को भात समझकर पकावे, और बिना आग के यह समझे कि आग जल रही है।

शिशु के मन के इन गुणों के कारण ही शिशु साहित्य की रचना बहुत जिम्मेदारी का काम है। शिशु-साहित्य के लेखक को हमेशा यह बात याद रखनी पड़ेगी कि शिशु एक उदीयमान नागरिक है. इसलिए उसके मन पर ऐसी छाप न डाली जाय जिससे वह प्रतिसामाजिक हो जाय, जिससे वह कोई दुर्गुण अपना ले। वयस्कों के साहित्य में शायद इस सावधानी को उतनी

हद तक ले जाने की जरूरत नहीं है, क्योंकि वयस्क व्यक्ति पढ़ी हुई चीज को सम्पूर्ण रूप में सत्य नहीं मान लेता। वह तो पढ़ी हुई कहानी के संबंध में जानता है कि वह कहानी है इसलिए यदि वह चाहे तो नीर-क्षीर-विवेक से काम ले सकता है कि इतना सही है और इतना गलत।

पर बच्चा जिन बातों को अपने सामने होता हुआ देखता है, उनमें और सुनी तथा पढ़ी हुई बातों में यह फरक नहीं कर पाता कि यह कहानी है, और यह वास्तविकता है। इस कारण उसके लिए जो कहानी लिखी जाय, उसमें बड़ी सावधानी बरतने की जरूरत है। बच्चों को ऐसी कहानियाँ नहीं देनी चाहिएँ, जिनसे वह निष्ठुरता, कायरता, झूठ बोलना आदि सीखे।

पर व्यावहारिक जगत् में कुछ और ही हो रहा है। दुनिया की उन्नत भाषाओं में यहाँ तक कि घर के पास बँगला में भी शिशु-उपन्यास के नाम से जो साहित्य प्रचारित हो रहा है, उसमें केवल एक ही बात पर जोर दिया जा रहा है, वह यह कि कहानी दिलचस्प हो। इसलिए तरह-तरह के एडवेंचरों तथा विपत्तियों की सृष्टि करके शिशु तथा किशोर के मन को बहलाया जाता है।

इधर बच्चों के लिए अमरीका में जो पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं, वे बहुत ही शोचनीय ढंग की हैं। यह कहना तो गलत होगा कि सारा अमरीकन साहित्य सनसनी पर ही जीता है, पर इसमें संदेह नहीं कि 'लाइफ' और 'लुक' से लेकर वहाँ के सारे प्रसिद्ध पत्र बहुत-कुछ ऐसे विषयों को लेकर चलते हैं, जिनका जोर सनसनी पर ही होता है। यदि हम इसी वृत्ति को वहाँ के शिशु-साहित्य में प्रतिफलित पाते हैं, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

यह सनसनी की वृत्ति वहाँ के शिशु-साहित्य में कहाँ तक घर कर गई है, इसका प्रमाण यह है कि वहाँ का जो सभ्य शिशु-साहित्य कहलाता है उसमें भी इस उपादान की अधिकता है। फ्लोरेंस नाइटिंगेल का नाम भारत में नर्सिंग की कला की प्रवर्तिका के रूप में प्रसिद्ध है। पर अमरीका में बच्चों के लिए इनकी जो जीवनी लिखी गई है, उसमें सेवा भाव पर जोर न देकर क्रीमिया के युद्ध का ही वीभत्स वर्णन किया गया है। इसी प्रकार एक भूतपूर्व अमरीकन राष्ट्रपति की जीवनी में उन्हें स्पेनवासियों का हत्यारा या भैंसा मारने वाला करके दिखलाया गया है। इसी प्रकार अल्फ्रेड नोबल की जीवनी में उनके द्वारा चलाये हुए नोबल पुरस्कार का अधिक विवरण न देकर पृष्ठ-पर-पृष्ठ डिनामाइट के वर्णन से रँग दिए हैं।

हमारे देश में भी जैसा कि मैं बता चुका हूँ, शिशु-साहित्य में दुष्प्रवृत्तियाँ

दृष्टिगोचर हो रही हैं। हिंदी के शिशु-साहित्य में तो ज्यादातर यह हाल है कि वस्तु ही नहीं होती। जैसा कि मैं बता चुका हूँ इसका कारण यह है कि प्रकाशक अच्छे लेखकों को इस क्षेत्र में मौका न देकर अधकचरे लोगों को ही मौका दे रहे हैं। पौराणिक तथा सुप्रसिद्ध प्राचीन कहानियों को छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के आकार में लिखकर प्रकाशित करवाने की ओर जो प्रवृत्ति है, वह यों तो सराहनीय है, पर उनमें से कौन से अंश ग्रहणीय हैं और कौन से त्याज्य, इन बातों को समझना प्रत्येक लेखक के वश की बात नहीं है। यह काम मामूली नए लेखकों पर छोड़ना उचित न होगा। एक उम्र तक बच्चे में सामाजिक बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, उस उम्र तक बहुत सोच-समझकर अच्छी चीज़ें ही उसके हाथों में दी जा सकती हैं।

चाणक्य का कहना है, दूसरे शब्दों में पुराने लोगों का यह विचार है कि जन्म के बाद पाँच वर्ष तक तो बच्चे का लालन किया जाय, अर्थात् उसे लाड-प्यार में रखा जाय, और उसके बाद दस वर्ष तक उसका ताड़न किया जाय, अर्थात् उसको नियंत्रण में रखा जाय, इसके बाद जब लड़का सोलह साल का हो जाय, तो उसके साथ मित्र की तरह आचरण किया जाय। यह तो पुराने लोगों की बात हुई पर अब मनोवैज्ञानिकों का यह कहना है कि बच्चे को जो कुछ सीखना है उसे वह प्रथम पाँच वर्ष में ही सीख लेता है।

अतएव यह स्पष्ट है कि शिशु के हाथ में जो साहित्य दिया जाय, उसकी रचना बहुत सँभलकर होनी चाहिए। जैसे कि शिक्षा के क्षेत्र में यह सिद्धान्त बिलकुल परित्यक्त तथा विस्फोटित हो चुका है कि बच्चे को पढ़ाने के लिए या तो उसे शिक्षा देने के लिए कोई भी साक्षर व्यक्ति यथेष्ट है, उसी प्रकार से बच्चों के साहित्य-क्षेत्र में भी यह सिद्धान्त सम्पूर्ण रूप से त्याग देना चाहिए कि जो भी शुद्ध-शुद्ध हिंदी लिख सकता है, वही बच्चों की पुस्तकों की रचना कर सकता है।

बच्चों की पुस्तकों तथा पत्रिकाओं के लिए यह अनिवार्य समझा जाता है कि उनमें चित्र हों, ठीक है बच्चे चित्र पसन्द करते हैं, पर इस तरफ भी तो कुछ खयाल करना चाहिए कि चित्र अच्छे हों, नहीं तो यह डर है कि बच्चों के मन पर सौंदर्य तथा रूप की अच्छी धारणा न होगी। पर हमारे प्रकाशक भला इस बात पर कब खयाल करने वाले हैं। उनको तो जहाँ से सस्ते चित्र मिलते हैं, वहीं से चित्र लेने की पड़ी रहती है। यदि चित्र अच्छे न हों, तो इससे तो अच्छा है कि चित्र न दिये जायँ।

शिशु के मन में ज्ञान-पिपासा बहुत अधिक होती है। इसलिए बाल-साहित्य

में फोटो-चित्रों का उपयोग प्रचुरता से करना चाहिए। पर फोटो हों अथवा चित्र, इसका अच्छी तरह खयाल रखना चाहिए कि चित्रों की इतनी अधिकता न हो कि बच्चों की कल्पना चित्रों के दायरे में ही बहने के लिए बाध्य हो। जब बच्चा बिलकुल शिशु है, तब तो उसे प्रलोभन देकर पढ़ाने के लिए चित्रों की अधिकता से उपयोग समझ में आता है, और उचित भी है, पर इस अत्यन्त शिशु-अवस्था में एक सीवा के बाद केवल चित्रों के सहारे ही बढ़वाना खतरे से खाली नहीं है। इससे कल्पना-शक्ति बढ़ नहीं पाती और मन पर एक आलस्य-सा छा जाता है। ऐसे लोग तो बड़े होकर 'लाइफ' और 'लुक' तथा हमारे यहाँ के उसके अनुकरण 'ट्रेंड' आदि पत्रों को पढ़ने वाले हो सकते हैं। ऐसे लोग कभी किसी विषय में गम्भीर चिन्तन नहीं कर सकते। यदि कहा जाय कि केवल इस प्रकार के पत्रों के पढ़ने वालों की शिक्षा व्यर्थ हुई, तो कोई बहुत अधिक अत्युक्ति न होगी।

इस सम्बन्ध में बच्चों के अभिभावकों के कर्तव्य बहुत स्पष्ट हैं। जहाँ बच्चों ने पढ़ना सीख लिया, वहाँ यह तो आवश्यक है कि बच्चों के हाथों में उनके उपयुक्त साहित्य देना चाहिए। पर बाजार में प्रचलित साहित्य में से उन्हें क्या दिया जाय और क्या न दिया जाय, इस सम्बन्ध में बहुत सावधानी की आवश्यकता है। जब बच्चों के हाथ में कोई गलत क़िस्म की पुस्तक पड़ जाय, तो उससे बहुत हानि हो सकती है। इस सम्बन्ध में लेखक और प्रकाशक के क्या कर्तव्य हैं, यह तो मैं पहले ही बता चुका।

७

साहित्य का वास्तविक रूप

साहित्य का लक्ष्य मनुष्य है, इतना कहना कुछ न कहने के ही बराबर है, क्योंकि उससे साहित्य के स्वरूप का कोई स्पष्टीकरण नहीं होता, इस पर कोई नई रोशनी पड़ने की बात तो दूर रही। मनुष्य के बगैर साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि मनुष्य जाति में ही अपेक्षाकृत रूप से उन्नत भाषा का विकास हुआ है, और भाषा के बिना साहित्य अकल्पनीय है।

मनुष्य केवल साहित्य का ही लक्ष्य नहीं, परन्तु वह उसका उपजीव्य भी है। यह सच है कि साहित्य मनुष्य के अलावा देवताओं, राक्षसों, और दैत्यों पर लिखा गया है, पर यह सब मनुष्य के ही दृष्टिकोण से तथा उन्हें मनुष्य नहीं तो मनुष्यवत् परिकल्पित करके किया गया। भले ही देवताओं में अलौकिक शक्ति दिखलाई गई हो, तथा भले ही दैत्यों तथा राक्षसों को अत्यन्त भयानक रूपधारी बताया गया हो, पर वे अपरिहार्य रूप से मनुष्यवत् हैं, मनुष्यों की ही तरह उनके राग-द्वेष हैं, उनमें भी एक तरफ कोमल कान्त भावुकता है, तो दूसरी तरफ लाम्पटच, दूसरे के धन के प्रति लोभ, मिथ्या भाषण आदि अवगुण हैं।

और ये अवगुण देवताओं और दैत्यों दोनों में हैं। एक तरफ रावण पर-स्त्रीगामी था, तो दूसरी तरफ देवराज इन्द्र और अहिल्या की कथा मौजूद है। अहिल्या के साथ इन्द्र ने जो प्रतारणा की, उसके लिए ताजीरात हिन्द की कई दफाओं में उन्हें सजा हो सकती है, और वे अब होते तो उन्हें काले पानी की हवा खानी पड़ती। इन्द्र के जीवन में यही एक घटना नहीं थी, वे उर्वशी, मेनका, रम्भा, तारा आदि से भी दिल बहलाते थे।

इन बातों के ब्यौरे में जायँ तो निबन्ध खामख्वाह बड़ा होगा। मनुष्य जाति ने साहित्य में अपनी कहानी कही है। साहित्य में जहाँ वह अपने से दूर जाता हुआ ज्ञात होता है, खोजने पर ज्ञात होगा कि वह अपने से उतना ही करीब है। अपनी

कल्पना की उडान मे मनुष्य अपने ही इद गिद मँडराता रहा है। और अब तो गवेषणाओ से यह सिद्ध हो चुका है कि देवता तथा दैत्य मनुष्य ही थे। जो वीर थे वे देवताओ मे परिणत हो गए, और जो दूसरे विरोधी कबीलो के लोग थे, वे दैत्य तथा राक्षस बताये गए। हमे इस सम्बध मे बहुत दूर जाने की आवश्यकता नही है। 'इडो आयन' जातियो के प्रागैतिहास के अनुशीलन करने से ही हमे इस सम्बध मे अनेक बाते मालूम हो सकती है। अनुसन्धानो से यह भी पता लगता है कि अवतारगण भी जाति के वीर ही थे, पहले सभी जातियाँ बहु देवदेवीवादी थी, पर बाद मे धार्मिक एकीकरण की प्रक्रिया से इन्ही मे से ईश्वर की उत्पत्ति हुई।

वेदों और पुराणो में

इस प्रकार वेद पुराण के रूप मे जो साहित्य है, वह अक्सर अलौकिक कथाओ से पूण होने पर भी है मनुष्य की ही कहानी। यहाँ नक कि वराह, मत्स्य आदि के पीछे प्राक् आय या प्राचीन आर्यो की पशु प्रतीक पूजा है। सम्भव है इसमें आर्यो की बनिस्बत अनार्य उपादान की अधिकता है। स्मरण रहे वेदो मे बाद के दस अवतारो का कोई पना नही। वेदो मे पशु-प्रतीक पूजा के प्रमाण अवश्य मिलते है।

यह सब ठीक है कि वेद पुराणो का उपजीव्य मनुष्य है, पर इतना कहने से पूण सत्य सामने नही आता। हिन्दुओ के पवित्र अत्यन्त वैदिक साहित्य को लिया जाय। यह क्या है ? ब्लूमफील्ड आदि वैदिक विद्वानों ने साफ-साफ कहा है कि और तो और ऋग्वेद धनी क्षत्रिय तथा ब्राह्मणो की बातो से भरा पडा है। इसमें महाकुल और मधुवनो की कहानी है। और ये लोग उस युग के बडे लोग, राजा, रईस थे। यह दान, स्तुति, दस राजाओ का युद्ध, इन्द्र सम्बर के युद्ध आदि के वर्णन से भरा पडा है। यजुर्वेद तो एक तरह का मैनुएल है, जिसमे यज्ञा के अनुष्ठान और विधियो का उल्लेख है। साधारण व्यक्ति यज्ञ नही कर सकते थे क्योकि यज्ञो मे खच बहुत होता था।

हाँ, जब वैदिक धम के विरुद्ध विद्रोह करके पाली और प्राकृत आदि मे साहित्य की सृष्टि हुई, तो उसमे जनता के विचारो का कुछ प्रतिफलन अवश्य हुआ। मेरा मतलब यहाँ जातक, अवदान तथा अग साहित्य से है। पर इनमे भी जनता की बात अलौकिक लोहा-लक्कड से इतनी दबी है कि उनको निकालना टेढी खीर है।

बौद्ध-क्रान्ति बहुत दूर तक न जा सकी, क्योकि उसके पीछे कोई नया उदीयमान वग नही था। वह तो बहुत-कुछ उच्च वग के आभ्यन्तरिक

असन्तोष का स्फुरण-मात्र था। बुद्ध ने वैदिक यज्ञ का विरोध किया, पर यही तक। वे अपने विद्रोह को उसके तार्किक उपसहार तक न ले जा सके। उन्होने सामाजिक शोषण को कुछ अर्द्ध दार्शनिक बातो के साथ मिला दिया। नतीजा यह हुआ कि वे फँसकर रह गए।

सजा में वर्गीकरण

पर इतना भी शासक वर्ग को पसन्द नही आया। अन्तिम मौर्य सम्राट् की हत्या करके उनके सेनापति पुष्यमित्र ने प्रतिक्रान्ति का सूत्रपात किया। इस युग का सबसे महत्त्वपूर्ण साहित्य मनु संहिता है। इसके सम्बन्ध मे यह जो ढिंढोरा पीटा गया है, और ऐसा करने मे बाबू भगवानदास-जैसे विद्वान् भी साथ दे चुके है, कि यह एक आदर्श धर्म-शास्त्र है, पर उसमे ऐसा कुछ भी नही। उसमें और-तो-और व्यभिचार के लिए ही उच्च जाति के लिए अलग और कथित नीची जातियो के लिए अलग दंड है। यदि एक ब्राह्मण किसी शूद्रा के साथ व्यभिचार करे, तो उसके लिए नाम-मात्र जुर्माना है, पर यदि एक शूद्र ब्राह्मणी से व्यभिचार करे, तो उसके लिए सभी दंड है। इस दृष्टि से देखने पर मनुस्मृति ताजीरात हिंद से कही निकृष्ट है। शेषोक्त में सबके लिए एक से दण्ड का विधान है। व्यवहार मे चाहे जो कुछ हो।

इस प्रकार यह कहना गलत है कि साहित्य का विषय या लक्ष्य मनुष्य है। ऐसी परिभाषा अतिव्याप्ति दोष से युक्त है। वर्ग समाज मे साहित्य अपरिहार्य रूप से वर्ग साहित्य है। इस कथन का स्पष्टीकरण सब साहित्यो के इतिहास से किया जा सकता है। पर इस लेख मे उनकी तरफ केवल इंगित ही किया जा सकता है।

साहित्य का उपजीव्य मनुष्य है, इसमे सन्देह नही, पर मनुष्य कोई एक और अविभाज्य समूह नही। जाति जाति मे, वर्ग वर्ग मे, व्यक्ति व्यक्ति मे, पार्थक्य तथा अक्सर विरोध भी है।

जगजू साहित्य आवश्यक?

साहित्य केवल अस्पष्ट तथा कल्पना के मनुष्य को लेकर नही चलता। तब तो उसमे कुछ भी न रहता। वह मनुष्य रूपी यंत्र के सैकडो ददानो को लेकर चलता है, उन पर रोशनी डालता है, उनकी गुत्थियो को सुलझाता है। तभी उसमें मनोरंजन की सामग्री रहती है, नही तो वह बिलकुल रोचकताहीन होता।

बिल्कुल आदिम पौध समाज को छोडकर मनुष्यो मे बराबर वर्ग रहा है, और चूँकि समाज और साहित्य का सम्बन्ध जैसा कि सहित शब्द से जाहिर

है, साथ का है, इसलिए बराबर साहित्य वर्ग साहित्य रहा है। वर्ग समाज में वर्ग के ऊपर उठकर साहित्य की सृष्टि संभव नहीं है, उसका नारा ही गलत और गुमराहकुन है। इसलिए केवल मानवीय दृष्टि से कुछ लिखना संभव नहीं। अवश्य यह कहा जा सकता है कि वर्ग संग्राम के प्रति तटस्थता तो सम्भव है, जैसे अश्लील या कामोत्तेजक उपन्यास, या ऐसी पुस्तक; जिसमें सौंदर्य या सत्य को लेकर लिखा गया हो। पर अन्तिम विश्लेषण में इस प्रकार की तटस्थता भी प्रतिगामी है। जिस समय प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षित है कि वह संग्राम में प्रगति का साथ दे, उस समय यदि साहित्य उसका ध्यान उस तरफ से हटाकर उसे तटस्थ कर देता है, तो वह प्रतिगामिता नहीं तो और क्या है ?

अश्लीलता, तटस्थता, पलायनवाद ये सभी धाराएँ प्रतिगामी हैं, क्योंकि ये किसी-न-किसी रूप में, प्रगति के संग्राम को दुर्बल कर देते हैं। स्वस्थ साहित्य वही है जो नये समाज के निर्माण में सहायक हो, और लोगों को इसके लिए उद्बुद्ध करे।

८

आधुनिक हिन्दी और बंगला-साहित्य

हिन्दी और बगला-साहित्य की उत्पत्ति और विकास का इतिहास बडी हद तक सामान्य है। बहुत कम लोग इस बात को समझते है कि आधुनिक समस्त भारतीय भाषाओ मे हिन्दी व बगला आदि भाषाओ की उत्पत्ति एक क्रातिकारी जरूरत की पूर्ति के कारण हुई। सैकडो वर्षो तक भारत की शिष्ट भाषा सस्कृत रह चुकी थी। पर भगवान् बुद्ध ने तथा उनके इर्द-गिर्द के लोगों ने इस बात को महसूस किया कि जनता में जाकर ही उनके विचार प्रचारित हो सकते है। इसी कारण सस्कृत से हटकर प्राकृत भाषाओ को अपनाने की प्रथा चल पडी। मै इसके ब्यौरे में नही जाऊँगा, फिर भी हमारी आधुनिक भाषाओ की क्रान्तिकारी जनवादी उत्पत्ति की तरफ इशारा कर देना जरूरी था। इसके बगैर हम अपनी थाती और उस पर बने हुए आधुनिक साहित्य को अच्छी तरह समझ नही सकते।

इस सबध में मैं केवल एक तथ्य की ओर दृष्टि आकर्षित करूँगा। महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री ने नेपाल मे कुछ बहुत पुरानी पोथियो का आविष्कार किया। ये पुस्तक अपभ्रश भाषा मे लिखी हुई थी। मजे की बात यह है कि बगाली भाषातत्वविद् इसे प्राचीन बगला मानते है। पर रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य का इतिहास' मे इसे हिन्दी भाषा और साहित्य के अतर्गत माना है।

डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्त ने सही रूप से यह माना है कि वर्तमान हिंदी और बगला भाषा की उत्पत्ति का पता लगाते हुए हम एक ऐसी जगह पर पहुँच जाते है, जहाँ पर दोनो भाषाएँ यह दावा कर सकती है कि पहले की रचनाएँ उन्हीं के साहित्य के अतगत हैं।

इस तथ्य को समझना भारतीय संस्कृति की एकता को समझना है। इस संबंध में यह भी याद रखने लायक है कि जिन पुस्तको पर इस प्रकार से दावे और प्रतिदावे हुए है, वे बौद्धगीत और दोहा-सबधी हैं। इससे मैंने इस लेख

के आरम्भ में जो-कुछ कहा उसकी पुष्टि होती है।

एक और सुपरिचित उदाहरण लिया जाय। कवि विद्यापति को बंगाली अपना कवि मानते हैं। बंगाल के प्राचीन कवियों में वे आदि कवि और कुछ लोगों के मतानुसार वे सर्वश्रेष्ठ प्राचीन बंगला-कवि माने जाते हैं। हिन्दी वाले भी विद्यापति को अपना कवि मानते हैं। अवश्य हिन्दी के नवरत्नों में उनकी गिनती नहीं की जाती। यहाँ पर यह प्रश्न उठाना उचित नहीं जान पड़ता कि विद्यापति को यदि कवि मानना है, तो उन्हें नवरत्न में न मानकर उनके साथ अन्याय किया है या नहीं ? फिर भी मैं पूरी जिम्मेदारी के साथ इस बात को कहने का साहस करता हूँ कि विद्यापति सूर, तुलसी, केशव और चंडीदास के समकक्ष कवि हैं। अस्तु

असली बात यह है कि विद्यापति न तो ठीक-ठीक बंगला के ही कवि थे, और न हिन्दी के ही। वे मैथिली थे और मैथिली में ही उन्होंने रचनाएँ की हैं। पर वह मैथिली ऐसी मैथिली थी कि उस समय की बंगला और हिन्दी— दोनों उससे मिलती थीं। इसी कारण इस वितर्क की उत्पत्ति हुई है कि विद्यापति किस भाषा के कवि थे। मुझे तो यह सारा वितर्क ही अजीब मालूम होता है। यदि किसी भाषा के कवि को दूसरी भाषा के लोग अपना कवि मानते हैं, तो उसमें उस कवि का भी लाभ है, कविता का भी लाभ है, और इसमें झगड़े की कोई बात न होकर आनन्द की ही बात है।

प्राचीन साहित्य

हिन्दी और बंगला के प्राचीन साहित्य के संबंध में जो उल्लेख हमने किये, उनके अलावा यह भी जान लेने की बात है कि बंगला के मुकाबले में हिन्दी का प्राचीन साहित्य उन्नत था। इस तुलनात्मक उन्नति को जान लेना इस कारण आवश्यक है कि आधुनिक साहित्य की सृष्टि पर इसका असर पड़ा। जिस समय ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत में कदम रखा, उस समय वह चाहते हुए या न चाहते हुए भी अपने साथ अंग्रेज़ी, बल्कि पाश्चात्य साहित्य, संस्कृति और विचार-धारा लेता आया। इनके असर इतने विस्तृत हुए कि एक क्रांति मच गई। भारत हब्शियों की तरह साहित्य व संस्कृति से शून्य नहीं था, पर जो-कुछ तब उसके सामने आया, वह उसे चौंधिया देने वाला था।

कुछ दिनों तक तो चकाचौंध की यह भावना चली, जिसका नतीजा एक तरफ यह हुआ कि कुछ लोगों ने पश्चिम के सामने घुटनें टेक दिए, और उसके द्वारा लाए हुए धर्म, संस्कृति, भाषा और साहित्य के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। उन्होंने अपना सब-कुछ त्याग दिया।

पर इन लोगों ने इतिहास का निर्माण नहीं किया। इतिहास का निर्माण उन लोगों ने किया जिन लोगों ने नए के अनुसार या नए की रोशनी में पुराने को ढालने की कोशिश की। इन लोगों में कई तरह के लोग हुए। किसी ने पुराने का नाम-ही-नाम रखा, नए को सम्पूर्ण रूप से अपना लिया; किसी ने पुराने और नए की भिन्न मात्राओं में सम्मिश्रण की कोशिश की। इस तरह समन्वय के कई रंग और कई मात्राएँ हुईं। हमारी संस्कृति के इतिहास में इन बातों का बहुत महत्त्व है, पर यहाँ विस्तार में जाना उचित न होगा। हम साहित्य में ही अपने को सीमित रखेंगे।

मैं यह बता चुका हूँ कि हिन्दी का प्राचीन साहित्य (हम इसे सुविधार्थ प्राक्ब्रिटिश साहित्य कह सकते हैं) बंगला के मुकाबले में उन्नत था, पर यह तथ्य दो कारणों से आधुनिक हिंदी के विकास में बाधक हुआ, एक तो उन्नत प्राक्ब्रिटिश साहित्य के अधिकारी होने के कारण हिंदी वालों के लिए अपनी थाती से अलग होकर बिलकुल एक नया रास्ता बनाने में दिक्कत थी। थाती का एक मोह होता है। कोई भी साहित्य हवा में नहीं बन सकता। विशेषकर जिसका अपना कोई साहित्य है, यह अपनी परम्परा से बिलकुल हट नहीं सकता।

ब्रजभाषा और खड़ी बोली का संघर्ष

पर यह परम्परा से और अपने प्राचीन प्राक्ब्रिटिश साहित्य से, जो मुख्यतः कविता और सो भी ब्रजभाषा में था, अलग न हो पाना या अलग होने में देरी होना आधुनिक दिशा में हिंदी-साहित्य की उन्नति में बाधक सिद्ध हुआ। दूसरा बाधक कारण हिंदी के क़रीब-क़रीब सारे प्राक्ब्रिटिश साहित्य का ब्रजभाषा में तथा एक प्रकार की कृत्रिम अवधी भाषा में होना सिद्ध हुआ।

मैंने अपनी 'प्रेमचन्द—एक अध्ययन' नामक पुस्तक में इस बात की ओर इशारा किया है। मैं इस बात पर इसलिए अधिक जोर देना चाहता हूँ कि हिंदी-साहित्य के स्वीकृत इतिहास-लेखक इस बारीक बात को समझने में असमर्थ रहे। मैंने उक्त पुस्तक में लिखा था—"बंगला का प्राचीन साहित्य (यहाँ प्राक्ब्रिटिश साहित्य से मतलब है) हिंदी के मुकाबले में दो दृष्टियों से भिन्न था। एक तो ब्रज बोली (यह ब्रजभाषा नहीं है) की ओर कुछ थोड़ी-सी प्रवृत्ति के अतिरिक्त बंगला में प्राक्ब्रिटिश काल में भी जो पद्य की भाषा रही वही बाद को गद्य की भाषा रही। दूसरा, बंगला का प्राचीन साहित्य हिंदी के प्राचीन साहित्य की तरह ऐश्वर्यशाली न होने के कारण रूढ़ि बनकर अग्रगति में बाधक न हो सका। हिंदी के कवियों ने ब्रजभाषा और अवधी को ही आश्रय मानकर काव्य-रचना की थी। इस बीच में भाषा में परिवर्तन हो

चुका था, और सार्वजनपदिक भाषा के रूप में खड़ी बोली का विस्तार हो रहा था, खड़ी बोली का अस्तित्व खुसरो और कबीर के पहले से था—ऐसा दिखाया जा सकता है।"

आम तौर से जब भी बंगला और हिंदी-साहित्य की चर्चा की जाती है, तो यह बताया जाता है कि अंग्रेज बंगाल में पहले आये, इसलिए नई दिशा में वहीं पहले कदम उठाए गए, और बंगाल के लोग इस घुड़दौड़ में आगे निकल गए, यह ठीक है, पर इस सम्बन्ध में बंगला और हिंदी के अन्दर जो कारण बताए गए, उनको स्मरण रखना जरूरी है।

इस समय जिन लोगों की उमर बीस साल है, वे यह नहीं जानते कि हिंदी में खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करने में कितनी भारी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। इस लड़ाई में भी खड़ी बोली की जीत एक ही बार में नहीं हुई। पहले केवल इतना ही माना गया कि खड़ी बोली गद्य की भाषा है, खड़ी बोली में कविता लिखने वालों की हँसी उड़ाई गई, फिर बाद को यह माना गया कि अच्छा, खड़ी बोली में भी कविताएँ हो सकती है।

मैंने अपनी उक्त पुस्तक में इस सम्बन्ध में जो लिखा है, उसमें से उद्धृत किया जाता है—"हिंदी-साहित्य के विकास में खड़ी बोली और ब्रजभाषा की यह लड़ाई बहुत महत्त्वपूर्ण है। दुःख है कि अच्छे-से-अच्छे समीक्षकों ने इसे वह महत्त्व नहीं दिया, जो इसे मिलना चाहिए। खड़ी बोली और ब्रजभाषा के बीच लड़ाई में साहित्यिक भाषा के रूप की जीत होती, तो जैसे आज हिंदी एक विराट् भू-खंड की साहित्यिक भाषा के रूप में दृष्टिगोचर हो रही है, ऐसा न होता, उस हालत में आज जहाँ पर हिंदी है, वहाँ सम्भव है कई साहित्यिक भाषाएँ दृष्टिगोचर होतीं।

इस लड़ाई में जिस शक्ति का अपव्यय हुआ, उसके सम्बन्ध में हम दिखा चुके हैं कि यह अनिवार्य था, उसी के कारण हिंदी नई दिशा में उतनी जल्दी-जल्दी कदम न उठा सकी, जितनी कि बंगला भाषा उठा पाई।

हम ऐतिहासिक रूप से एक-एक सन् का विचार न करके हिंदी और बंगला के विकास पर एक सरसरी दृष्टि डालेंगे, क्योंकि एक लेख में इतने बड़े विषय पर ब्यौरेवार क्रमिक विवेचन सम्भव नहीं है। खड़ी बोली और ब्रज-भाषा की लड़ाई में आधुनिक हिंदी के कई बहुत महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक वर्ष निकल गए, भारतेंदु का महान् साहित्यिक व्यक्तित्व इस प्रश्न पर किसी निर्णय के द्रुतीकरण में सहायक न हो सका, क्योंकि उन्होंने स्वयं ब्रजभाषा को ही कविता में अपनाया, भारतेंदु ने शैली की दृष्टि से नवीन युग को अपनाया.

पर उस शैली के वाहन के रूप में जो भाषा उचित हो सकती थी, उसे उन्होंने नहीं अपनाया।

इस दिशा में उन्ही के युग के श्रीधर पाठक ने बहुत अच्छा काम किया। वह ब्रजभाषा को खडी बोली की तरफ ले जा रहे थे। यह न समझा जाय कि बहाव केवल इसी तरफ था, रत्नाकरजी ने बिलकुल उलटी दिशा मे चेष्टा की और वे खडी बोली को भी ब्रजभाषा की ओर ले जाना चाहते थे।

इस वाहन की लडाई कितने दिनो तक स्थायी रही यह इसी बात से समझा जा सकता है कि जयशकरप्रसाद तथा मैथिलीशरण गुप्त जब पहले पहल कविता के क्षेत्र मे उतरे, तो वे भी ब्रजभाषा को लेकर ही आए, गुप्त जी थोडे दिनो तक ही ब्रजभाषा के रथ के साथ रहे, बाद मे उसमे अलग हो गए, पर प्रसाद जी बहुत दिनो तक इसी लीक मे घिसटते रहे, यद्यपि बाद को वे खडी बोली के एक प्रसिद्ध कवि हुए और उनकी लेखनी से 'कामायनी' निकली, जो एक क्लासिकल पुस्तक है। द्विवेदी युग मे ही खडी बोली की पूर्ण विजय हुई और मेरी सम्मति मे यही से आधुनिक कविता का आरम्भ मानना चाहिए।

बंगाल में भाषा का सघर्ष नहीं था

मै पहले ही बता चुका हूँ कि बगला-साहित्य मे इस प्रकार का कोई सघर्ष नही हुआ। वाहन की लडाई मे कोई समय नष्ट नही हुआ। प्राक्ब्रिटिश युग भारतचद्र और आधुनिक प्रथम बगला-कवि ईश्वरगुप्त की कविताओ मे भाषा या शैली का कोई अतर नही था, यहाँ तक कि रवीद्रनाथ तक हम यह नही कह सकते कि भाषा या शैली मे उस प्रकार का कोई क्रातिकारी भेद है, जिस प्रकार ब्रजभाषा और खडी बोली की शैलियो में है।

यो तो रवीद्रनाथ की तरह युग-प्रवतक प्रतिभाओ का जन्म बहुत-कुछ आकस्मिक समझा जाता है, कम-से कम हम उसके नियमो को अभी तक जान नही पाए है, पर ऊपर हमने जो-कुछ बताया, उससे इतना तो कहा ही जा सकता है कि रवीद्रनाथ का जन्म उतना आकस्मिक नही रह जाता, जितना कि वह माना जाता है। अवश्य हिदी और बगला-साहित्य के तुलनात्मक विवेचन मे यही उचित होगा कि रवीद्रनाथ को छोडकर ही सारी बाते कही जायँ।

कविता के विकास को यही पर छोडकर अब मै गद्य-साहित्य अर्थात् उपन्यास, नाटक तथा निबध की ओर दृष्टिपात करूँगा, यो तो बगाल की प्रथम गद्य-पुस्तक राम बसु का लिखा हुआ 'प्रतापादित्य चरित्र' माना जाता है, जो १८०१ में प्रकाशित हुआ था, और इसके बाद राममोहनराय और ईश्वरचद्र

विद्यासागर ने बगला गद्य का निर्माण किया। फिर भी बगला का वास्तविक आधुनिक साहि य शुरु होता है बकिमच द्र मे, जिनका जन्म १८३८ म हुआ था।

इसी प्रकार हिंदी खडी बोली के गद्य साहित्य का प्रारम्भ १९वी सदी के पहले से सदासुखलाल, इशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल तथा सदल मिश्र से होने पर भी तथा इशाअल्ला द्वारा रचित 'रानी केतकी की कहानी' को प्रथम हिंदी-उपन्यास के रूप मे गौरव प्राप्त होने पर भी, और इस बीच में राजा शिवप्रसाद आदि के लिखने पर भी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही आधुनिक हिंदी साहित्य का वास्तविक प्रारम्भ मानना उचित होगा। भारतेदु हरिश्चद्र का जन्म १८५० मे हुआ था।

बकिम और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

बकिमचन्द्र ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे और भारतेन्दु ने नाटक तथा प्रहसनो पर अपना ध्यान दिया। भारतेन्दु के नाम से 'पूण प्रकाशचन्द्र प्रभा' नामक खडगविलास प्रेस से मुद्रित एक उपन्यास भी प्रकाशित हुआ था, पर यह निश्चित नही है कि भारतेन्दु ही उसके लेखक थे। मै समझता हूँ कि भाषा के इतिहास की दष्टि से भारतेन्दु को बकिमचन्द्र से कही अधिक समस्याओ का सामना करना पडा। और जैसा कि हम पहले ही इशारा कर चुके है, उनकी बहुत कुछ कम शक्ति वाहन के चुनने मे ही खच हो गई। बकिमचन्द्र ने भी भाषा के क्षेत्र मे बहुत बडी सेवाएँ की, पर जब हम उनके पहले के बगला-लेखको के साथ उनकी भाषा की तुलना करते है, तो ज्ञात होता है कि इस दिशा म उनकी सेवाएँ भारतेन्दु की तरह महत्त्वपूण तथा युगातरकारी नही है।

सबमे बडी बात यह है कि चाहे जिस कारण से भी हो, बगाली पाठक अब भी बकिमचन्द्र को पढते है, पर हिंदी के पाठक स्कूल-कालिज की पाठ्य-पुस्तको के अतिरिक्त शायद ही कभी भारतेन्दु की रचनाओ का पाठ करते हो, इसमें एक बात यह भी है कि हरिश्चन्द्र ने नाटको को अपनी रचना का वाहन चुना, और बकिमचन्द्र ने उपन्यास को, जो आधुनिक पठन की दृष्टि से अधिक दिलचस्प वाहन था।

जहाँ तक उद्देश्यो का सम्बन्ध है, मै समझता हूँ, बकिमचन्द्र और हरिश्चद्र—दोनो अपनी रचनाओ के द्वारा पराधीन भारतवासियो के मन में देशात्मबोध की भावना को जाग्रत करना चाहते थे, पर कुछ तो विषयो को चुनने के कारण तथा कुछ उपन्यास का माध्यम अपनाने के कारण बकिमचन्द्र की सेवाएँ जनता मे अधिक स्वीकृत हुईं, उस युग में हरिश्चन्द्र की सेवाएँ भी

स्वीकृत हुई पर उतनी नहीं।

बंकिमचन्द्र तथा उन्हीं के ढर्रे पर चलने वाले बंगला-उपन्यास-लेखक रमेशचन्द्र के सम्बन्ध में यह बता दिया जाय कि इन लोगों ने, और इन लोगों ने ही क्यों, बाद के बहुत से बंगला के शक्तिशाली लेखकों ने, जिनमें नाटककार द्विजेंद्रलाल राय (डी० एल० राय०) भी थे, बंगाल के बाहर की वीर-गाथाओं को अपनाया और बहुत सफलतापूर्वक चित्रित किया, इसका एक कारण तो यह है कि स्वयं बंगाल के इतिहास में राजपूतों या मरहठों के इतिहास की तरह घटनाएँ कम थीं, पर दूसरा कारण शायद यह था कि बंकिमचन्द्र जिस संस्कृति को लेकर चल रहे थे, वह एक सर्वभारतीय संस्कृति थी।

बंकिमचन्द्र के साहित्य में मुसलमानों का स्थान नहीं था। यह अन्तिम बात केवल बंकिमचन्द्र पर ही नहीं, शायद हरिश्चन्द्र तथा उस युग के सब लेखकों के साहित्य पर लागू होती है। बंगला के क्षेत्र में इस तरह की विचार-धारा का असर बहुत दूर तक गया, क्योंकि बंगला हिंदी की तरह करीब-करीब हिंदुओं की भाषा नहीं है, उसके बोलने वालों में आधे से अधिक मुसलमान भी हैं।

बंकिमचन्द्र जिस समय बंगला के साहित्य-गगन में चमक रहे थे, उन्हीं दिनों बंगला में माइकेल मधुसूदनदत्त भी चमके। १८७३ में ही उनका देहांत होगया। बाद में रवीन्द्रनाथ के उदय के कारण माइकेल की प्रतिभा को उतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना कि उसे मिलना चाहिए। बंगला-साहित्य में रवीन्द्रनाथ के उदय के कारण इस प्रकार का अन्याय बहुत से प्रतिभाशाली लेखकों के साथ हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि माइकेल बंगला-कविता के क्षेत्र में एक कोलंबस या नेपोलियन की तरह आए।

बंकिमचन्द्र और माइकेल-जैसे एक दूसरे के पूरक थे—एक ने कथा-साहित्य में नवयुग की दुन्दुभि बजाई, और दूसरे ने कविता के क्षत्र में नवयुग का सन्देश दिया। माइकेल ने नाटकों की भी रचना की, जो अपने समय में प्रसिद्ध तो हुए ही, अब भी जीवित साहित्य में उनका स्थान है, बाद के बंगला-नाटककारों ने उनसे अनुप्रेरणा ग्रहण की।

जिस कार्य को बंगला-साहित्य में बंकिमचन्द्र और माइकेल मधुसूदन ने किया, उसी को हिंदी में करीब-करीब अकेले भारतेन्दु को करना पड़ा। यह बहुत मुश्किल काम था, गद्य के क्षेत्र में इस युग के नवीन वाहन उपन्यास को न अपना पाने के कारण तथा दूसरी तरफ़ कविता के क्षेत्र खड़ी बोली को अपनाकर सफल न होने के कारण भारतेन्दु अपने महान् साहित्यिक व्यक्तित्व

के बावेजूद उतने सफल नहीं हो सके ।

१८८१ में पहली सितम्बर को भारतेन्दु ने 'भारत-मित्र' में एक पत्र छपवाया था, जिसमें उन्होंने खड़ी बोली की कविता के सम्बन्ध में जनता की राय जाननी चाही थी । दुर्भाग्य से यह समझा गया कि उनकी खड़ी बोली की कविताएँ सफल नहीं हैं, इस कारण वह कविता के क्षेत्र में ब्रजभाषा में ही रह गए ।

आधुनिक युग

इसके बाद हम एकदम अपेक्षाकृत आधुनिक युग में आ जाते हैं, क्योंकि यद्यपि इस बीच में हिंदी में बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनंदन खत्री आदि कितने ही लेखकों का उदय हुआ, और बंगला में भी हेमचन्द्र, नवीनचन्द्र, विहारीलाल आदि का उदय हुआ, फिर भी हम इस लेख में उन सब पर विचार करने का साहस नहीं कर सकते । हम पहले ही बता चुके हैं कि हम इस लेख में रवीन्द्र-प्रतिभा पर विशेष विचार नहीं करेंगे ।

हिंदी-कविता के विकास में मैथिलीशरण गुप्त का बहुत बड़ा स्थान है, उन्होंने बंगला से अनुवाद किये, और इस प्रकार कविता के क्षेत्र में सीधे-सीधे बंगला का प्रभाव आया, बंगला का कथित प्रभाव बंगला के माध्यम से आया हुआ पाश्चात्य प्रभाव ही था । इस कारण बंगला की शैली, उसकी शब्दावली तथा उसके अन्य रंग-ढंग का भी हिंदी पर प्रभाव पड़ा, मैथिलीशरण की दूरदर्शिता का यह प्रभाव था कि उन्होंने बिना अधिक संघर्ष के खड़ी बोली को अपना लिया । इस सम्बन्ध में उनकी सेवाओं को उतना नहीं समझा गया है, जितना कि वास्तविक रूप से ये सेवाएँ महत्त्वपूर्ण थीं ।

प्रसाद बहुत दिनों तक संघर्ष करते रहे, अंत में १६१० के मासिक 'इंदु' में उन्होंनें यह स्वीकार किया कि सामयिक पाश्चात्य शिक्षा का अनुकरण करके जो समाज के भाव बदल रहे हैं, उनके अनुकूल कविताएँ नहीं मिलतीं, और पुरानी कविताओं को पढ़ना तो महादोष-सा प्रतीत होता है, क्योंकि उस ढंग की कविताएँ तो बहुतायत से हो गई हैं । जिन दिनों प्रसाद इस लेख को लिख रहे थे, उन दिनों मैथिलीशरण का 'केशों की कथा' नामक काव्य प्रसिद्ध हो चुका था और 'इंदु' के इस लेख में प्रसाद ने इसका उल्लेख भी किया था ।

कहना चाहिए कि यहीं से हिंदी-कविता में सच्चे अर्थ में आधुनिक युग का प्रवर्तन हुआ । बंगला में यह घटना कुछ नहीं, तो इससे पचास वर्ष पहले हो चुकी थी, और उस धारा को माइकेल मधुसूदन-जैसा नेता प्राप्त हुआ था ।

नेता की दृष्टि से प्रसाद कुछ बुरे नहीं थे, पर एक तो वह मधुसूदन के मुक़ाबले में देर से आए, और आकर भी उन्होंनें इतनें वर्ष नई शैली को अपनानें में लगा दिए; और सच बात तो यह है कि जब उनका रुझान इस तरफ़ हुआ, तो उनके नेतृत्व की विशेष आवश्यकता नहीं रही थी, क्योंकि तब तक हिंदी के गगन में दूसरे ज्योतिष्कों का आविर्भाव हो चुका था।

प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र

गद्य के क्षेत्र में हिंदी में प्रेमचंद और करीव-करीब उसी समय बंगला में शरच्चंद्र का उदय हुआ। यद्यपि शरत् और प्रेमचंद—दोनों उपन्यास के क्षेत्र के थे, फिर भी दोनों की प्रतिभाएँ विभिन्न प्रकार की थीं।

शरत् और उनके पूर्ववर्त्ती बंकिम के उपन्यास बहुत-कुछ समाज की आर्थिक अवस्था के प्रति उदासीन थे। वे जिस समाज में उत्पन्न हुए थे, उसकी जन्म छाप उन पर स्पष्ट थी। पर उस अर्थ में नहीं, जिस अर्थ में प्रेमचंद की कृतियां समाज के मुकुर या आईना हैं। प्रेमचंद की श्रेष्ठता इस बात में है कि उनके साहित्य में समाज में मचे हुए वर्ग-संग्राम की नाड़ी के स्पंदन (जिसके अंतर्गत साम्राज्यवाद-विरोध भी आ जाता है) स्पष्ट सुन पड़ते हैं। पर शरत् या बंकिम अथवा रवींद्र में हम यह बात नहीं पाते। शरत् और रवींद्र मुख्यत: उच्च वर्गों के जीवन के कलाकार हैं, पर मध्य वर्ग के भी सब संग्रामों, समस्याओं, अंतर्द्वन्द्वों का चित्रण वे नहीं करते।

इसके विपरीत प्रेमचंद जनता के बहुत क़रीब हैं। उनकी कला में समसामयिक राजनीतिक उफ़ान, बल्कि ज़मींदार और किसान, मज़दूर और पूंजीपति के वर्ग-संग्राम चित्रित हैं। शरत् और रवीन्द्र का साहित्य भी समाज का दर्पण है, उसमें अन्तर्लोक का आकाश, और सो भी अंतर्लोक का एक हिस्सा-मात्र प्रतिफलित है। प्रेमचंद अंतर्लोक के द्वंद्वों को उस सफलता से नहीं दिखा पाते, और भावुकता की उस चोटी पर नहीं पहुँचते जिस पर शरत् पहुँचते हैं।

जैनेन्द्र की सम्मति

इस संबंध में जैनेंद्र का कहना उद्धृत करने योग्य है : "रवींद्र की एकाध किताब पढ़ने में, बंकिम पढ़ने में, शरत् पढ़ने में कई बार बरबस आँखों में आँसू फूट आए हैं। फिर भी प्रेमचन्द की कृतियों में जान पड़ता है कि मैं उनके निकट आ जाता हूँ, उन पर विश्वास करने लगता हूँ। शरत् पढ़ते हुए कई बार गुस्से में मैंने उनकी कृतियों को पटक दिया है और रोते-रोते उन्हें कोसने

को जी किया है। कमबख़्त न जाने हमें कितना और तंग करेगा—इस भाव से फिर उनकी पुस्तक उठाकर पढ़ना शुरू कर दिया है। ऐसा मेरे साथ हुआ है।

"इसके प्रतिकूल प्रेमचन्द की कृतियों से उनके प्रति अनजाने सम्मान और परिचय का भाव उत्पन्न होता है। शरत् और अन्य कई की रचनाएँ पढ़ते वक़्त जान पड़ता है जैसे इनके लेखक हमसे परिचय बनाना नहीं चाहते, हमारी अर्थात् पाठक की इन्हें बिलकुल परवाह नहीं है। हमारे भावों की रक्षा करने की इन्हें बिलकुल चिंता नहीं है। पहले ढंग की किताब को जी अकु-लायगा तभी हम उठाकर देखने लग जायँगे। चाहे कितनी ही बार पढ़ी हों, हमें वह नवीन-सी लगेगी। प्रेमचन्द की किताब को एक बार पढ़ लेने पर उसे फिर-फिर पढ़ने की तबीअत कम शेष रहती है। ये लेखक निरपेक्ष और निश्चित होकर हमें चाहे जितना रुला सकते हैं, परन्तु प्रेमचन्द हमारे प्रति निरपेक्ष नहीं हो सकते।"

मैं जैनेंद्र के मत से सहमत न होते हुए भी उसे इस कारण उद्धृत कर रहा हूँ कि जहाँ तक शरत्-साहित्य के भावुकता-प्रधान होने का संबंध है, वह इससे हमारे सामने आ जाता है। शरत् और रवींद्र-साहित्य ने बहुत-सी सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने में मदद दी, पर प्रेमचन्द ने अपने साहित्य के द्वारा हमारे राजनीतिक संग्राम में भाग लिया। जो कुछ कहा जा रहा है वह एक सामान्य रूप में ही कहा जा रहा है, नहीं तो शरत् का 'पथेर दावी' सोलहों आना राजनीतिक उपन्यास है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'महेश' और 'अभागी का स्वर्ग' नामक दो कहानियों में वर्ग-संग्राम में भी भाग लिया। 'अभागी का स्वर्ग' और 'कफ़न' की तुलना करने लायक है।

जिस समय तक प्रेमचन्द जीवित रहे, उस समय तक वह केवल हिन्दी में ही नहीं, मेरा विचार है, सारे भारतीय साहित्य में वर्ग-संघर्ष-मूलक साहित्य के क्षेत्र में अपराजेय और अपराजित थे। पर उनके बाद बंगला-साहित्य में बहुत से लेखकों का आविर्भाव हुआ है, जो प्रेमचन्द के अस्तित्व से परिचित न होते हुए भी उनके ढंग के उपन्यास लिखते रहे हैं, और अब तो बंगला-साहित्य में इसी का युग चल रहा है।

यद्यपि कई कथित समालोचकों ने प्रेमचंद के संबंध में यह कहा है कि अब हिन्दी-साहित्य उनसे आगे निकल गया है, पर मैं इसे नहीं मानता, संभाव-नाओं की बात और है, पर कोई 'गोदान'-जैसी दूसरी रचना तो बनाए। हंसकुमार तिवारी के इस मत से मैं सहमत न होते हुए भी कि "प्रेमचन्द की

सफलता के लिए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यदि हिंदी से उनकी कृतियाँ उठा ली जायँ, तो इसमें कुछ रह ही न जाय।' मैं यह मानता हूँ कि उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में प्रेमचन्द अभी हिन्दी के 'माउंट एवरेस्ट' बने हुए हैं।

शरत् के बाद भी बंगला के उपन्यास-साहित्य में बहुत ऊँचे पैमाने पर सृष्टि जारी है। असहयोग के युग में कलकत्ते के हरिसन रोड की एक छोटी-सी गली से 'कल्लोल' नाम की चार आने की एक कहानी-पत्रिका निकली। इसके इर्द-गिर्द जो लेखक एकत्र हुए, उनके सामने यही सवाल था कि किस तरह बंगला को रवीन्द्र और शरत् की प्रतिभा के जाल से मुक्त किया जाय। रवीन्द्र और शरत् से बचने की कोशिश करते हुए भी इनमें से प्रत्येक ने रवींद्र और शरत्-साहित्य की एक-एक पंक्ति को बड़े ध्यान से पढ़ा था। 'कल्लोल' नाम से ही उनकी आकांक्षा ज्ञात होती है। वे किसी विशेष राज-नीतिक विचार-धारा से प्रभावित नहीं थे। कई आधुनिक लेखक कल्लोल से अपने जीवन का सूत्रपात करते हैं।

ताराशंकर वन्द्योपाध्याय

आधुनिक बंगला-उपन्यास में ताराशंकर वन्द्योपाध्याय सबसे बड़े लेखक हैं। उन्होंने प्रेम और शृंगार को छोड़कर जनता के विशेष हिस्सों के जीवन का परिचय कराया। उनके कई उपन्यास राजनीतिक ढंग के हैं। वह 'कल्लोल'-गुट में थे। शैलेजानन्द मुखोपाध्याय ने कोयले की खानों के जीवन का चित्रण किया। यह एक नया विषय था। प्रेमेंद्र मित्र ने असाधारण को लिया और इसी में साहित्य-रचना की। अन्नदाशंकर दीर्घ यूरोप-प्रवास के कारण यूरोपीय भावापन्न हो चुके थे, पर साथ ही उन पर रवीन्द्र तथा बंगला के प्राचीन वैष्णव-साहित्य का प्रभाव है।

अचिन्त्यकुमार नार्वेजियन लेखकों के अनुकरण में चले, पर बाद को उनकी एक निजी शैली हो गई। माणिक वन्द्योपाध्याय बाद में 'कल्लोल'-गुट में आए। उनकी प्रतिभा बहुत उच्च कोटि की है, पर उन्होंने बाद में अश्लीलता की ओर झुकाव दिखलाया। इसी प्रकार विभूति बाबू ने जंगल को अपना विषय बनाया। इनके अतिरिक्त प्रबोधकुमार सान्याल, केदारनाथ वन्द्योपाध्याय, वनफूल, परिमल गोस्वामी, नारायण गंगोपाध्याय आदि कई शक्तिशाली उपन्यासकार इस समय बंगला-साहित्य में मौजूद हैं।

यशपाल और वृन्दावनलाल वर्मा

इधर हिन्दी में भी जैनेन्द्र, यशपाल, वात्स्यायन, वृन्दावनलाल वर्मा आदि

कई बहुत शक्तिशाली उपन्यासकारों का उदय हुआ है। पर दुःख है कि यशपाल और वृन्दावनलाल वर्मा के अतिरिक्त बाकी सब हिन्दी-उपन्यासकारों की सृजन-शक्ति बहुत सीमित रही। बंगला में इस समय जो ऊँचे दर्जे के उपन्यासकार हैं, वे ऊँचे दर्जे के होने के साथ-साथ अत्यधिक सृजन-शक्तियुक्त हैं।

मैं समझता हूँ कि प्रेमचंद के बाद के उपन्यासकारों तथा कहानीकारों में यशपाल सर्वश्रेष्ठ हैं, गुण और मात्रा—दोनों दृष्टि से उनके उपन्यास और कहानियाँ बहुत उच्चकोटि की हैं। जैनेंद्र तो वर्षों से कथा-साहित्य-क्षेत्र में मृत-से ही हैं।

इधर के साहित्य की यह हालत है कि उदयशंकर भट्ट तथा चन्द्रगुप्त विद्यालंकार समझते हैं कि हिन्दी-साहित्य में गति अवरोध है। इन लोगों से पहले मैंने भी इस ओर ध्यान दिलाया था। यहाँ यह विचार करने का स्थान नहीं है कि ऐसा क्यों है? मुझे ऐसा मालूम होता है फिर भी हिन्दी-साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है।

बंगला में जो लोग रवीन्द्र के बाद या उनके समय में प्रसिद्ध हुए, उनमें काज़ी नज़रुलइस्लाम, मोहितकुमार मजूमदार इत्यादि रवीन्द्र से अलग लीक तैयार करने पर लगे हैं। वर्तमान समय में सुभाष मुखोपाध्याय आदि जो कवि प्रसिद्ध हैं, वे रवींद्र के ऋणी होते हुए भी, उनमें और रवीन्द्र में कोई समता या सामान्यता ढूँढ़ निकालना मुश्किल है।

पंत

मैं समझता हूँ कि अति आधुनिक हिन्दी-कविता में सबसे बड़ा व्यक्तित्व पंत का है। उनके व्यक्तित्व में अति आधुनिक युग की तीनों धाराएँ क्रमिक रूप से देखी जा सकती हैं। पहले उन्होंने छायावादी ढंग पर लिखा, और उसमें उन्होंने बड़ी सफलता प्राप्त की। मजे की बात यह है कि बंगला में रावींद्रिक ढंग पर चलने वाला कोई भी कवि उस ऊँचाई पर नहीं पहुँचा, जिस पर पंत पहुँच गए। रवीन्द्र के कवि शिष्यगण बंगला-साहित्य में कोई विशेष स्थान न बना सके, क्योंकि रवीन्द्र शायद अपनी शैली की सारी संभावनाओं को समाप्त कर चके थे।

पर पंत ने हिन्दी को छायावादी ढंग पर बहुत उच्च कोटि की वस्तु प्रदान की। बाद को वह प्रगतिशील धारा में हो गए। उसमें भी उन्होंने जो रचनाएँ तैयार कीं। कुछ लोगों ने कुसंस्कारवश उन्हें अच्छी तरह नहीं पढ़ा, पर केवल कविता की दृष्टि से ही उनमें कई बहुत उच्चकोटि की हैं। इसके बाद उन्होंने प्रगतिशील धारा को छोड़ दिया, और कहा जा सकता है कि अब अध्यात्मवादी

या प्रतिक्रिया की धारा मे बह रहे है। वह जहाँ से चले थे, वही लौटते मालूम देते है। मैने इसी अर्थ मे प्रतिक्रिया कहा है। कोई भी जहा से चलता है ठीक वहाँ लौट नही पाता, पर अभी यह बताने का समय नही आया है कि इनकी दिशा क्या है?

पत के अतिरिक्त निराला ने भी कुछ अच्छी कविताएँ लिखी, और कुछ 'क्यूबिज्म' के ढग पर कविताएँ लिखी, जिन्हे वह न लिखते तो ज्यादा अच्छा होता। बगला में भी इस प्रकार के प्रयत्न हुए, पर उसमे कोई बडा व्यक्तित्व उत्पन्न न हो सका। बगला के अधिकाश आधुनिक कवि साथ-ही साथ गद्य के अच्छे लेखक है, इस कारण वे शायद सब नियमो से मुक्त होकर सफलता नही प्राप्त कर सके। महादेवी वर्मा विषाद की कवयित्री है। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा, उदयशकर भट्ट ने राष्ट्रीय जागरण मे हाथ बटाया।

बगला मे रजनीकात सेन और द्विजेन्द्रलाल राय की कविताओ ने कभी यही काम किया था। बाद को सभी बगला-कवियो ने इसमे थोडा-बहुत हाथ बटाया। मुझे ऐसा मालूम देता है कि हिन्दी-कविता मे भी गति अवरोध है। प्रयोगवादी कविता मे कोई विशेष नयापन नही है। हाँ चटकीली भाषा और 'क्यूबिज्म' के ढग पर उक्तियाँ है।

बगला मे अभी तक प्रगतिशील तथा नए प्रयोगो का ही युग गद्य और पद्य मे सर्वत्र चल रहा है। मुझे ऐसा मालूम होता है कि हिन्दी का भविष्य भी इसी पर निर्भर है। रहा यह कि हिन्दी मे स्वतत्रता के बाद से गति-अवरोध क्यो है, और बगला मे क्यो नही है, इसके कारण पर भी सक्षिप्त रूप से दो शब्द कह दूँ। बगला के लेखक इस स्वतत्रता के सम्बन्ध मे जैसे पहले से ही निराश थे, उन लोगो को व्यक्तिगत रूप से इस स्वतत्रता से उस हद तक कुछ भी लाभ नही हुआ, जैसा कि हिन्दी के लेखको को हुआ है और होता जा रहा है। इसी कारण बगला-साहित्य में विशेष गति-अवरोध दृष्टिगोचर नही हो रहा है।

९

कलाकार की स्वतन्त्रता

इधर संस्कृति-सम्मेलनों की धूम मच जाने के कारण कलाकार की स्वतन्त्रता तथा समाज के साथ उसके सम्बन्ध के विषय में बहुत आलोचनाएँ हुई हैं। यदि गहराई के साथ देखा जाय, तो असल में ये सम्मेलन राजनीतिक थे, और सो भी शक्ति राजनीति के अर्थ में, पर साथ में संस्कृति और कला घसीटी गई। मैं यह नहीं कहता कि राजनीति और कला में कोई सम्बन्ध नहीं है, पर इसे छिपाया क्यों जाता है ? फिर भी जो तर्क-वितर्क हुए, वे बहुत ही उपयोगी हैं, और उनका स्वागत किया जाना चाहिए। जो तर्क-वितर्क हुए, उनका अन्तर्निहित उद्देश्य चाहे जो कुछ भी रहा हो, इसमें सन्देह नहीं कि वे विचारों के स्पष्टीकरण में सहायक सिद्ध होंगे। यदि देखा जाय तो इस समय यह तर्क-वितर्क केवल भारत में ही नहीं सारे सभ्य जगत् में जारी है।

यदि हम यहाँ कला या संस्कृति की परिभाषा से प्रारम्भ करें, तो हमारी आलोचना उसी में फँसकर रह जायगी, क्योंकि विभिन्न मतवादों में कला और संस्कृति की परिभाषा ही पृथक् मानकर चली गई है। हमें किसी सोपान में चलकर इस मतभेद का सामना तो करना ही पड़ेगा, पर वह जितना टले उतना ही अच्छा है, क्योंकि आलोचना के हित में यही उचित है कि मौलिक मतभेदों को शुरू में ही न लाया जाय।

यहाँ यह बता देने की आवश्यकता नहीं है कि कला शब्द को उसके बृहत्तर अर्थ में ही प्रयुक्त किया जा रहा है, याने उसमें चित्र-कला, संगीत आदि के साथ साहित्य भी आ जाता है। सच तो यह है कि साहित्यिकों और लेखकों पर ही ज्यादा जोर है क्योंकि चित्रकार आदि की तुलना में वे जनता के बहुत बड़े भाग में पहुँचते हैं। किसी भी कला को समझने के लिए अर्थात् उसके द्वारा प्रभावित होने के लिए यह आवश्यक है कि कुछ अधिक प्रशिक्षण प्राप्त हो जैसे तुलसीदास की रामायण को लीजिये, उसे समझने के लिए किसी विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं है, याने जिस प्रशिक्षण की आवश्यकता

है वह अन्य कलाओं को समझने के लिए जिस प्रशिक्षण की आवश्यकता है उसकी तुलना मे बहुत कम है। हरफ पहचान लिए, कुछ बाराखडी सीख ली, हज़ार-दो हजार शब्द जान लिए कि अपनी मातृभाषा के साहित्य का उपभोग शुरू हो जाता है। हजार-दो हजार शब्द इसलिए कि एक अनपढ व्यक्ति भी अपनी रोजमर्रा की बोल-चाल मे करीब करीब इतने ही शब्द प्रयोग मे लाता है, और समझ लीजिये कि करीब इतने ही शब्दो का स्वय प्रयोग न करने पर भी मतलब अनुमान कर लेता है। इसलिए तुलनात्मक रूप से बहुत कम प्रयास करने के बाद ही प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी मातृभाषा का साहित्य पूरा नही तो कुछ-कुछ खुल अवश्य जाता है।

इसी कारण जब लोग कलाकार की स्वतन्त्रता आदि की बातचीत करते है तो कम-से-कम भारत मे उसका अर्थ साहित्यकार या लेखक की स्वतन्त्रता ही होता है। इससे यह भी समझ मे आता है कि साहित्यकार तथा लेखक को फासने के लिए सब दिशाओ से यह चेष्टा क्यो है?

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि कलाकार या साहित्यकार के लिए दो मतवाद है। एक सामाजिक, एक व्यक्तिकेन्द्रिक। एक तो यह कि कलाकार अपने दिल का राजा है, वह चाहे कुछ भी लिखे। ऐसे लोगो का यह कहना है कि कला की सृष्टि किसी बाहरी प्रयोजन की पूर्ति के लिए नही, बल्कि केवल कलाकार के अपने सुख के लिए है। दूसरे शब्दो मे इस मतवाद का यह दावा है कि कलाकार समाज तथा राष्ट्र का सदस्य होने पर भी स्वय सम्पूर्ण है, और वह जो कुछ सृजन करता है, वह उसी की वृत्तियो, सुख-दुखो, अनुभूतियो, प्रतिक्रियाओ का प्रतिफलन होता है। इस मतवाद मे स्वाभाविक रूप से, कला का कोई सामाजिक ध्येय या कर्तव्य या गन्तव्य नही माना जाता। कलाकार ने लिख दिया, अकित कर दिया, गा दिया, यही पर उसका मानो कार्य समाप्त हो गया। उसका सामाजिक प्रभाव क्या होगा, होगा या नही होगा इससे कलाकार को कोई सरोकार नही है।

कहना न होगा कि यह मतवाद विश्लेषण की कसौटी पर मुश्किल से उतर सकता है। कला की कैसे उत्पत्ति होती है, इस प्रश्न की गहराई में यदि जाया भी न जाय, और यदि यह सोचा भी न जाय कि समाज तथा अपनी परिस्थितियो से कलाकार किस प्रकार प्रभावित होता है, तो भी इस बात को तो सोचना ही पडेगा कि जब चित्र अकित हो गया, कहानी या कविता लिखी गई, गीत गा दिया गया, तो उससे या उनसे दर्शक, पाठक या श्रोता किस प्रकार प्रभावित होगा, यहाँ तक कि होगा या नही होगा, ये

सारी बातें समाज, उसके विकास का सोपान, उसकी यांत्रिक उन्नति, परम्परा आदि पर निर्भर है।

यदि यह दावा किया जाय कि कलाकार सृजन करके मुक्त हो गया, तो यह बिलकुल गलत है। कहानी या कविता केवल लिखने में ही कोई रस नहीं होता, यदि उसका कोई पाठक समाज, भले ही वह एक व्यक्ति तक सीमित हो, न होता। इसी प्रकार चित्र आदि के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। जहाँ नीरव साधना होती है वहाँ भी वह इस आशा से होती है, कि किसी आगामी काल में उस साधना के परिपक्व फल को दर्शक, पाठक या श्रोता के सामने रखा जायगा। ऐसा हो सकता है कि ऐसे कई नीरव साधक अपनी साधना के ही दौरान में मर जायँ, और उसकी कृतियों को कभी दूसरों के सामने जाने का मौका न मिले। पर ऐसे क्षेत्र में भी यह मानना पड़ेगा कि पृष्ठभूमि में उन सम्भव दर्शक, पाठक, श्रोताओं की बात कलाकार को अनुप्राणित करती है। यह क्रिया कुछ वैसी ही है जैसे किसी ने अपनी प्रेयसी को एक पत्र लिखा, और उसे डाक में डाल दिया, पर डाकखाने-सम्बन्धी किसी गड़बड़ी के कारण वह पत्र प्रेयसी को नहीं पहुँच पाया, यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि पत्र लिखते समय पत्र-लेखक के सामने अपनी प्रेयसी का विचार होने के कारण प्रेयसी की दृष्टि से ही, और भी खुलकर कहा जाय तो प्रेयसी के मन में प्रभाव उत्पन्न करने की दृष्टि से ही पत्र लिखा गया था। यह दूसरी बात है कि पत्र पहुँचा नहीं या पत्र-लेखक को लिखना नहीं आया, और वह जिस प्रभाव को उत्पन्न करना चाहता था, उसका विपरीत प्रभाव उस पत्र के पहुँचने पर उत्पन्न हुआ, इत्यादि।

स्वसुखवाद या कला के लिए इस मतवाद का कोई कितना भी भक्त हो गम्भीरता के साथ यह दावा करना सम्भव नहीं है कि कलाकार सम्पूर्ण रूप से दर्शक, पाठक या श्रोता निरपेक्ष होता है अथवा हो सकता है। यदि ऐसा होता तो फिर कवि कविता लिखकर फाड़ डालता, गायक जाकर जंगल में गाता, चित्रकार पानी से चित्र खींचता। जब ऐसा नहीं है, तब यह मानना ही पड़ेगा कि यह दावा तो चल नहीं सकता कि कलाकार की सृजनेच्छा केवल कलाकृति के उत्पादन से ही सम्पूर्ण हो जाती है।

यदि सैद्धान्तिक सतह से उतरकर व्यावहारिक जगत् को देखा जाय तो ज्ञात होगा कि कलाकार प्रत्येक क्षेत्र में अपनी कला के जरिये अमरत्व का इच्छुक रहता है भले ही वह वैयक्तिक ख्याति न चाहता हो, सम्पूर्ण रूप से पृष्ठभूमि में रहना चाहता हो, यहाँ तक कि विस्मृति में विलुप्त हो जाना चाहता हो,

तो भी यह वह अवश्य चाहता है कि उसकी कृति स्थायी हो। पेरू के कजको कैथेड्रल में कुछ चित्र हैं, जो सत्रहवीं शती के हैं। ये चित्र महीनों को लेकर बने हैं। विशेषज्ञ इस विषय पर एकमत थे कि ये फलेमिश चित्रकार की तूलिका से हैं। यही मत माना जाता था, पर बाद को कहीं कोने में एक नाम खुदा मिला 'ट्रिटटो क्विस्पे १६३१', तब पता लगा कि यह एक पेरू के आदिवासी चित्रकार द्वारा अंकित है। इस चित्रकार ने फलेमिश चित्र-कला में इतनी दक्षता प्राप्त की थी कि वह उसका चित्र फलेमिश चित्रकार का समझा गया। इसी प्रकार उसने अन्य स्थान पर एक चित्र खींचा जो इटैलियन चित्रकार का ज्ञात होता है। इस प्रकार ट्रिटटो क्विस्पे यह चाहता था कि उसकी कृति रहे, उसे भले ही कोई न जाने। अवश्य इससे उन दिनों के औपनिवेशिकवाद से पीड़ित आदिनिवासियों की मनोवृत्ति की बात पता चलती है। क्या इस क्षेत्र में कृति स्थायी होने की अभिलाषा को केवल स्वसुख या स्वान्तःसुख के शब्दों में बताया जा सकता है ?

तो फिर इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि कलाकार अपनी कृति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जितनी भी निस्पृहता का दावा करे, (हम आगे उसकी जाँच करेंगे) पर उसका यह दावा हास्यास्पद होगा कि कृति को जन्म देकर ही उसका सुख पूर्ण होता है।

बहुत से ऐसे कलाकार हो गए हैं जिनकी अपनें युग में कद्र नहीं हुई, फिर भी वे अन्त तक पूर्ण उत्साह के साथ अपने ढंग से सृजन करते गए, पर उन्हें यह विश्वास था कि अपने समय में न सही सौ वर्ष बाद सही उन्हें दर्शक, पाठक या श्रोता मिलेंगे। उन्हीं को दृष्टि में रखकर वे सृजन कर गए, और उन्होंने समसामयिक उपेक्षा की परवाह नहीं की।

इस प्रकार के अपवादों को लेकर स्वान्तःसुखाय मतवाद वाला यह कूट तर्क कर सकता है कि इसका अर्थ यह हुआ कि कलाकार स्वान्तःसुख से अनुप्रेरित होकर कृति का सृजन करता है, उसके मन में एक मानदंड होता है, उसी के अनुसार वह अंकन करता है, लिखता है या गाता है। रही कद्र, सो हो जाय तो वह खुश होता है; क्योंकि यह स्वाभाविक है, और कद्र नहीं हुई तो वह उसकी परवाह नहीं करता।

यह मानना पड़ेगा कि जो कलाकार समसामयिक उपेक्षा की परवाह न करके अपनी कृति का सृजन करते थे या करते हैं, वे साधारण नियम में नहीं आते। पर जैसा कि हमनें उस पत्र-लेखक के बारे में दिखाया जिसका पत्र उसकी प्रेयसी तक नहीं पहुँचता, ऐसे कलाकार के मन में एक गुण-ग्राहक

समाज की कल्पना है जो उस समय मौजूद न होने पर भी भविष्य में उत्पन्न होगा ऐसी आशा वह रखता है। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य है कि कई बार अपने युग में अनादृत कलाकार की यह आशा व्यर्थ सिद्ध होती है। जहाँ एक ऐसा कलाकार होगा जो अपने युग में अनादृत हुआ, पर बाद के युग में आदृत हुआ वहां सौ ऐसे कलाकार होंगे जो अपने युग में अनादृत होने पर यह समझते रहे कि बाद के युग में आदृत होंगे, पर वास्तविक रूप से उनका न तो तब आदर हुआ और न आगे कभी आदर होने की सम्भावना है। इसलिए यह दावा करना कि कलाकार के मन में कोई बना-बनाया मानदण्ड होता है, जिसकी जड़ें किसी प्रकार के रहस्यमय स्वान्त सुखाय में होती है, बिलकुल निराधार है। हमने देख लिया कि व्यावहारिक क्षेत्र में ऐसी किसी बात का अस्तित्व नहीं है।

इस प्रकार यह बिलकुल स्पष्ट है कि कलाकार और उसके दर्शक, पाठक, या श्रोता का सम्बन्ध बिलकुल सामाजिक है, और वह केवल स्वान्त सुखाय लिखता है ऐसा मानना सम्भव नहीं है। बल्कि मैं तो यहां तक जाऊँगा कि यदि कोई चित्रकार किसी चित्र को बनाता है, या कोई कवि किसी कविता की रचना करता है, पर वह अपने चित्र या कविता को किसी को न दिखाकर फाड़कर फेंक देता है, तो उनकी कृति कला की संज्ञा में नहीं आ सकती, याने वह उतनी ही हद तक आ सकती है, जितनी हद तक कि वह फाड़ी हुई कृति भविष्य की कृति को उन्नत करने में याने कला की साधना में सहायक हो। यह तो बताने की आवश्यकता नहीं कि अन्तिम क्षेत्र में कृति का अर्थ फाड़ी हुई कृति से नहीं है। दूसरे शब्दों में यदि वह फाड़ी हुई कृति कला-साधना का एक अंग है, तब तो उसे कुछ महत्त्व प्राप्त होगा, नहीं तो वह चित्र खींचा गया या वह कविता लिखी गई, उसका कोई महत्त्व नहीं है। उस अवस्था में भी उसे हम कला की आख्या नहीं देंगे बल्कि उसे कला-साधना में एक कड़ी के रूप में ही गिनेंगे। यदि एक चित्रकार एक चित्र को दस बार खींचे, और दसों बार उसे फाड़कर फेंक दे, और उसकी कृति आगे भी कभी किसी के सामने न आवे, तो हम यही कहेंगे कि उसकी कला की साधना उस हद तक व्यर्थ गई। अवश्य ऐसा ही निरवच्छिन्न रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मान लीजिये एक चित्रकार ने मनुष्य के चित्र बनाने की साधना की, और वह उसमें असफल रहा, पर इसके बाद उसने बन्दरों के चित्र बनाये, और उसमें सफल रहा, तो यह हो सकता है कि उसके पहले की साधना बिलकुल व्यर्थ नहीं गई, और वह इस नई साधना में आई। पर हमें इस तर्क से

वास्ता नहीं, हमें तो कला की साधना पर नहीं बल्कि कला पर आलोचना करनी है।

जैसे भाषा की सारी धारणा ही सामाजिक है, एक व्यक्ति यदि कुछ बोला, और वह किसी की समझ में नहीं आया, तो उसकी बोली को हम-जैसे भाषा नहीं मान सकते, भले ही उसमें उसका स्वान्तःसुख उद्वेलित रहा हो, उसी प्रकार से कला भी है। कला जब साहित्य के रूप में है, तब वह भाषा में होने के कारण सामाजिक तो हो ही गई, पर अन्य माध्यमों में भी जैसे चित्र में भी वह दूसरे की अपेक्षा रखती है। इस बात की पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं कि ऐसा चित्र चित्र ही नहीं जो किसी के सामने न आया न आयगा। चित्र के साथ द्रष्टा या उपभोक्ता का विचार अविच्छिन्न रूप से सन्नद्ध है।

हाँ एक बात यह कही जा सकती है कि यदि गायक ने गाना गाया, और वह उसे सुनकर खुश हुआ, यदि कवि ने कविता लिखी और वह उसे पढ़कर खुश हुआ, इत्यादि, तो एक सामाजिक प्राणी होने के नाते, उसका यह खुश होना भी सामाजिक है। तर्क के लिए यह बात कुछ वजन-दार ज्ञात होने पर भी इसमें कोई तत्त्व नहीं ज्ञात होगा। यदि इस प्रकार उसके अपने सुख को समाज का सुख मान लिया जाय, तो फिर व्यक्ति की सीमा क्या है? इसी कारण यह कदापि मान्य नहीं हो सकता कि ऐसी हालत में, जब कि कृति का उपभोग-जन्य सुख सृष्टा तक सीमित है, तो उसे कला की संज्ञा दी जाय। भाषा के उदाहरण से इस बात का अच्छी तरह स्पष्टीकरण किया जा चुका है। ऐसे स्वान्तःसुख को चाहे और कोई भी संज्ञा दी जाय, उसे कलाकृति का उपभोग-जन्य सुख नहीं कहा जा सकता।

अब हम कला के दूसरे सामाजिक पहलू पर आते हैं। वह यह कि एक कृति आदृत होती है, और दूसरी नहीं होती, एक की कम कद्र होती है, दूसरी की अधिक; एक का आदर एक समूह में है तो दूसरी का आदर दूसरे समूह में, इन सबका क्या कारण है। जैसे एक भारतीय के लिए चीनी संगीत या एक चीनी के लिए भारतीय संगीत। अपने-अपने देश में इन संगीतों का आदर होने पर भी बाहर वे उपेक्षित हैं। इसका क्या कारण है? यदि इन प्रश्नों की गहराई में जाया जाय तो यह ज्ञात होगा कि कथित कलाकृति में जिस विश्वजनीनता का आरोप किया जाता है, उसमें कोई ऐसी बात है या नहीं यह सन्देहजनक है। परम्परा, शिक्षा, संस्कार इन सारी बातों का किसी एक व्यक्ति या समाज की कला-संबंधी धारणा पर असर पड़ता है। हम बचपन

से हिन्दुस्तानी संगीत-प्रणाली की चीजें सुन रहे हैं, इस कारण हमें एकाएक कर्नाटक संगीत या यूरोपीय संगीत पसन्द नहीं आयगा। इसमें किसी प्रकार की श्रेष्ठता या निकृष्टता का प्रश्न उठाने की आवश्यकता नहीं। सब अपने-अपने लिए उत्कृष्टता का दावा करते हैं। इसी प्रकार और बातों में भी कहा जा सकता है। हाँ कोई व्यक्ति कई परम्पराओं में इतना मँज सकता है कि सभी का उपभोग करे। यहीं से हमें उन क्षेत्रों में विश्व-संस्कृति की उत्पत्ति की संभावना मालूम होती है, जिन क्षेत्रों में जैसे संगीत में अभी अलग-अलग प्रकोष्ठ हैं। पर यह बात यहाँ अप्रासंगिक है।

किस प्रकार से परम्परा, शिक्षा और संस्कार कला-बुद्धि को प्रभावित करते हैं, इसके ब्यौरे में जाना सम्भव नहीं है। वह एक स्वतन्त्र विषय है, और उस सम्बन्ध में अभी अन्तिम बात कही नहीं गई है, और शायद बराबर ज्ञान की वृद्धि होते रहने पर भी यह कहना सम्भव न हो कि अन्तिम बात कह दी गई। पर यह सत्य है कि ये बातें हमारी कला-बुद्धि को प्रभावित करती हैं।

और यह भी सही है कि परम्परा, शिक्षा तथा संस्कार सब क्षेत्रों में विशेषकर देश-देश में अलग-अलग हैं। ऐसा क्यों हुआ यह एक ऐतिहासिक प्रश्न है, पर यह पृथक्ता एक तथ्य है। Universal Art की धारणा कई क्षेत्रों में तो बिलकुल काल्पनिक है। आगे चलकर कभी यह कल्पना कार्यरूप में परिणत होगी। यह सिद्धान्त रूप से मान लेने पर भी इस समय परिस्थिति यही है कि कम-से-कम देश-देश में और प्रान्त-प्रान्त में कला की धारणा बहुत-कुछ भिन्न है।

संगीत को ही लीजिये, क्योंकि उसी पर हम कई बातें कह चुके हैं। कथित आर्य भाषा वाले प्रान्तों में हिन्दुस्तानी संगीत तथा मद्रास प्रान्त में कर्नाटक संगीत का प्रचार है। हिन्दुस्तानी संगीत के क्षेत्र में भी प्रत्येक प्रान्त में अलग-अलग लोक-संगीत हैं, और इस लोक-संगीत के साथ मिश्रण से वहाँ का आधुनिक संगीत बना है जिस पर शायद यूरोपीय संगीत का कुछ पुट आ गया है। मैंने ऐसे लोगों को देखा है जो रेडियो पर कर्नाटक संगीत आते ही उसे बन्द कर देते हैं। मैं उन्हें दोष नहीं देता, क्योंकि जिस प्रणाली पर बचपन से संगीत सुनते आये उससे एकाएक अलग होकर किसी नये संगीत का उपभोग करना हर एक के वश की बात नहीं है।

यह तो स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति की कला-बुद्धि उसकी परम्परा तथा शिक्षा पर निर्भर है। इसमें कलाकार भी आ जाता है, इसलिए कलाकार के

लिए यह दावा करना कि वह सब तरह के सामाजिक प्रभावों से मुक्त है अथवा मुक्त होकर कला-कृति का सृजन करता है बिलकुल थोथा है। कलाकार अपनी धारणाओं में समाज से या बल्कि समाज के उस भाग से, जिसमें वह पैदा हुआ तथा पला है, अपनी कला-सम्बन्धी तथा अन्य धारणाओं को लेता है, और उन्हीं धारणाओं के आधार पर वह सारे कार्य करता है।

साहित्य के क्षेत्र में हम संगीत की तरह प्रादेशिकता या जनपदीय पृथक्ता नहीं पाते, इसका कारण यह है कि हम ऐसा कहते समय कि साहित्य का आवेदन सार्वदेशिक है भाषा की भिन्नता को छोड़कर बात करते हैं। एक भाषा में कही गई बात सौभाग्य से दूसरी भाषा में अनूदित हो सकती है, इसी कारण साहित्य का आवेदन सार्वदेशिक हो जाता है। पर संगीत के क्षेत्र में ऐसी अनुवाद-प्रक्रिया सम्भव न होने के कारण, उदाहरणार्थ बेठोफेन की सिम्फनी हिन्दुस्तानी संगीत में अनूदित न हो सकने के कारण बेठोफेन, बाख, रोदाँ आदि का आवेदन केवल यूरोपीय संगीत के वातावरण में पले हुए लोगों तक ही सीमित है, यानें दूसरे शब्दों में संगीत प्रत्यक्ष रूप से सीधे-सीधे हृदय को स्पर्श करनें में समर्थ होनें के बावजूद उसका आवेदन सार्वदेशिक न होकर सीमित है।

साहित्य में भी सार्वदेशिकता (भाषा के भिन्नत्व की अवज्ञा करनें पर भी) उतनी नहीं है जितनी कि समझी जाती है। साहित्य के कई तर्ज हैं जो जहाँ प्रचलित हैं वहीं प्रचलित हैं। इसके ब्यौरे में जाने से लेख बहुत बढ़ जायगा, इस कारण इसे यहीं पर छोड़ देते हैं। सौभाग्य से सर्वत्र दीवारें टूट रही हैं। याने दूसरे शब्दों में परम्पराएँ एकीभूत हो रही हैं, इस कारण यह आशा की जा सकती है कि साहित्य के क्षेत्र में अपेक्षाकृत सुगमता से सार्वदेशिक मानदण्डों का बोल-बाला होगा।

पर संगीत के क्षेत्र में ऐसी कोई सम्भावना ज्ञात नहीं होती कि सारी परम्पराएँ, शैलियाँ, पद्धतियाँ शीघ्र एक हो जायँगी और इस प्रकार एक हो जायँगी कि एक परम्परा में पला हुआ व्यक्ति दूसरी परम्परा के संगीत का बिना प्रशिक्षण के रस ले सकेगा।

अब हम फिर अपने विषय पर लौट आते हैं। कलाकार के सम्बन्ध में कोई भले ही इस मत को अस्वीकार करे कि उसे समाज के कल्याण के लिए, जिसे हम वैज्ञानिक भाषा में कहेंगे समाज की प्रगति के लिए कला कृतियों का सृजन करे, पर उसे यह मानना पड़ेगा कि कलाकार एक सामाजिक जीव है, और ऐसा वह दोहरे अर्थों में है, याने एक तो उसकी सारी बनावट, उसकी

धारणाएँ तथा मान्यताएँ सामाजिक रूप से उत्पन्न हैं, और दूसरे वह जिस दर्शक, पाठक, श्रोता-मंडली के लिए कृति तैयार करता है, वह तो समाज का ही रूप है।

इतना मान लेने के बाद अब प्रश्न यह आता है कि क्या कलाकार बिलकुल समाज से स्वतन्त्र होकर (क्या वह ऐसा हो सकता है ?) कृतियों का सृजन करे, या समाज के कल्याण में, या जैसा मैंने कहा, उसकी प्रगति में हाथ बटावे ? इस प्रश्न पर तार्किक रूप से आलोचना करने के बजाय यह अच्छा होगा कि व्यावहारिक क्षेत्र में क्या होता रहा है और क्या हो रहा है यह देखा जाय। प्राचीन वैदिक तथा संस्कृत-साहित्य को लीजिये, तो उसमें जनता की आवाज के बजाय कवियों के पृष्ठ-पोषकों की आवाज ही गूँजी है। वैदिक कविता में कुछ तो विजय-गीत हैं जिसमें बड़े लोगों, सरदारों, राजाओं और देवताओं की स्तुति है। ऋषि अपने दाता का जय-गान भी करते हैं, जिसने उन्हें युद्ध की लूट से गो-धन, अश्व तथा सुन्दर दासियाँ दी हैं। कुछ यज्ञ के गाने होते थे, जो शायद किसी खास मौके पर गाये जाने के लिए आर्डर पर प्रस्तुत किये जाते थे। दान-स्तुति तो वैदिक साहित्य की खास चीज है जिसमें दाता की प्रशंसा की जाती है।

बाद के साहित्य में चलिये तो कालिदास से लेकर विद्यापति तक सभी कवि किसी-न-किसी रूप में राज-सभाओं से सम्बद्ध थे। जैसा कि श्री भगवतशरण उपाध्याय ने स्पष्ट किया है, "प्राचीनों के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि उनमें मेधा तथा सामर्थ्य की कमी न होने पर भी उनका संरक्षक राजा ही क्यों है, वे राजा की अवकाश की पूर्ति और मनोरंजन के लिए ही रचना क्यों करते हैं, उनकी गोष्ठियाँ जनता में क्यों नहीं होतीं, विशेषकर नाटकों का आरम्भ राज-सभाओं से क्यों होता है ?

यदि हम प्राचीन काल के स्मृतिकारों, अर्थात् आधुनिक भाषा में जिन्हें जुरिष्ट कहेंगे, को देखें तो हमारी आँखें और भी खुल जायँगी। जुरिस्ट साहित्यकार या कलाकार की श्रेणी में न माने जाने पर भी, उनसे तो और भी अधिक आशा की जाती है अर्थात् आशा करने की परिपाटी है कि वे निष्पक्ष होंगे। पर इस सम्बन्ध में वस्तु-स्थिति इतनी घृणा-उत्पादक है कि लज्जा मालूम होती है। हमारे त्रिकालदर्शी ऋषियों ने यों तो अपने दर्शन शास्त्रों में बहुत बड़ी-बड़ी बातें छाँटी हैं, पर उनका असली रूप उनकी स्मृतियों तथा संहिताओं में खुलता है, क्योंकि वह तो रोजमर्रा की चीज थी, उसमें तो बात बनाने से काम नहीं चल सकता था। एक ही जुर्म के लिए खुलकर शूद्र और ब्राह्मण के लिए

अलग-अलग सजाओं की व्यवस्था यह हमारी संस्कृति की विशेषता है।

दुःख है कि हम इन विषयों को छूकर आगे बढ़ जाने के लिए बाध्य हैं। अब हम एकदम आधुनिक काल में आकर इस प्रश्न को लेते हैं कि क्या कहीं भी कलाकार या लेखक बिलकुल स्वतन्त्र है? साम्यवादी तो इस बात को मानते हैं कि वे सर्वहारा के अधिनायकत्व और पूँजीवादी वर्ग के दमन में विश्वास करते हैं, इसलिए वे खुल्लम-खुल्ला पूँजीवादी विचार-धारा से प्रभावित सभी कलाओं आदि का किसी-न-किसी रूप में दमन करते हैं। उनका तो यह दावा है कि असली स्वतन्त्रता यही है कि जनता (वे जनता में उच्च वर्गों को नहीं मानते) के विरोधी तत्त्वों का दमन हो, इस कारण उनके देशों में कथित निरवच्छिन्न स्वतन्त्रता नहीं है।

इसलिए उसे छोड़कर अन्य देशों में सबसे अधिक स्वतन्त्रता की ख्याति प्राप्त ब्रिटेन को देखें तो वहाँ 'लन्दन-टाइम्स' के भूतपूर्व सम्पादक वीक्हैमस्टीट का कहना है कि अखबारों के मालिक तगड़े व्यक्तित्वयुक्त सम्पादकों को पसन्द नहीं करते। 'वे यह चाहते हैं कि उन्हीं के व्यक्तित्वों की सेवा में विशेषज्ञ लेखक रहें, जिन पर यह विश्वास किया जा सके कि मालिक जो भी मतवाद चाहेगा वह उसका प्रतिपादन करे।' 'डेली हैरल्ड' के सम्पादक फ्रांसिस विलियम्स का भी कहना है कि 'वर्तमान युग में पत्र-सम्पादकों का कार्य केवल अपने मालिकों की राय का प्रतिपादन है।' उदाहरणार्थ 'डेली एक्सप्रेस' में लार्ड बीवरब्रुक, 'डेली मेल' में लार्ड रोथरमीयर, 'डेली टेलीग्राफ' में लार्ड कामरोज, 'डेली स्केच' में लार्ड केमसले की आवाज़ सुनाई पड़ती है। इनके अलावा विज्ञापनदाता अपना संघ बनाये हुए हैं, और वे विज्ञापन देकर अथवा उसे वापस करके अपना मत अखबारों में चलवाते हैं। यह तथ्य इतना सुपरिचित है कि १९४६ में कोपेनहेगेन में पत्रकारों का जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ था उसने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर दी कि जब तक पत्र, सम्वाद भेजने की एजेंसियाँ कुछ व्यक्तियों तथा एकाधिकारमूलक संस्थाओं के हाथों में रहती हैं, तब तक पत्रकार की स्वतन्त्रता काल्पनिक रहेगी। इस सम्मेलन ने यह भी बताया कि अब तक छापेखाने का प्रयोग बहुत-कुछ मानवता को दबाने में ही हुआ है।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि कथित निरवच्छिन्न स्वतन्त्रता तो कहीं भी नहीं है। इसके साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि क्या कलाकार पर सचमुच ही कोई रोक न रखी जाय, तो इस पर स्टीफन स्पैण्डर-जैसे व्यक्ति भी, जो सब प्रकार की रोकों के विरुद्ध हैं, कहते हैं कि ब्लासफीमी याने धार्मिक आघात

तथा अश्लीलता पर रोक होनी चाहिए । अर्थात् वे भी किसी रूप में रोक को मानते हैं, अब यदि कोई धर्म के स्थान पर कहे कि जनता पर आघात वर्जनीय हैं तो इस पर क्या कहा जा सकता है । धर्म बहुत से क्षेत्रों में जनता के विरुद्ध है, जब ऐसा होने पर भी उस पर चोट वर्जनीय समझी जाती है, तो जो लोग जनता पर चोट को वर्जनीय कहते हैं, उन्हें बुरा कैसे कहा जा सकता है ?

इसलिए मेरा यह विचार है कि कलाकार स्वतन्त्र है, और उसे स्वतंत्र होना चाहिए, पर वह जनता का एक अंग है, इस कारण उसे जनता के विरुद्ध जाने का कोई अधिकार नहीं है । नागरिक स्वतन्त्रता का अर्थ जैसे यह नहीं है कि हम दाएँ या बाएँ जिधर से चाहे गाड़ी चलायँ, एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता वहीं समाप्त होती है जहाँ दूसरे की शुरू होती है, उसी प्रकार से कलाकार की स्वतन्त्रता तभी तक और उसी हद तक है जहाँ तक कि वह जन-कल्याण के विरुद्ध नहीं जाता । कला का अर्थ सेवा है, जनता की सेवा ।

१०

विश्व-साहित्य पर एक सरसरी दृष्टि

आजकल लोग विश्व-साहित्य का बात-बात में उल्लेख करते हैं, ऐरे-गैरे समालोचक तो हमारे एकाधिक लेखकों को विश्व-साहित्यिक तथा उनकी कृतियों को विश्व-साहित्य करार दे देते हैं। देश-प्रेम तथा मातृभाषा का प्रेम कुछ सीमा तक अच्छा है, किन्तु कम-से-कम साहित्य-क्षेत्र में इस प्रकार का पक्षपात असहनीय है, विशेषकर जब वह अज्ञान से उद्भूत हो। इस लेख में मैं विश्व-साहित्य पर अपना अभीष्ट नहीं कहूँगा, इस विषय पर एक जर्मन भाषा के लेखक की लिखी हुई पुस्तक का सार संकलन-मात्र कर दूँगा। दुःख है कि लेखक के सब मतों से तथा व्याख्याओं से मैं सहमत नहीं हूँ। यह भी कहना आवश्यक है कि लेखक का असली उद्देश्य विश्व-साहित्य के विकास तथा मूल्य पर राय देना नहीं है, ऐसा तो लेखक ने राह चलते यों ही कहीं-कहीं किया है, लेखक का असली उद्देश्य विश्व-साहित्य का एक पुस्तकालय कैसे और किन पुस्तकों से बनाया जाय, इस विषय पर मत देना है। लेखक की सूची में आधुनिक लेखकों का यानें इस शताब्दी के लेखकों का पता नहीं है यह भी एक दोष है। लेखक का नाम है हेरमान हेंसे, तथा पुस्तक का नाम है Fine Bibilothek der weltliteratur। यह पुस्तक लाईपसिग के फिलिप रिल्काम नामक प्रसिद्ध प्रकाशक के यहाँ से छपी है।

बहुत-सी भाषाओं की बहुत-से प्रकाशकों की पुस्तक-सूची मेरे देखने में आई, किन्तु विश्व-साहित्य का इतना सस्ता तथा सम्पूर्ण संस्करण रिल्काम के सिवा किसी और प्रकाशक ने प्रकाशित किया हो, ऐसा मुझे मालूम नहीं। पुस्तकें सब एक ही आकार में बड़े अच्छे कागज पर छपी हैं; चीनी, जापानी, संस्कृत, फारसी, अरबी सभी भाषाओं का साहित्य इसमें सम्मिलित है। केवल इन पुस्तकों का प्रामाणिक अनुवाद ही नहीं, बल्कि हरेक पुस्तक में किसी विशेषज्ञ विद्वान् की लिखी हुई अत्यन्त मनोज्ञ भूमिका भी है। न मालूम भारतीय भाषाओं में ऐसे प्रकाशक कब होंगे ?

हेर हेसे लिखते हैं—"प्रकृत शिक्षा का कोई एक संकुचित उद्देश्य नहीं होता, परिपूर्णता के लिए प्रत्येक प्रचेष्टा की तरह उसका उद्देश्य अत्यन्त व्यापक है। शरीर-चर्चा का उद्देश्य जैसे केवल फुर्तीलापन या सौन्दर्य नहीं है उसी तरह शिक्षा का भी समझा जाय। शिक्षा का उद्देश्य किसी मानसिक क्रिया या शक्ति को उद्बुद्ध करना नहीं बल्कि वह हमें अपने जीवन को अर्थ देने में सहायता करती है, हम उसकी सहायता से भूतकाल की व्याख्या में समर्थ होते हैं, साथ-ही-साथ एक निर्भीक तैयारी के साथ वह हमें भविष्य का सामना करने का बल देती है।।

शिक्षा की इस विराट् उद्देश्य-पूर्ति के लिए एक बहुत ही बड़ा उपाय है कि विश्व-साहित्य का अध्ययन किया जाय, अर्थात् हम उस उमड़ती हुई विचार-धारा में मज्जन तथा पान करें जो भूतकाल के कवि तथा विचारवान व्यक्तियों के सम्मिलित विचार, प्रयोग, स्वप्न तथा इच्छाओं से बनी है। यह विचार-धारा बड़ी ही विस्तृत है, किसी एक मनुष्य के लिए समग्र मनुष्य जाति का तो क्या एक ही देश की समस्त विचार-तरंगों से परिचय प्राप्त करना सम्भव नहीं। यहीं से चुनने का सवाल उठता है, किन्तु यह सवाल बड़ा टेढ़ा है। प्रत्येक पाठक की रुचि भिन्न है, उसी के अनुसार उसका चयन भी भिन्न होगा। इसके अतिरिक्त यह भी तो प्रश्न है कि इस विश्व-साहित्य के साथ परिचय रूपी उदात्त उद्देश्य के लिए वह पाठक कितना धन तथा समय व्यय कर सकता है। किसी के लिए तो अफलातून सबसे बड़े तत्त्ववेत्ता तथा होमर सबसे प्रिय कवि होंगे, ये ही लेखक उस पाठक के दृष्टिकोण के केन्द्र-स्थल होंगे, और इन्हीं के इर्द-गिर्द खड़े होकर वह और लेखकों पर रायजनी करेगा। जो लेखक या कवि अफलातून और होमर से जितना निकट या घटकर होगा उसी के अनुसार वह उसका मूल्य कूतेगा। अन्य पाठकों के लिए अन्य आदर्श होंगे। कुछ तो कविता का मकरन्द पान करने में, कल्पना की उड़ान में हिलोरें लेने में ही तथा भाषा के लालित्य पर ही मर मिटेंगे, कुछ विचार-प्रधान लेखों में ही तल्लीन रहेंगे, कुछ अपनी रुचि के अनुसार फ्रेंच, ग्रीक, रूसी इत्यादि में से किसी एक की अभिव्यक्ति-प्रणाली के प्रेमी होंगे।

यहाँ पर अनुवाद की आवश्यकता तथा उसके महत्त्व का प्रश्न उठता है। बात यह है कि बड़े-से-बड़े विद्वान् भी केवल कुछ ही भाषाएँ सीख सकते हैं। कुछ ऐसी कविता (जिसे गीतिकाव्य कहेंगे) हो सकती हैं, जिनका अनुवाद हो ही नहीं सकता। हम ऐसी रचनाओं की बात तो जाने देते हैं। हम जब तक उन भाषाओं को न सीखें तब तक हम उनका रसास्वादन कर ही नहीं सकते।

विश्व-साहित्य के अध्ययन में सबसे पहली बात है कि पाठक अपनी रुचि का पता लगाय, उसको इस बात की खोज करनी चाहिए कि किस श्रेणी की रचना उस पर अधिक प्रभाव डालती है। इस मामले में वह प्रेम-पथ का ही अनुसरण करे। अपने को जबरदस्ती एक रचना पढ़ने में लगाना, क्योंकि वह रचना प्रसिद्ध है तथा उसको न पढ़ने से लोगों में हँसी होगी एक बेकार-सी बात है। इसके विपरीत हमें अध्ययन में, ज्ञान में तथा प्रेम में ऐसी जगह से सूत्रपात करना चाहिए जो हमारे लिए स्वाभाविक हो। स्कूल के ही दिनों में किसी लगता लड़के को तो ललित पदयुक्त कविता भाती है, किसी को इतिहास अच्छा लगता है, किसीको कुछ, और, सैकड़ों रुचियाँ हैं। रचना चाहे कितनी ही प्रसिद्ध हो जब हम उसे बरदाश्त नहीं कर रहे हैं, तो उसे भविष्य के लिए छोड़ रखना ही अच्छा है। फिर जब रुचि उस ओर हो, तो हम उसे पढ़ सकते हैं।

विश्व-साहित्य की विराटता को देखकर घबराना नहीं चाहिए, ऐसे-ऐसे पाठक हैं जो एक साथ एक दर्जन किताब पढ़ते जाते हैं, अर्थात् एक को पढ़ते-पढ़ते जब थक गए तो विषय बदलकर कुछ दूसरा पढ़ने लग जाते हैं। जिन्दगी भर ये लोग एक दर्जन पुस्तक पढ़ने में समर्थ होने पर भी उन पाठकों से कहीं अच्छे पाठक होते हैं जो कि सैकड़ों पुस्तक पढ़ डालते हैं, किन्तु स्मरण कुछ नहीं रखते। शेषोक्त लोगों का पढ़ना बेकार जाता है। रुचि के बिना अध्ययन, श्रद्धा के बिना ज्ञान तथा हृदय के बिना शिक्षा ये बातें बुद्धि-वृत्ति (Geist) के विरुद्ध जघन्यतम पाप हैं।

इसके माने ये हुए कि विश्व-साहित्य का सूचीपत्र तैयार करना बेकार है, हरेक को अपने लिए सूचीपत्र तैयार करना पड़ेगा, इसलिए हम यहाँ किसी रुचि-विशेष की परवाह न करके एक सार्वजनिक रूप से ग्रहण-योग्य सूची तैयार करेंगे। यह सूची तैयार करने में एक बात बहुत सहायक होगी। आज जो प्रचलित है, कल उसका प्रचलन समाप्त हो सकता है, किन्तु जो पुस्तकें कई शताब्दी पुरानी होने पर भी टिकी हुई हैं, अर्थात् प्रचलित हैं, उनको हम निःसन्देह रूप से इस सूची में शामिल कर सकते हैं।

हम पहले प्राचीनतम तथा पवित्रतम धर्म-ग्रन्थों से आरंभ करते हैं। बाईबल को तो सभी जानते हैं, हेरहेसे इसके बाद ही भारत की प्राचीनतम पुस्तक वेदों से संग्रह के रूप में कुछ उपनिषदों को ग्रहण करते हैं। बुद्ध की वाणी का एक संग्रह भी इसके साथ सम्मिलित कर लिया जाय, साथ ही प्राचीन बैबिलोन के 'गिलगामेश' को हम भूल नहीं सकते, जिसमें कि उन प्रबल पराक्रान्त वीरों का वर्णन है जो मृत्यु से लड़ते हैं। प्राचीन चीन से हम कनफ्यूसियस

के वचन, लाओत्से का ताओ ते किंग तथा त्सुआँगत्से के दृष्टांत (Gleichniss) लेंगे। हमने ऊपर जिन पुस्तकों का नाम लिया, उन्हीं पर मुख्यतः समस्त मानव जाति के कानून आदि बने हैं। गूढ़ विचारों की ऊँची-से-ऊँची उड़ान, कविता का चरम उत्कर्ष, हमारे अस्तित्व पर सब तरह की कल्पना वहाँ से निकलती हैं।

मध्ययुग के प्राच्य साहित्य से हमें अद्भुत गल्प-संग्रह अलिफ लैला को अवश्य ही लेना पड़ेगा। इसका क्या कहना है। पृथ्वी की पुस्तकों में इसके समान गल्प शायद किसी में हीं हो। सब जातियों ने ही सुन्दर गल्पों की सृष्टि की है, फिर भी हम इस जादूभरी पुस्तक को पहले ले रहे हैं। इसके बगल में ही अवश्य हम ग्रिमबन्धु के द्वारा संगृहीत गल्प-ग्रंथ को भी रख सकते हैं। फारसी कविताओं में से भी हम इस स्थान पर कुछ ले सकते हैं। किन्तु एक उमर खय्याम और हाफिज़ के अतिरिक्त शायद और किसी का अनुवाद न मिल सके।[1]

अब हम यूरोपीय साहित्य पर आते हैं। प्राचीन कविता के ऐश्वर्यमय जगत् से हम होमर के दोनों महाकाव्यों को लेंगे, इससे हम प्राचीन ग्रीस के समस्त वातावरण तथा गतिविधि से परिचित हो जायँगे। ग्रीस के दुःखान्त काव्य प्रसिद्ध हैं, हमें इसलिए इशिलस, सोफोक्लिस और यूरिपिडिस की रचनाओं को भी इसमें लेना पड़ेगा। इसके बाद जब हम ग्रीस के तत्त्वज्ञानियों की ओर मुड़ते हैं तो हम बड़ी पशोपेश में पड़ जाते हैं, फिर भी हमें सुकरात की यत्र-तत्र बिखरी हुई वाणी को लेना पड़ेगा, क्योंकि वे कदाचित् ग्रीस के सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्ववेत्ता हैं। जैनोफोन तथा अफलातून के लेखों से ही हमें उनकी वाणी का उद्धार करना पड़ेगा। यदि कोई ऐसी पुस्तक होती जिससे सुकरात की सब वाणियों का सम्पूर्ण तथा ढंग से संग्रह होता तो अच्छा होता। जिन तत्त्ववेत्ताओं ने किसी दर्शनविशेष का प्रतिपादन किया है हम उनमें से किसी को इस पुस्तकालय में स्थान नहीं देंगे। बल्कि हम एरिस्टोफेनिस को लेंगे जिनकी हास्यरसात्मक रचनायें यूरोप के हास्यरस के लेखकों के लिए रास्ता दिखाने वाली रही हैं। प्लुटार्क की भी कम-से-कम दो रचनायें हमको लेनी पड़ेंगी, वीरों की जीवनी लिखने में वे सिद्धहस्त रहे हैं। इसके साथ लुकिआन को भी नहीं भूलना चाहिए, वे विद्रूपात्मक कहानियों के धुरन्धर लेखक हैं।

रोमनों में काव्य-लेखकों से इतिहास-लेखकों का अधिक बोल-बाला रहा

---

[1] हिन्दी में तो बहुत और कवितायें भी मिलेंगी जैसे-गुलिस्ताँ आदि।

हैं। फिर भी हम होरेस, वर्जिल, श्रोविड तथा टैसिटस को लेंगे। साथ में सुएटोन तथा पैट्रोनियस का सैटिरीकोन को लेना जरूरी है। सैटिरीकोन में नीरो के समय का अच्छा दिग्दर्शन है, इस ग्रंथ का यदि पूरक ग्रंथ कोई है तो एपेल्यूस का 'सोने का गधा' है। रोम साम्राज्य के पतन-काल का इन दो पुस्तकों में बड़ा मनोग्राही चित्रण है।

मध्ययुग में, जिसको कि कुछ हद तक लोग अन्धकार का युग कहते हैं सबसे पहले हमारी आँख डाण्टे की 'ईश्वरीय कामेडी' पर पड़ती है। इसको इटली के बाहर कुछ विद्वान् लोग ही पढ़ते हैं, किन्तु इसके प्रभाव की छटा बड़ी सुदूर विस्तृत है, ऐसी पुस्तक शताब्दियों में ही नहीं दस-दस शताब्दी में एक दो ही लिखी जाती हैं।

प्राचीन इटालियन साहित्य में से बोक्कासिओ की "डेकामेरोन" नामक पुस्तक को हम अवश्य लेंगे। यूरोप की कहानी-लेखन-कला का यह सबसे पहला महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। बहुत से नीतिवादी इस पुस्तक पर बहुत एतराज करते हैं, इसकी भाषा बड़ी सजीव है, और बार-बार इसका विभिन्न भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। बोक्कासिओ की पुस्तक इतनी सफल रही कि इसके सैकड़ों अनुकरण लिखे गये और प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु कोई भी अनुकरण इसकी ऊँचाई तक नहीं पहुँच सका। बाद को यूरोप में जो कथा-साहित्य की अद्भुत उन्नति हुई उसका सूत्रपात यहीं से हुआ।

इटली के पुनरुज्जीवन-युग के कवियों में हम एरिओस्टो को नहीं छोड़ सकते, उसकी जादूबयानी अब भी ताजी है। इसके भी सैकड़ों अनुकरण हुए। इन अनुकरणकारियों में कदाचित् सबसे प्रमुख तथा सफल विलांड (जर्मन) हैं। पेट्रार्क के सनेट भी इस सिलसिले में लिये जा सकते हैं, सनेटों में तो वे आदर्श हैं। माइकेल एंजोले ने थोड़ी-सी कविता लिखी हैं, थोड़ी होने पर भी ये कविताएँ अपने युग में एक विशेष स्थान रखती हैं। इटली के पुनरुज्जीवन-युग का ठीक-ठीक सजीव चित्रण करने के लिए हम बेनेवेनुटो चेल्लिनि (Benevenuto Cellini) की आत्मकथा को लेंगे। बाद की इटालियन कविता भी बहुत थोड़ी ही हमारे पुस्तकालय में स्थान पा सकती है, फिर भी गोल्डोनि (Goldoni) के तीन दुःखान्त नाटक, गोज्जि (Gozzi) की कहानियाँ तथा उन्नीसवीं शताब्दी के लिओपाडि तथा कारडुक्कि (Carducci) की रचनाओं को हम छोड़ नहीं सकते।

मध्ययुग के फ्रांस में फ्रांसोयां विलें (Francois Villon) नामक एक शक्तिशाली कवि हुआ है, जिसकी कविताओं में कुछ अजीबपन की पुट होते

हुए भी वे अतुलनीय है। फ्रेंच-साहित्य में जब हम और आगे बढ़ते हैं, तो हमें बड़े-ही-बड़े लेखक तथा कलाकार नजर आते हैं । Montaigne का लिखा हुआ निबन्ध-ग्रन्थ तो हमें चाहिए ही, और फिर राबले का Gartgantua और Pantagruel, पास्काल के विचार तथा 'जैसुइट पत्र' भी चाहिए। राबले परिहास-रसिकों के शिरोमणि हैं, तो पास्काल एकदम कृच्छ्रवादी विचार के हैं। Corneille का Cid तथा Horace और रासिन का Phaedra एवं Athalie सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है। पूर्वोक्त लेखकगण फ्रेंच रंगमंच के पिता हैं। इसके बाद ही हम मौलियर को लेंगे जिनमें कि विद्रूप करने की कला पराकाष्ठा तक पहुँच गई है। लाफोतेन की कहानियों को तथा फेनेलों (Fenelon) की Telemach नामक पुस्तक को हम इस पुस्तकालय में रख तो लेंगे किन्तु उन्हें शायद ही कभी पढ़ें। इसके बाद ही वालटेयर आते हैं, जो गाड़ियों पुस्तकों के लेखक थे, प्रश्न यह है कि हम उनमें से क्या-क्या लें। फिर भी उनके बोलते हुए गद्य में से हम कुछ-न-कुछ लेना चाहेंगे। हम इसलिए उनकी Candide तथा Zadig नामक पुस्तकों को चुनते हैं, बहुत दिनों तक इनका ललित व्यंग फ्रेंच प्रतिभा क्या हो सकती है इसके नमूने के रूप में उपस्थित किया जाता था। वालटेयर के अतिरिक्त भी कुछ बड़े फ्रेंच लेखक हुए हैं। हम उनमें से बोमार्शे का Figaro तथा रूसो की 'आप बीती' लेंगे। यहाँ पर हम भूल गए कि हमें लसाज (Lesage) की Gil Blas नामक पुस्तक तथा आबे प्रिवोस्ट की Manon lescant भी लेना चाहिए था।

Gil blas तो गुण्डों के विषय में उपन्यास है, और हमारे जासूसी उपन्यासों का पूर्वपुरुष है। प्रिवोस्ट की पुस्तक एक सुन्दर प्रेमोपन्यास है।

इसके बाद फ्रेंच रोमांटिक साहित्य आता है, किन्तु इसकी अलमारियाँ इतनी खचाखच भरी हुई हैं, तथा उनमें इतने नाम हैं कि हम बिलकुल चकाचौंध हो जाते हैं। हमारी समझ में नहीं आता कि क्या लें और क्या छोड़ दें। इसलिए हम केवल उन्हीं को लेंगे जो कि एक विशेष शैली में लिखे हुए हैं। जैसे कि स्टेण्डहाल का 'लाल और काला' और पार्मा का 'तासखाना' है। बोदलेर का कविता ग्रंथ Les fleurs dumal भी इसी श्रेणी में आते हैं। स्टेण्डहाल तथा बोदलेर के साथ ही हम गोतिय (Gautier) म्युसे (Musset) तथा Murger को लेंगे।

इसके बाद ही बालजाक का नम्बर आता है, जिसके उपन्यासों में चार-पाँच अवश्य ही लिये जायँ। बालजाक के ग्रंथ Goriot, Eugene grandet" ,तीस वर्ष की महिला' ये किताबें विशेष अच्छी हैं। बालजाक की इन पुस्तकों

में तथ्य-ही-तथ्य भरे हुए हैं। इन तथ्य-बहुल ग्रंथों के साथ-साथ हम मेरिमे की भाव-बहुल सुन्दर कहानियों को तथा फ्लोबेर Flaubert की Madame Bovary और Education sentimentale लेंगे। इसके बाद ही हम जोला की Lassomoir तथा 'पुरोहितों के पाप' नामक पुस्तक को लेंगे अवश्य ही इन सिलसिले में हम मोपासाँ की कहानियों को लेंगे। इसके बाद ही हम आधुनिक साहित्य की सीमा में पहुँच जाते हैं।

अंग्रेजी साहित्य में हम चासर को Canterbury tales से आरम्भ कर सकते हैं, जो कि कुछ हद तक बौक्कासिओ से लिया गया है, किन्तु इसकी शैली में एक नयापन है। चासर प्रथम अंग्रेज कवि समझे जाते हैं। इसके बाद ही हम शैक्सपीयर की रचनाओं में से कुछ ही नहीं बल्कि सभी लेंगे। कुछ लोग मिलटन के Paradise lost का उल्लेख बड़ी नाक-भौं सिकोड़कर करते हैं, किन्तु क्या इन लोगों में से किसी ने इसको पढ़ा है? नहीं। चेस्टरफील्ड ने अपने पुत्र को जो पत्र लिखे हैं, वे कोई धार्मिक उपदेश से भरे नहीं हैं, उसमें तो विषय-बुद्धि का ही उन्मेष होता है, किन्तु हम उसे भी लेंगे। कुछ विषय-बुद्धि भी होनी चाहिए।

'गलिवर' के लेखक स्विफ्ट की भी कुछ रचनाओं को क्या हम सभी लेते हैं, उनके विशाल हृदय, तीव्र व्यंग तथा सहृदयता से उनकी खामख्याली ढक जाती है। डैनियल डिफो की 'राबिन्सन् क्रूसो' नामक पुस्तक को हमें लेने की आवश्यकता नहीं। वह तो हमारे पुस्तकालय में पहले से ही मौजूद होगी, भला कौन सा ऐसा लड़का होगा जिसने कि अपने स्कूली दिनों में इसे चाव से न पढ़ा हो। हाँ, हम चाहें तो डिफो को 'मोल फलौब्रेरस की कहानी' ले सकते हैं, किन्तु उसमें वह मजा नहीं। फिल्डिंग (Fielding) का टाम जोन्स, तथा स्मोलेट का The adventures of Peregrine Pickle को हम लेंगे, किंतु लारेन्स स्टार्न (Lawrence Sterne) का Tristram Shandy और Sentimental journey को भी लेना आवश्यक है। शेषोक्त दो पुस्तकों में अँग्रेज जीवन का जीता-जागता चित्र हमारे सामने आयगा। शेली तथा कीट्स की कविताओं को हम नहीं भूल सकते, गीतिकाव्यों में इन रचनाओं से सुन्दर शायद कुछ नहीं है। बाइरन का व्यक्तित्व एक अद्भुत व्यक्तित्व था, हम उस पर चाहे जितना हैरान हों हमारे मतलब के लिए उनकी किसी एक पुस्तक ले लेना ही अच्छा होगा, सबसे अच्छा तो हो कि हम उनकी Childe Harold नामक पुस्तक लें। वाल्टर स्काट के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों में से हम Ivanhoe को ले लें तो अच्छा रहेगा। De Quincey की चटखती हुई

पुस्तक 'अफीमची के चोंचले' पुस्तक को भी हमें लेना पड़ेगा। मैकेले भी एक अजीब निबन्ध-लेखक हुआ है, उसकी रचनाओं में से एक पुस्तक देखने लायक होगी। कभी-कभी लच्छेदार बातें भी अच्छी लगती हैं, चाहे उनमें कुछ भी तत्त्व न हों। कार्लाइल की भी दो पुस्तकें Sartor Resartus और Heroes ले लेने से हम एक महान् अँग्रेज की विचार-धारा की विस्मृति तथा गहराई से परिचित हो जायँगे। थैकरे का "Vanity fair" तथा The book of Snobs एक विशेष शैली में लिखी गचना हुई हैं।

इसके बाद डिकेन्स को लिया जाय, वे शायद अँग्रेज उपन्यासकारों में सबसे कल्पना रूपी ऐश्वर्य से युक्त साथ-ही-साथ सहृदय भी हैं, कम-से-कम उनके दो उपन्यासों को अर्थात् Pickwick Papers और 'डैविड कॉपरफील्ड' हमें लेना चाहिए। डिकेन्स के बादवालों में मेरेडिथ हमें महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है, याने इसका Egoist तथा The ordeal of Richard Freveral हम लेंगे। स्विनवर्न की कुछ कविताएँ भी हमें लेनी चाहिए, यद्यपि यह बात है कि अनुवाद में उसका मजा बहुत-कुछ बिगड़ जायगा। आस्कर वाइल्ड की भी दो-एक रचनाएँ हमें लेनी चाहिएँ, Dorian Grey और कुछ निबन्धों को लेना ही यथेष्ट होगा। अमरीकन साहित्य भी कुछ होना चाहिए, अच्छा पो (Poe) की एक पुस्तक ले ली जाय, पो झुँझलाहट तथा आतंक का कवि है। वाल्ट ह्विटमैन की करुण कविता भी देखने लायक है।

स्पेन के साहित्य में से हम सरवांतस (Cervantes) के 'डान क्विक्साट' को चुनते हैं, यह पुस्तक केवल एक अनहोनी रचना ही नहीं बल्कि सर्वकाल के साहित्य में भी एक दुष्प्राप्य चीज है। इस पुस्तक का नायक, जो कि सर्वदा भूत-प्रेतों से एवं सर्वप्रकार की अलाय-बलाय से लड़ता हुआ नजर आता है, तथा उसका जोड़ा सांकों विश्व-साहित्य में दो अमर आकृतियाँ हैं। हम उन्हें कभी भूल नहीं सकते।

इसके बाद हमें स्पेन के साहित्य में से एक ऐसे उपन्यास को चुनना चाहिए जिसमें कि स्पेन के उस युग का साहित्य धनी मालूम देता है। हम Quevedo Villegas का Poblo Segovia चुनते हैं। फ्रेंच-साहित्य के सिलसिले में हम एक पुस्तक Gil Blas का नाम ले चुके हैं, किन्तु स्पेन की ये पुस्तकें उसकी दादी हैं। उपरोक्त पुस्तक में बार-बार नायक की जान जोखिम में पड़ती है, साथ-ही-साथ उसमें हास्य रस की प्रचुरता है। स्पेन नाटककारों का भी घर है, हम वहाँ से काल्डेरन को चुनते हैं।

हमें और भी बहुत से साहित्यों से चुनना है, उदाहरणतः फ्लेमिश तथा

नेदरलैंड के साहित्य से भी कुछ चुनना है। इनमें से हमें कोस्टर (Coster) के Tyl Ullen Speget और Multatuli का Max Haveller चुनते हैं। कोस्टर की कहानी एक तरह से डान क्विक्साट का छोटा भाई है, और फलेमिश जाति का एक महा ग्रंथ है। हावेलार नामक ग्रंथ मेर्टिरेर्स मुल्टाटुलि की सर्वोत्तम रचना है, मुल्टाटुलि ने अपने जीवन के दस साल तक शोषित मलायी जाति के लिए युद्ध किया था।

यहूदियों का न तो कोई एक मुल्क है और न कोई एक भाषा। फिर भी उनकी प्रतिभा की उपज चारों तरफ बिखरी हुई है, इनमें से कुछ ऐसे हैं जिनको हम इस अवसर पर भुला नहीं सकते। स्पेनवासी यहूदी येहूदा हालेवि (Jehuda Halwey) के लिखे हुए धर्मगानों को तथा कविताओं को हम पसन्द करेंगे। मार्टिन बूबेर ने कुछ पुस्तकों का बड़ा मनोज्ञ अनुवाद किया है।

नोर्डिक लोगों के साहित्य से हम 'प्राचीन एड्डा की कविताएँ' तथा 'आइसलैंड के सागा' को लेंगे। नवीन स्कंडिनेवीय साहित्य से हम अंडेर्सन की कहानियों को, याकोब्सेन की कहानियों को, इबसेन की कुछ उत्तम किताबों तथा स्ट्रिन्डबेर्ग की कुछ रचनाओं को लेंगे, यद्यपि अन्तिम दो लेखकों का अब कुछ रिवाज उठता-सा जा रहा है।

इधर का साहित्य बड़ा ऐश्वर्यशाली है। रूस का पुश्किन तो ऐसे लेखकों में समझा जाता है, जिसका कि अनुवाद ही नहीं हो सकता। हम इसलिए गोगोल की 'मृत आत्माओं' से आरम्भ करेंगे, फिर टुर्गेनेफ के 'पिता और पुत्र' को लेंगे, यद्यपि इस महा ग्रंथ को लोग अब कुछ भूल चुके हैं। गोन-चारीफ का 'ओबलोमोफ' भी हम अवश्य इस सिलसिले में लेंगे। अब हम टालस्टाय पर आते हैं। टालस्टाय ने अपने जीवन में सुधारक का पार्ट इतना खेला कि लोग उनकी कला-कृतियों को भूल गए हैं फिर भी वे एक बड़े भारी कलाकार हैं। हम उनके 'युद्ध और शांति' तथा 'आना कारेनिना' नामक पुस्तकों को अवश्य लेंगे। यह "युद्ध और शांति" नामक पुस्तक कदाचित् सबसे सुन्दर रूसी उपन्यास है। इन उपन्यासों को लेने से ही हम टालस्टाय की प्रतिभा से परिचित हो जायँगे, किन्तु फिर भी हम उनकी कहानियों को लेंगे, उनमें कुछ लोकोत्तर विशेषता है। बाकी रह गये डोस्टोइएस्कि, सो उनके ग्रंथों में से "कारामासोफ" "रास्कोलनिकोफ" तथा "मूर्खगण" नामक पुस्तक लेते हैं।

अब हम चीन से रूस तक, तथा अति प्राचीनकाल से प्रायः आधुनिक काल तक समस्त साहित्य का दौरा कर चुके, इस दौरे में हमें बहुत सी

जातियों का तथा बहुत से देशों का दौरा करना पड़ा। अब हम जर्मन साहित्य को लेते हैं।

लूथर की लिखी हुई जर्मन-बाइबल पहली पुस्तक है जो जर्मन भाषा में विशेषकर स्थान रखती है। प्रतिसुधार (Gegenreformatin) के युग में ब्रेस्लाउ नगर में एक कवि पैदा हुआ, जिसका नाम Angelus Silesius है ! इनकी पुस्तक Cherubinische wandersmann नामक कविता-ग्रंथ को भी हम लेते हैं, मौलिकता तथा ताजगी में यह पुस्तक एक ही है। इसी सिलसिले में हम Chr. Renter की Schelmuffsky नामक हास्य-रसात्मक पुस्तक लेते हैं। 'बैरन मुनखाउसैन के कारनामे' नामक हास्य-रसात्मक पुस्तक भी अपने ढंग की एक ही है।[1] बावन गज की बातों का नमूना इससे बढ़कर कहाँ मिलेगा। फिर भी हम यदि गौर से देखेंगे तो मुनखाउसेन हमारी चारों ओर मिलेंगे।

इसके बाद ही हम प्राचीन साहित्य को पार करके अर्वाचीन साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण करते हैं।

पहले ही हम लैसिंग (Lessing) की रचनाओं को लेते हैं, कुछ लोगों की तो यह धारणा है कि लैसिंग की तरह समालोचक नहीं होते तो जर्मनी में जो बाद को प्रतिभा की बाढ़-सी आई थी वह न आती। क्लोपस्टोक की हम किस कृति को लें ? हम यदि उनके odes ले लें तो काफी हो जायगा। हेर्डर को तो लोग भूल से गए हैं, किन्तु यदि यत्र-तत्र हम उनकी कविता में गोता लगावें, तो हमारे हाथ में गाहे-बगाहे मोती लग जायगा, इसमें सन्देह नहीं।

Wieland लिखित Oberon ले लेने से ही हमें उनका रस मिल जायगा। इतने ही से हमें इस सहृदय, हास्य-रसिक, प्राचीन तथा फ्रेंच साहित्य में निष्णात (स्पष्टता का भक्त किन्तु इतना नहीं कि कल्पना को तिलांजलि दे दे) लेखक का परिचय मिल जायगा।

इसके बाद हम कवि-शिरोमणि गेटे के पास आते हैं। यहाँ उञ्छवृत्ति से काम नहीं चलेगा, बल्कि गेटे की हमें सभी पुस्तकें लेनी पड़ेंगी। हमें गेटे

---

१ हमारे पास लंदन की Media Society द्वारा प्रकाशित The Surprising adventures of Baron Munchausen नामक पुस्तक है। इसके भूमिका-लेखक Thomas Secoonbe नामक सज्जन बहुत से प्रमाण देकर यह दावा करते हैं कि यह पुस्तक मूल में अंग्रेजी में लिखी गई थी। वह भी इतना मानते हैं कि यह अंग्रेज की लिखी हुई पुस्तक नहीं है, पुस्तक के नायक का नाम तो जर्मन है ही।

में प्रतिभा की पराकाष्ठा मिलेगी, जिसके आगे शायद किसी का जाना संभव नहीं। गेटे की रचनाओं के साथ-साथ गेटे के जीवन-चरित्र के सम्बन्ध में जो कुछ हमें मिल सके वह हमें बटोर लेना चाहिए, गेटे का जीवन स्वयं किसी काव्य से कम ललित नहीं है। गेटे तथा एकेरमैन की बातचीत, तथा शिलेर और फाउ फान स्टाइन से गेटे का जो पत्र-व्यवहार हुआ वह भी इस सम्बन्ध में ले लिये जायँ।

शिलेर की हम सब पुस्तकें तो नहीं लेंगे, किन्तु उनका व्यक्तित्व इतना प्रकांड है, तथा उनकी प्रतिभा इतनी उदार है कि हमें मालूम होता है कि विश्व-साहित्याकाश में वे हमेशा चमकते रहेंगे। किसी एक खास आन्दोलन की वजह से संभव है वे कभी जरा नीचे दब जायं, किन्तु शीघ्र ही फिर चमकने लगेंगे।

इसके बाद ही हमारी दृष्टि जर्मन प्रतिभा के एक सबसे उत्कृष्ट नमूने gean Paul Richter पर पड़ती है। ललित छलकते हुए गद्य के वे जादूगर हैं। उनकी सभी पुस्तकें हम लेना चाहेंगे, किन्तु यदि कोई जल्दी में है तो Titan आदि दो-तीन ग्रंथ लेकर सन्तुष्ट रह सकता है।

हेलडेरलिन (Holderlin) के बहुत से संस्करण हैं, हम उनमें से किसी एक को ले लेते हैं, कभी-कभी हम उसे उठाकर इस कवि की जादूबयानी के जौहर को प्रत्यक्ष करेंगे। नोवीलिस और ब्रेण्टानो तो जैसे एक ही वृक्ष के दो फूल हैं, इनकी कहानियों को लोग अभी तक चाव से पढ़ते हैं, किन्तु इनकी कविता के संगीत का बहुत थोड़े ही लोगों ने पता पाया है। ब्रेण्टानो ने आर्निम के सहयोग से लोक गीतों का (Volkslied) बड़ा मनोज्ञ संग्रह किया है। आर्निम स्वयं भी बड़े अच्छे कहानी-लेखक थे। टीक (Tieck) के लिखे हुए कुछ गल्पग्रंथ हम लेंगे, जर्मन रोमेंस का अच्छा ज्ञान उनसे हो जायगा।

हाइनरिख् फान क्लाइष्ट्स की सभी रचनाओं से हमें प्रेम है, नाटक, गल्प निबन्ध, वृत्तान्त। इनकी प्रतिभा तो अभी कुछ दिनों से लोगों पर खुलने लगी है। Chamisso, आईखेनडोर्फ, होफमान, हाउफ इन सबकी एक-एक रचना हमारे पुस्तकालय में होनी चाहिए। फिर ऊलाँड (Uhland) की तथा लेनाऊ की कविता भी कुछ-कुछ जबान बदलने के लिए अच्छी रहेगी।

अब मैं विश्व-साहित्य का दौरा कर चुका। जब मैं अपने किये हुए काम पर नज़र डालता हूँ तो यह बात नहीं कि मैं अपनी अपूर्णता का अनुभव नहीं करता हूँ। क्या यह उचित होगा कि हम विश्व-साहित्य-पुस्तकालय में बैरन

मुनखाउसेन के कारनामे नामक पुस्तक को तो स्थान दें किन्तु भारतवर्ष की भगवद्गीता को छोड़ दें ? ऐसे ही पंचतन्त्र, चीनी इगिं आदि कितनी ही पुस्तकें छोड़ दी गई हैं ऐसा दिखाया जा सकता है। इस तरह से मैंने यह जो तालिका बनाई है वह बिलकुल व्यक्तिगत (Subjective) तथा खामख्याली से पूर्ण मालूम होगी, किन्तु इसके अतिरिक्त हो ही कैसे सकता है ? सम्पूर्ण रूप से वस्तुगत (Objective) तालिका कैसे बन सकती है। वैसा करने के लिए हमें चाहिए कि हम लड़कपन में पढ़े हुए सब लेखकों को भूल जायँ, फिर सब साहित्यों को पढ़ना शुरू करें, और इस प्रकार विश्व-साहित्य के सम्बन्ध में धारणा बनावें। मैं कहता हूँ इसके लिए जीवन बड़ा छोटा है। यह बात तो सिद्ध ही है कि मैं एक कविता को शैशव से सुन रहा हूं, उसके शब्द शब्द का रहस्य मुझ पर खुल गया है, उसकी ध्वनि मात्र से मेरे हृदय का रक्त विचलित होने लगता है, अवश्य ही वह कविता मुझे उसके जोड़ की संस्कृत कविता से अच्छी लगेगी जो कि मुझ तक किसी अनुवादक के मटियामेट कर देने वाले हाथ से पहुँचेगी।

ऐसा भी तो हो रहा है कि हम आज ऐसे कवियों का सम्मान कर रहे हैं जो कि बीस साल पहले गर्दे के नीचे पड़े थे। ऐसे ही क्या पता हम आज जिन कवि तथा लेखकों की बलैयां लेने को तैयार हैं, उनकी रचनाओं को हमारे वंशजगण मसाला बाँधने में इस्तेमाल करें। यह कहना कि ऐसा नहीं होगा, मानव-रुचि की परिवर्तनशीलता से अनभिज्ञता जाहिर करना है। इसीलिए मैंने पहले ही कह दिया कि जो लेखक तथा कवि समय की कसौटी पर खरे उतर चुके हैं, उनको हम निःसन्देह रूप से अपनी तालिका के अन्तर्गत रख सकते हैं। एक मजे की बात और भी है कि हमारे पूर्व पुरुष एक कवि को उच्चकोटि का समझते थे और हम भी समझते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम एक ही कारण से या एक ही दृष्टि से उनकी कद्र करते हैं, सम्भव है कि हम बिलकुल विभिन्न यहां तक कि विपरीत कारण से उसकी कद्र करते हैं ?

बुद्धिमान पाठक ने यह भी खयाल किया होगा कि हमने इस तालिका में मिश्र के बारे में कुछ भी नहीं कहा, तो क्या मिस्र की प्राचीन सभ्यता ने हमारे लिए कोई भी पुस्तक नहीं छोड़ी ? मुझे स्मरण होता है कि मैंने मिस्र के बारे में कुछ साहित्य पढ़ा है, उसमें मिस्री किसी-किसी वाक्य इत्यादि का अनुवाद भी दिया है, किन्तु मैं उन्हें, यदि वे कहीं एकत्र उपलब्ध भी हों तो, विश्व-साहित्य की चीज नहीं समझता। फिर भी मिस्र की सभ्यता के हम इतने कायल हैं

इसकी वजह यह है कि कि ग्रीक लेखकों से विशेषकर हेरोडोटस से हमें उनका विवरण प्राप्त होता है।"

हेरमान हेसे का वक्तव्य हम अपने शब्दों में दे चुके। हेर हेसे ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि उनकी तालिका अपूर्ण है, किन्तु उन्होंने जिस कारण से उसे अपूर्ण बतलाया है हम केवल उस कारण से या उन कारणों से उसे अपूर्ण नहीं समझते। मेरी समझ में विश्व-साहित्य से मतलब सब देशों का थोड़ा-थोड़ा प्रतिनिधित्वमूलक साहित्य नहीं है, विश्व-साहित्य तो एक स्टैंडर्ड है, एक गुण न कि एक परिमाण।

विश्व-साहित्य के एक चयन में यह आवश्यक नहीं कि सभी जाति तथा सभी भाषाओं का साहित्य उसमें आ जाय, सम्भव है कि एक ही देश के लेखक उसमें आयें। यदि कहा जाय कि दुनिया के बड़े पहलवानों के नाम गिनाओ तो यह आवश्यक न होगा कि उसमें हरेक जाति का कोई-न-कोई प्रतिनिधि आ ही जाय, सम्भव है कि सब बड़े पहलवान एक ही देश में हों तो उस हालत में और देशों का क्या जिकर?

हेर हेसे ने जो तालिका दी है वह विश्व के देशों के प्रतिनिधि साहित्य की हैसियत से (Representatine of all countreis) भले ही सम्मान करने योग्य हो। किन्तु वह विश्व-साहित्य की तालिका हर्गिज-हर्गिज नहीं है। इसमें हेर हेसे ने बहुत से ऐसे लेखकों के नाम गिनाये हैं जिनको हम विश्व-साहित्यिक नहीं मान सकते। हेर हेसे ने वेद, तथा कानफ्यूसियस के वचन को भी इस तालिका के अन्तर्भुक्त किया है, इससे हमें यह समझ में नहीं आता कि साहित्य शब्द से वे कितना और क्या लेते हैं।

हम साहित्य शब्द से केवल सुकुमार साहित्य लेंगे। इस दृष्टि से भी हेसे की इस तालिका को up-to-date करने को चेष्टा करेंगे। हम इस समय इस काम में किसी पद्धति का अनुसरण नहीं करेंगे। जैसे-जैसे जो बात स्मरण होती जायगी हम लिखते जाएँगे।

यदि हम यह गिनानें लगें कि हेसे ने जो-जो नाम गिनाये हैं, उनमें कौन-कौन से नाम विश्व-साहित्य की तालिका से निकाल दिए जायं तो हमारा काम बहुत बढ़ जायगा, इसलिए हम वैसा नहीं करेंगे। अवश्य ही हम गेटे, शिलेर, डाण्टे, वर्जिल, होमर, रिखतेर, शेली, कीट्स, बायरन, रासिन, एरिओस्टो आदि को विश्व-साहित्यिक समझते हैं, किन्तु औरों के बारे में पूरा सन्देह है। हेर हेसे ने जिस युग तक का विवरण दिया है उसी युग के अन्दर वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, विक्टर ह्यूगो इत्यादि का नाम न होना बहुत खटकता है।

यहाँ पर एक दिलचस्प प्रश्न यह होगा, क्योंकि यह लेख हिन्दी-भाषियों के लिए लिखा जा रहा है, कि क्या हिन्दी-साहित्य के किसी प्राचीन कवि को अथवा संस्कृत के अतिरिक्त किसी भारतीय भाषा के प्राचीन कवि को विश्व-साहित्य में स्थान नहीं दिया जा सकता ? मैं हिन्दी के प्राचीन साहित्य से तथा बंगला के प्राचीन साहित्य से खूब परिचित हूँ, अन्य भारतीय साहित्यों का पता भी कुछ है, किन्तु मेरा यह सुचिन्तित मत है कि हिन्दी, बंगला, मराठी आदि के प्राचीन कवि कभी-कभी विश्व-साहित्य की उच्चता तक उड़ान भरने में समर्थ होने पर भी, जैसा कि सभी अच्छे कवि होते हैं, हम उनमें से किसी को विस्तार तथा गहराई दोनों दृष्टि से विश्व-साहित्य के अन्तर्भुक्त नहीं मान सकते। मेरी निजी ज्ञान में भारतीय प्राचीन कवियों में मौलिकता याने संस्कृत-साहित्य से मुक्ति की दृष्टि से कबीर सबसे अधिक विश्व-साहित्य के निकट पहुँचते हैं। उनकी प्रतिभा में जितनी मौलिकता, ताजगी तथा क्रांतिकारित्व है, उतना किसी में नहीं। मैं जानता हूँ मेरे इस अभिमत को पढ़कर हिन्दी के अगड़धत पंडितगण नाक-भौं सिकोड़ेंगे और शायद यह भी फतवा दें कि मैं हिन्दी-साहित्य के विषय में कुछ भी नहीं जानता, किन्तु फिर भी मैं अपने मत पर दृढ़ हूं। इस सम्बन्ध में इतना कह देना शायद अप्रासंगिक न होगा कि कवीन्द्र रवीन्द्र ने जब एक जमाने में हिन्दी-साहित्य पर अपना ध्यान दिया था तो उन्होंने कबीर की ही कविताओं को अंग्रेज़ी में अनुवाद करके विश्ववासियों के सम्मुख रखा था। अस्तु।

अब हम आधुनिक युग पर आते हैं। भला जिस तालिका में आनातौल फ्रांस, रोम्याँ रोला, गैल्सवर्दि, बर्नार्डशा, गोर्की रवीन्द्रनाथ आदि न हों वह तालिका सम्पूर्ण कैसे हो सकती है, इसके अतिरिक्त सिक्लेयर लुईस, आदि कितने ही लेखक इस युग में हैं। क्या रवीन्द्रनाथ के अतिरिक्त और भी कोई भारतीय है जिसको हम विश्व-साहित्य में स्थान दे सकते हैं ? हाँ। वह कौन है ?" वे हैं मुहम्मद इकबाल। रह गए शरत् शटर्जी और प्रेमचन्द, हम इनके विषय में इतना ही कह सकते हैं कि इनसे कम प्रतिभाशाली कई पाश्चात्य लेखक विश्व-साहित्य से अन्तर्भुक्त समझे जाते हैं।

१२
आधुनिक बंगला-उपन्यास

रवीन्द्रनाथ तथा शरच्चन्द्र के जीवन-काल म ही इस बात का आंदोलन शुरू हो गया था कि बंगला-उपन्यास को इन दो महारथियों की प्रतिभा के क्षेत्र से मुक्त करके बाहर लाया जाय। इस सम्बन्ध में भाषा तथा रचना दोनों दृष्टियों से नवीन प्रयोग शुरू हो गए थे। फिर भी एक तो प्रतिभा के इन वर-पुत्रों की जकड़ से उपन्यास-साहित्य को मुक्त करना टेढ़ी खीर थी, और दूसरे जिन लोगों ने इस काम को उठाया, उन्होंने यूरोपियन, विशेषकर नार्वेजियन उपन्यासकारों का अनुकरण किया, इसलिए इनके प्रयासों से तत्काल ही कोई युगान्तरकारी नतीजे नहीं निकले। रवीन्द्रनाथ के उपन्यास मुख्यतः बिलकुल रूढ़िवादी तो नहीं पर नैतिक वातावरण को लेकर चलते थे। शरच्चन्द्र में ऐसा कोई बंधन नहीं था, फिर भी ऊपर से वे बंधनहीन होने पर भी भीतर से प्राचीन मान्यताओं को सम्मान की दृष्टि से देखते थे इसमें कोई सन्देह नहीं।

पर इन नये उपन्यासकारों ने प्रयोग शुरू किये, उन्होंने इबसेन, क्नुट हैमसुन, चेखाफ, डोस्टौईयफस्की, टुर्गेनिव आदि लेखकों को आदर्श मानकर एक नवीन शैली की सृष्टि करनी चाही। इनके प्रयास किसी भी क्षेत्र में पूरे तरीके से सफल नहीं हुए, पर इस असफलता में ही इन्हें कई तरह की नई शैली सृष्टि करने की सफलता मिली और बंगला-उपन्यास-साहित्य में एक नवीनता का संचार हुआ।

असहयोग के युग में कलकत्ता की हरिसन रोड की एक छोटी-सी गली से 'कल्लोल' नाम की चार आने मूल्य की एक कहानी-पत्रिका निकाली गई। इसके इर्द-गिर्द जो लोग थे वे विशेष विचार रखते थे, और इस प्रकार से 'कल्लोल' एक कहानी-पत्रिका न रहकर एक आन्दोलन के रूप में हो गई। दुःख है कि इसके पुरोधाओं में गोकुलचन्द्र नाग एक दीर्घ उपन्यास और कुछ कहानियाँ लिखकर ही चल बसे। पर इसके सम्पादक दिनेशरजन दास ने नवीन लेखकों को एकत्र किया, और सच तो यह है कि बंगाल के इस समय के करीब-करीब

सभी अच्छे उपन्यासकार 'कल्लोल' के इर्द-गिर्द जमा हो गए। 'कल्लोल' के दफ्तर में लोग चिल्ला-चिल्लाकर रूसी और स्केण्डिनेवियन साहित्य पढ़ते थे। रवीन्द्र और शरत् से बचने की कोशिश करते हुए भी इनमें से प्रत्येक रवीन्द्र और शरत्-साहित्य को हिफ्ज किये हुए थे। इन लोगों के विचार बहुत स्पष्ट नहीं थे, पर वे कुछ-न-कुछ कोलाहल, संग्राम, प्रतिवाद यहाँ तक कि विद्रोह चाहते थे। इस गुट के 'कल्लोल' नाम से ही यह ज्ञात होता है कि वे किस प्रकार से लक्ष्य के सम्बन्ध में अज्ञ तथा अमनोयोगी होते हुए भी कुछ उफान, प्रतिवाद विद्रोह चाहते थे। रवीन्द्रनाथ तक इनकी खबर पहुँचती रहती थी, और वे परेशान थे कि ये नवीन लेखक अपनें कर्तव्य को समझ भी रहे हैं या नहीं। मानो इसी घबराहट चिंता तथा एक प्रकार से पथ-प्रदर्शन के लिए रवीन्द्रनाथ ने इन्हीं दिनों 'शेषेर कविता' नामक उपन्यास लिख डाला। यह उपन्यास इन आधुनिक लेखकों को मानो चुनौती देकर यह कह रहा था कि तुम्हें इस काम को इस ढंग से करना ही है तो यों करो। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि एक बार उल्टी गंगा बही और कल्लोल-गुट के लोगों का रवीन्द्रनाथ पर असर पड़ा। इस उपन्यास का कल्लोल-गुट के लोगों पर यह असर पड़ा कि वे अवाक् होकर कह उठे, 'अरे हम ऐसे ही तो लिखना चाहते थे।' इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने फिर एक बार अपने इन विद्रोही शिष्यों को अपनें जाल में डालकर समेट लिया। तथ्य तो यह है कि केवल इसी मामले में नहीं इसके बाद भी रवीन्द्रनाथ जब तक जीवित रहे वे दूसरों के हर नये प्रयोग को अपनाकर इन प्रयोगों के प्रवर्त्तकों के आगे रहने की चेष्टा करते रहे, और इसमें वे सफल भी रहे।

कल्लोल-गुट से अलग मनीन्द्रलाल बोस एक अजीब शैली का प्रवर्त्तन तथा प्रयोग करते रहे। उनकी रचना का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग उनकी अलसाई-सी, धीर मंथर राजहंस की चाल वाली मसालेदार भाषा है। उन्होंने दो ही तीन उपन्यास लिखे हैं, इनमें भाषा के अतिरिक्त शायद ही कुछ है फिर भी इनके उपन्यास बहुत ही पठनीय हैं, और जो लोग 'कादम्बरी' की शैली की चीज को रस ले-लेकर पढ़ने के आदी हैं, याने कुछ देर पढ़ा और फिर आँखें बंद करके सोचते रहे, उन्हें बहुत पसंद आयेंगे। स्वाभाविक रूप से मनीन्द्रलाल ने अपने उपन्यासों में कथानक भी ऐसा रखा है जिसमें दीर्घकाल तक सोचनें और जुगाली करने की गुन्जाइश हो। इसीलिए उनके कथानकों में तपेदिक-रोग-ग्रस्त व्यक्तियों की भरमार है, जो पड़े-पड़े न मालूम किस-किस स्वप्न-जगत् में चले जाते हैं।

बंगला के उपन्यासकारों में इस समय सबसे प्रमुख नाम श्री ताराशंकर

बंद्योपाध्याय का है । उन्होने बहुत अच्छा भी लिखा और बहुत अधिक भी लिखा । यह तो कहना कठिन है कि वे रवीन्द्रनाथ या शरच्चंद्र की तुलना में कैसे हैं, पर इतना कहा जा सकता है कि उनके साहित्य में आधुनिक बंगाल तथा एक हद तक भारत मूर्त्त हुआ है । उनका साहित्य केवल पारिवारिक जीवन को लेकर ही नहीं चलता, उसमें युगमन का प्रतिफलन सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है । उनका प्रथम उपन्यास 'चैताली घूर्णि' १६३२ के अक्तूबर में प्रकाशित हुआ । उनका 'गण देवता' तथा 'पंच ग्राम' नामक उपन्यास शायद उनकी सबसे उत्कृष्ट रचनायें हैं । पर इधर १६४७ की जुलाई में उन्होंने 'हांसूली बाँकेर उपकथा' नाम से एक उपन्यास लिखा है, जिसकी बहुत प्रशंसा हुई है । उनके अन्य उपन्यासों में 'धात्री देवता', 'कवि' और' कालिन्दी' बहुत ही उच्च-कोटि के उपन्यास हैं । 'धात्री देवता' १६३६ के अक्तूबर में प्रकाशित हुआ । 'कालिन्दी', 'कवि', 'गण देवता', 'पंचग्राम', 'मन्वंतर', क्रमशः अक्तूबर १६४०, मई १६४१, अक्तूबर १६४२, फरवरी १६४४ तथा १६४४ में प्रकाशित हुए । उनके उपन्यास 'मन्वंतर' का हिन्दी-अनुवाद भी हो चुका है । यह एक आश्चर्य की बात है कि वर्तमान बंगाल के सबसे प्रसिद्ध लेखक ने मुख्यतः गाँवों के सम्बन्ध में ही लिखा है ।

दरभंगा-निवासी श्री विभूतिभूषण मखोपाध्याय बंगला के बहुत प्रमुख उपन्यासकारों में हैं। उनका प्रथम गल्प-संकलन 'रानू का प्रथम भाग' मई १६३७ के करीब प्रकाशित हुआ । उन्होंने उपन्यास, नाटक, कहानी सभी कुछ लिखा है, और बड़ी योग्यता से लिखा है । उनका 'गरीयसी' नामक उपन्यास तीन भागों में प्रकाशित हुआ, और उसकी बड़ी प्रशंसा हुई । इनकी रचनाओं में चित्रण की अद्भुत शक्ति है ।

श्री बुद्धदेव वसु का नाम बंगला-साहित्य के बाहर भी हो चुका है । उनका प्रथम उपन्यास 'साड़ा' पुस्तकाकार में १६३० में प्रकाशित हुआ । उनके उपन्यासों का विवरण इस प्रकार है···'साड़ा' १६३०, 'जेदिन फुटलोकमल' १६३३, 'घूसर गोधुली' १६३३, 'कालोहावा' १६४२, 'विशाखा' १६४६, 'तिथिडोर' १६४६ । 'अन्यकोनखाने' नाम से उनकी एक पुस्तक प्रकाशित हुई है । उनकी रचना में शृङ्गार रस की कहीं-कहीं अधिकता है और प्रगतिशीलगण उन्हें प्रतिक्रियावादी लेखक मानते हैं । उन्होंने अंग्रेजी में बंगला के आधुनिक साहित्य के सम्बन्ध में एक पुस्तक भी लिखी है जिसका नाम है 'एन एकर आफ ग्रीन ग्रास' ।

इस समय के प्रमुख बंगला-उपन्यासकारों में श्री अन्नदाशंकर राय का भी

नाम लिया जा सकता है। उनके जीवन का बहुत सा अंश यूरोप में बीता है, इस कारण वे अपने उपन्यासों में यूरोपीय वातावरण बहुत ले आते हैं। उनकी पहली रचना रवीन्द्रनाथ की देख-रेख में निकलने वाली 'विचित्रा' नामक पत्रिका में धारावाहिक रूप से १९२७ से १९३० तक प्रकाशित हुई। इसका नाम था 'पथेप्रवासे'। उनकी पुस्तकाकार में प्रकाशित प्रथम रचना 'तारुराय' १९२८ में प्रकाशित हुई। 'प्रथेप्रवासे' भ्रमण की पुस्तक थी, पर वह इतने दिलचस्प रूप में लिखी गई थी कि इसी से बंगला-साहित्य में उनकी ख्याति हो गई। इन्होंने 'सत्यासत्य' नाम से ६ उपन्यासों की एक माला लिखी जिसके भागों के नाम हिन्दी में अनूदित होने पर यों हैं···१. 'जार जेथा देश' या 'जिसका जहाँ देश', २. 'अज्ञातवास', ३. 'कलंकवती', ४. 'दुःखमोचने', ५. 'मर्त्येर स्वर्ग' या मर्त्य का स्वर्ग, ६. 'अपसरण'। उनकी अन्य पुतकों में 'मन पवन' भी बहुत प्रसिद्ध है। अन्नदा बाबू हमारे सामने एक नई ही दुनिया रख देते हैं। वे अंग्रेजी-साहित्य के बहुत बड़े ज्ञाता होने के साथ ही भारतीय वैष्णव साहित्य तथा रवीन्द्रनाथ के समान रूप से ज्ञाता हैं। साथ ही वे कवि भी हैं। इस कारण उनके साहित्य में ऐसे रस की उत्पत्ति हुई है, जो रवीन्द्र, शरत् आदि से सम्पूर्ण रूप से पृथक् जगत् की सृष्टि करता है।

श्री अचिंत्यकुमार सेनगुप्त बंगला के बहुत ही शक्तिशाली उपन्यासकारों में हैं। वे नार्वेजियन साहित्य से बहुत प्रभावित हुए और, क्नुटहाससुन की एक पुस्तक के अनुवाद से उन्होंने साहित्य-जगत् में प्रवेश किया। उनका पहला उपन्यास 'बेदे' या बद्दू क्नुटहाससुन की शैली पर ही लिखा गया था। यह १९२७ में प्रकाशित हुआ। उनके उपन्यासों तथा कहानियों की संख्या बहुत अधिक है।

उन्होंने अपने उपन्यासों में कुछ नवीन प्रयोग किये, और ऐसा कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि वे इन प्रयोगों में बहुत-कुछ सफल हुए। अभी हाल में उन्होंने 'जायजेदिजाक' याने 'जाये तो जाये' नाम से एक उपन्यास लिखा है जिसके कारण उनकी ख्याति में बहुत वृद्धि हुई है। इस पुस्तक में बंगाली मध्यवित्त परिवार पर युद्ध तथा दुर्भिक्ष का परिणाम दिखलाया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय साहित्य में यह एक बहुत ही शक्तिशाली दान है।

भागलपुर-निवासी डाक्टर बलाईचाँद मुखोपाध्याय या वनफूल ने बहुत से उपन्यास, कहानियाँ तथा एकाँकी लिखे हैं। उनकी रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे बहुत अच्छी कहानी गढ़ लेते हैं, और उनमें मौलिकता

बहुत अधिक है। विशेष विचार-धारा के कायल नहीं हैं, और इधर उनको प्रगतिशील लेखकों ने कई एक रचनाओं के कारण प्रतिक्रियावादी बताया है। उनका प्रथम उपन्यास 'तृण-खंड' 'शनिवारेर चिठी' की तरफ से प्रकाशित हुआ था। उनके 'अग्नि' तथा 'स्वप्न-संभव' नामक उपन्यास शीघ्र ही हिन्दी में प्रकाशित होने जा रहे हैं। 'कुछ क्षण' नाम से उनका एक छोटा-सा उपन्यास भी हिन्दी कलेवर में प्रकाशित हो चुका है।

श्री विभूतिभूषण बनर्जी भी बंगला के एक प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। उनके पाँच उपन्यास बहुत प्रसिद्ध हैं जिनमें से उनका प्रथम उपन्यास 'पथेर पाँचली' तथा उनका द्वितीय भाग 'अपराजिता' सबसे प्रसिद्ध है। उन्होंनें भी ग्राम-जीवन को ही उपन्यास का केन्द्र बनाया हैं। उनके अन्य उपन्यासों के नाम इस प्रकार हैं—१. आरण्यक २. दृष्टि-प्रदीप ३. देवयान ४. आदर्श हिन्दू होटल। इसके अतिरिक्त उनके कई गल्प-संकलन प्रकाशित हुए हैं। दो भ्रमण-सम्बन्धी पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं, जिनमें उपन्यास का मजा आ जाता है।

श्री प्रबोधकुमार सान्याल भी एक शक्तिशाली उपन्यासकार हैं। वे गद्य के इतने सुन्दर लेखक हैं कि उनको गद्य का कवि कहना अनुचित न होगा। उनके उपन्यास डिकेन्स की तरह बहुत संगठित नहीं हैं, पर वे इतनी नई चीजें पाठक के सामने ला देते हैं कि पाठक मुग्ध हो जाता है। उन्होंने भी कई उपन्यास तथा कहानियों के कई संकलन प्रकाशित किये हैं।

श्री शैलजानन्द मुखोपाध्याय कई सुन्दर उपन्यास लिख चुके हैं और उन सबका केन्द्र कोयले की खानों का जीवन है। ऐसा मालूम होता है कि उन्होंनें कोयले की खानों का बहुत सुन्दर अध्ययन किया है। यह एक ऐसा विषय है जिसे अन्य लेखकों के द्वारा करीब-करीब अछूता होने के कारण, बंगला के उपन्यास-साहित्य में एक विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। उनकी 'कयला कुटी' या 'कोयले की खान' की बंगला में बहुत प्रशंसा हुई। उनकी 'अनाथ आश्रम' नामक पुस्तक और उनकी कुछ कहानियाँ भी हिन्दी में अनूदित हो चुकी हैं। प्रेमेन्द्र मित्र अपनी कहानियों तथा उपन्यासों में अस्वाभाविक और असाधारण को लेकर चलते हैं। श्री माणिक वन्द्योपाध्याय बंगला-उपन्यास के क्षेत्र में कभी इतनें चमके थे कि उनके सम्बन्ध में समझा जाता था, वे ही शरत् बाबू का रिक्त स्थान ले लेंगे। उनका 'पद्मा नदी का माँझी' नामक उपन्यास पद्मा के किनारे के ग्राम-वासियों को लेकर बना है। यह एक बहुत ही शक्तिशाली कृति है, और सब तरह के समालोचकों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। बहुत ही साधारण मल्लाह के जीवन को लेकर इतना

बड़ा उपन्यास लिख देना यह उनकी शक्ति का परिचायक है । पर माणिक बाबू को न मालूम क्या हो गया, बाद को वे कुछ अश्लीलता की तरफ़ बढ़े । और मनोविश्लेषण के विषय ही उनकी कहानियों तथा उपन्यासों के उपजीव्य बन गए । अवश्य इससे यह समझा जाय कि उनके लिखने की शक्ति में कोई फर्क आया, पर उसका सामाजिक मूल्य घट गया, इसमें सन्देह नहीं । श्री परिमल गोस्वामी ने 'ब्लैक मार्केट' नामक एक उच्च-कोटि का गल्प-संकलन प्रकाशित किया है । उनमें व्यंग्य तथा विद्रूप की अपूर्व प्रतिभा है ।

इधर के अत्यन्त शक्तिशाली लेखकों में श्री नारायण गांगुली का नाम बहुत ही प्रमुख है । उनका 'उपनिवेश' नामक उपन्यास तथा इसके बाद भी उनकी जो कहानियाँ आदि प्रकाशित हुई हैं, वे महान् प्रतिभा की सूचिका हैं । गोपाल हालदार ने बंगला-उपन्यास में कम्युनिस्ट धारा का प्रतिपादन किया है, और उनका उपन्यास 'एकदा' इलिया एलेनबुर्ग की शैली का बहुत शक्तिशाली उपन्यास है ।

अन्त में मैं कुछ अति आधुनिक लेखकों का उल्लेख करूँगा जिनसे बंगला-उपन्यास-साहित्य को बड़ी आशाएँ हैं । ऐसे लेखकों में नारायण गंगोपाध्याय ने तो बंगला-साहित्य में जैसे I came, I saw, I conquered के रूप में पदार्पण किया । उनके पास कथानकों का जैसे एक ढेर-सा है । बहुत थोड़े समय में ही वे बंगला-साहित्य में छा गए । सृष्टि-शक्ति की विपुलता की दृष्टि से उनका नम्बर इस समय ताराशंकर के बाद ही है । उनके प्रत्येक उपन्यास में नवीनता के साथ एक दृढ़ विचार-धारा का पुट है ।

अन्य अति प्रतिभाशाली आधुनिक लेखकों में समरसेन और सुभाष मुखोपाध्याय शक्तिशाली ज्ञात होते हैं । सुबोध घोष ने भी असाधारण कथानकों को लेकर कई अच्छे उपन्यास लिखे हैं, उनके कथानकों की असाधारणता उनकी काल्पनिकता में नहीं बल्कि अल्प परिचित या अपरिचित स्थानों के लोगों को पात्र बनाने में है । इस समय की उपन्यास-लेखिकाओं में प्रतिभा वसु, आशापूर्णा देवी तथा वाणी राय को गिनाया जा सकता है । पर इनमें से कोई भी साहित्य को कोई नई दिशा देने जा रही है ऐसा नहीं ज्ञात होता । इनके पहले के युग की लेखिकाएँ जैसे अनुरुपादेवी, प्रभावती देवी, स्वर्णकुमारी देवी तथा निरुपमा देवी शायद उपन्यासकार की दृष्टि से अधिक सफल थीं । पर इन सबकी उम्र अभी थोड़ी है और यह आशा की जा सकती है कि आज के जीवन के थपेड़े उन्हें उन बातों को सिखा सकेंगे जो वे अन्यथा नहीं सीख पायँगी ।

अब मैं केवल एक और उपन्यासकार नहीं, बल्कि उपन्यास का उल्लेख

करूँगा। इस उपन्यास का नाम 'जागरी' है, तथा इसके लेखक का नाम सतीनाथ भादुरी है। पता नहीं यह लेखक कहाँ साधना कर रहा था, पर इन्होंने जब 'जागरी' को लेकर एकाएक साहित्य में पदार्पण किया तो लोग आश्चर्य-चकित रह गए। इस उपन्यास में एक घटनापूर्ण रात्रि का वर्णन है। इस उपन्यास के मुख्य नायक बीलू को एक राजनीतिक मुकदमे में फाँसी की सजा सुनाई जा चुकी है। वह जेल में बंद है, और उसे अगले दिन सबेरे फाँसी होने वाली है। उसके माँ और बाप को भी उसकी तरह क्रान्तिकारी मामले में नहीं बल्कि १९४२ के आन्दोलन में कुछ सजा हुई है और वे भी उसी जेल में बंद हैं। बीलू का छोटा भाई नीलू जेल के फाटक पर है, और उसके सम्बन्ध में विशेष बात यह है कि अपने राजनीतिक विचारों में पक्का होने के कारण उसने अपने बड़े भाई के विरुद्ध गवाही दी है। पर राजनीतिक कारण से गवाही देने का अर्थ यह नहीं है कि उसके मन में बीलू के प्रति प्रेम नहीं है। सच तो यह है कि बहुत अधिक प्रेम है। अब ये चारों व्यक्ति अपनी-अपनी जगह पर सोच रहे हैं। यही उपन्यास का मुख्य उपजीव्य है। इसके साथ ही इस उपन्यास में राजनीतिक लोगों की भलाई-बुराई इस खूबी से आती है कि देखकर दंग रह जाना पड़ जाता है। इसमें संदेह नहीं कि 'जागरी' एक बहुत ही शक्तिशाली उपन्यास है। 'जागरी' अभी ताजी पुस्तक है। शायद इसके लेखक आगे ऐसी और कोई चीज लिख न पायें। बंगला साहित्य में ऐसा एक बार और हो चुका है, जब 'यायावर' ने दिल्ली के जीवन पर एक अमर पुस्तक 'दृष्टिपात' लिखी थी।

बंगला के अति आधुनिक साहित्य में जनवादी तरीके से चीजों को देखने की परिपाटी प्रबल हो रही है। अब शरत् की पारिवारिक तथा प्रेम-सम्बन्धी गुत्थियों में वह उलझा हुआ नहीं रह सकता। अवश्य अब भी उपन्यासकारों का सबसे बड़ा उपजीव्य प्रेम ही है। पर इसके साथ-साथ जीवन के अन्य पहलू भी, विशेषकर आर्थिक पहलू, बहुत जोर पकड़ रहे हैं। यह एक द्रष्टव्य बात है कि आधुनिक बँगला-साहित्य में ग्राम-जीवन को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। मैं समझता हूँ कि हिन्दी को राष्ट्र-भाषा होने के कारण जो मर्यादा प्राप्त हुई है, उसके हक में यह अच्छा होगा कि फौरन कम-से-कम दो सौ आधुनिक बंगला-उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद हो जाय। ये दान हिन्दी के लिए कुछ कम गौरवमय न होंगे।

१३

पत्रकार-कला में प्रगतिशील दृष्टिकोण

साहित्य के अन्य अंगों की तरह हमारे देश की पत्रकार-कला भी पिछड़ी हुई हालत में है, सम्भव है सज-धज में तथा अन्य ऐसी बातों में अर्थात् छपाई-सफाई में हमारे पत्र-पत्रिकाओं में कुछ यूरोप के समकक्ष हो गए हों, कम-से-कम ह्वीलर के बुक-स्टालों में खड़े होकर हिंदी-पत्रों को अंग्रेजी-पत्रों के बगल में देखने से ऐसा मालूम होता है, किंतु सच बात तो यह है कि वे अभी बहुत पिछड़ी हुई दशा में हैं। इस पिछड़ेपन का सबसे बड़ा कारण यह है कि हममें प्रगतिशील दृष्टिकोण का बहुत-कुछ अभाव है। हिंदी पत्र-पत्रिकाओं को ध्यान से देखने पर यही पता लगता है कि इनमें से बहुतों के संचालकों को यह भी पता नहीं है कि प्रगतिशील दृष्टिकोण क्या है, और यदि पता है तो रूढ़िवाद से जर्जरित होने के कारण वे उसकी पुकार को सुन नहीं सकते।

प्रगतिशील दृष्टिकोण हम उस दृष्टिकोण को कहते हैं, जिसमें हम यह अनुभव करते हैं कि वर्तमान पद्धतियाँ त्रुटिपूर्ण हैं और इन्हें बदलना चाहिए। यह दृष्टिकोण गतानुगतिक या Laissez Faire दृष्टिकोण का उल्टा है, क्योंकि Laissez Faire में यह कहा जाता है कि जैसा है वैसा ही रहने दो, कोई क्रान्ति या सुधार की आवश्यकता नहीं। इस Laissez Faire वालों को या रूढ़िवादियों को हम दो भागों में विभाजित करते हैं; एक तो वे जो कि वर्तमान समाज-प्रणाली से करीब-करीब सन्तुष्ट हैं, और दूसरे वे जो कि इससे खुश तो नहीं हैं किन्तु भविष्य की ओर दृष्टिपात करने के बजाय भूत काल की ओर देखते हैं, और राम या मुहम्मद के समय को फिर वापिस लाना चाहते हैं। इन दोनों दृष्टिकोण वालों को हम प्रगति-विरोधी दृष्टिकोण करार देते हैं। दुःख है कि हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में से अधिकांश इसी वर्ग में आ जाते हैं, किंतु प्रगतिशील तथा प्रगतिवादिता इन दो वर्गों के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग है, वह है अवसरवादी वर्ग, जिसके अन्तर्भुक्त पत्र-पत्रिकाएँ

किसी सिद्धांत को सामने रखकर नहीं, या किसी प्रयोग को गलत पाकर नहीं, बल्कि केवल इसलिए कि ऐसा करने से पत्र की अधिक खपत होती है, समय-समय पर अपनी नीति बदल देती हैं। इस ढुलमुल-यकीन अवसरवादी वर्ग को हम प्रगति-विरोधी वर्ग से अधिक खतरनाक समझते हैं क्योंकि पता नहीं वे कब किस ओर ढुलक जायँ। इन वर्गों के अतिरिक्त एक और वर्ग है जिसको कि हम बुर्जुआ इण्टेलेक्चुअल वर्ग कहेंगे, याने वह वर्ग जो कि ओलिम्पिक शिखरों पर बैठकर हरेक वर्ग की नुकताचीनी करता है, किंतु स्वयं किसी में भाग नहीं लेता। मेरा मतलब भाग न लेने से यह नहीं है कि कमर-कसकर वे कार्य-क्षेत्र में उतर नहीं पड़ते, यह शिकायत मुझे उनके विरुद्ध तो है ही, किंतु वर्तमान-क्षेत्र में मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि वे साफ-साफ कोई राय भी तो नहीं देते। उनसे यदि किसी विषय में प्रश्न किया जाय, याने उदाहरणतः यह पूछा जाय कि फैसिज्म अच्छा है कि साम्यवाद तो एक हल्की हँसी उनके चेहरे पर दौड़ जायगी, और उनकी मुख-मुद्रा ऐसी हो जायगी जिससे स्पष्ट यही जाहिर होगा कि प्रश्न-कर्त्ता की मानसिक सतह दयनीय है। ये लोग प्रत्येक विषय के पक्ष तथा विपक्ष में घंटों लिख तथा बोल सकते हैं, इतना कि लोग देखकर दंग रह जायँ। वर्तमान युग की सबसे बड़ी चारित्रिक विशेषता है सर्व बन्धन-विमुक्ति का प्रयास। हम आज किसी भी क्षेत्र में बेड़ियाँ पहनने को तैयार नहीं हैं। यह लहर जगत्-व्यापी है और हिंदुस्तान में भी उसकी लहर आकर बही। अपने साहित्य के हृदय पर यदि हम स्टेथस्कोप लगाकर देखें तो यहाँ भी इस लहर के धक्के का प्रभाव ज्ञात होगा किंतु अधिक नहीं। इसी लहर के वशवर्ती होकर हिंदी में भी कुछ प्रगतिशील पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही हैं, किंतु अभी वे कदाचित् सभी क्षेत्रों में प्रगतिशील नहीं हो पाई हैं। अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ हमें हिंदी में ऐसी मिलती हैं जो जीवन के एक क्षेत्र में तो प्रगतिशील विचारों का प्रतिपादन करती हैं, किंतु साथ ही दूसरे क्षेत्र में सनातन रूढ़िवाद का प्रचार करती हैं। इस बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना चाहिए। बहुत से पत्र तथा लेखक ऐसे हैं जो सम्पूर्ण रूप से स्त्री-स्वाधीनता का समर्थन करेंगे किंतु उस बात का जो अनिवार्य तर्कगत परिणाम है अर्थात् संयुक्त परिवार-प्रथा का टूटना, उससे मुँह मोड़ लेंगे। यह बात होती है। और यह इसलिए होती है कि हम सोचते तो हैं, किंतु गहराई तक नहीं सोचते, हममें सोचने की हिम्मत नहीं है। प्रगतिशील पत्रकार से हम यह आशा करते हैं कि वह सोचेगा और हिम्मत से सोचेगा। जीवन अलग-अलग विभाजित प्रकोष्ठों का एक समूह नहीं है। हमारे जीवन का हरेक क्षेत्र

अनिवार्य रूप से एक दूसरे से संयुक्त, सम्बद्ध तथा संहत है। यदि हमें प्रगतिशील होना है तो जीवन के हरेक क्षेत्र में प्रगतिशील होना पड़ेगा। किसी एक क्षेत्र में हम अपनी पत्र-पत्रिकाओं में प्रगतिशीलता दिखलायँ, तथा दूसरे क्षेत्र में एकदम रूढ़िवाद का प्रतिपादन करें, यह दृश्य अत्यन्त हास्यास्पद है। गहराई से तथा बुनियादी ढंग से सोचने वाले व्यक्तियों की आँखों में यह बात बहुत खटकती है। इस ऐब से बचने के लिए हिंदी के पत्रकारों को प्रत्येक विषय की दार्शनिक गहराई तक जाना पड़ेगा। मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि भारत के अधिकांश पत्रकार भीरू तथा अपने विचारों के उपसंहारों से बिदकने तथा डरने वाले हैं। वे कुछ हद तक सोचते हैं किंतु आगे जाकर जब वे देखते हैं कि बड़े ही अजीब साध्यों का सामना है, तो वे घबराकर आँख मूँद लेते हैं।

पत्रकार का कर्तव्य बड़ा ही कठिन होता है। पत्र-पत्रिकाओं से यह आशा की जाती है कि वे भूत काल के गुण-दोष की विवेचना करेंगे, वर्तमान को प्रतिफलित करेंगे तथा साथ-ही-साथ आगे के लिए कुछ भविष्यवाणी भी करेंगे। इन कर्तव्यों का पालन करने के लिए यह आवश्यक है कि पत्रकार का दृष्टिकोण प्रगतिशील हो तथा वह वैज्ञानिक तरीके से सोचने का अभ्यस्त हो, नहीं तो वह भूतकाल को बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा करेगा, वर्तमान को तोड़-मरोड़कर उपस्थित करेगा, तथा भविष्य के अभियान के विरुद्ध व्यर्थ विद्रोह करेगा जैसा कि हिन्दी के बहुत-से पत्र करते नजर आ रहे हैं।

प्रगतिशील पत्रकार कोई पैगम्बर नहीं होता अर्थात् उससे यह आशा नहीं करनी चाहिए कि जो कुछ वह कहेगा बिना किसी कारण के मान लिया जायगा, इसलिए उसे पाठकों के सम्मुख अधिक-से-अधिक तथ्य उपस्थित करने चाहिएँ। हमारे यहाँ के दैनिक पत्र इस सम्बन्ध में बहुत गाफिल जान पड़ते हैं। वे खबर कई बार बहुत देर में देते हैं, और उनकी खबरें अक्सर उञ्छवृत्ति द्वारा प्राप्त होती हैं। यूरोप के समाचार-पत्र जल्दी-से-जल्दी अपने पाठकों को समाचार पहुँचाने के लिए करीब-करीब असाध्य-साधन करते हैं। बहुत-से अखबार यूरोप में ऐसे हैं, जिनके हर नगर में अपने विशेष संवाददाता ही नहीं बल्कि अपनी पेपर-मिलें, रेल, तार तथा ट्रैम हैं। विशेष अवसरों के लिए विशेष योग्यताशाली लेखक नियुक्त किये जाते हैं, हर एक रुचि के व्यक्तियों को जल्दी-से-जल्दी उनके मतलब तथा रुचि की खबर पहुँचाई जाती है। यूरोप के पत्रों को देखने से पता लगता है कि वे अपने पाठकों को विज्ञान के नये-नये करिश्मों से परिचित कराने के लिए

व्याकुल हैं। Tass, Reuter, Globe, Havas ये तो हैं ही, इसके अतिरिक्त और खबरें भी देने वाली छोटी-छोटी एजेन्सियाँ हैं कहने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दी के पत्र यूरोप के पत्रों की तुलना में ही नहीं वरन् अन्य भारतीय भाषाओं के पत्रों से भी पिछड़े हुए हैं। हिन्दी-दैनिक पत्रों में बंगला की 'आनन्द-बाजार-पत्रिका' के मुकाबले का तो कोई भी पत्र नहीं।

हमारे पत्रों में पदार्थ-विज्ञान तथा ऐसे विषयों के सामान्य उपसंहारों के विषय में लेख कम निकलते हैं। हमारे साहित्यिक समझते हैं कि साहित्य तथा विज्ञान में साधारण रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु यह बात नहीं। हम आज साहित्य में, दर्शन, में, कला में किसी भी क्षेत्र में विज्ञान की मदद के बिना एक कदम भी नहीं बढ़ सकते। पहले लोग दर्शन-शास्त्र केवल कल्पना की उड़ान भरने को या आँख मूँदकर सोचने को कहते थे, किन्तु अब विज्ञान और दर्शन धीरे-धीरे एक होता जा रहा है। भौतिकवादी तो विज्ञान के उपसंहारों को ही दर्शन-शास्त्र मानते हैं, उनके निकट और कोई दर्शन-शास्त्र ही नहीं है। उपन्यास को लोग पहले मनोविनोद का उपकरण-मात्र समझते थे, किन्तु अब तो उसमें सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, जीवन-विज्ञान-सम्बन्धी थोड़े में हर प्रकार की गुत्थियाँ रखी जाती हैं। और सुलझाई जाती हैं। तभी तो पाश्चात्य देशों के बहुत से प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों ने उपन्यास-लेखन में कदम रखा है। कविता भी विज्ञान से अलग न रह सकी, पहले कुछ विज्ञ लोगों ने कहा था कि विज्ञान, कविता का कब्रिस्तान होगा, किन्तु अब स्पष्ट हो गया कि ऐसी बात नहीं है, कविता विज्ञान से बड़ी आसानी से रस खींचकर अपनी शाखा-प्रशाखा को हरी बनाए रख सकती है।

हमने विज्ञान के पहलू पर इसलिए दृष्टि आकर्षित की कि विज्ञान ही प्रगतिशील साहित्यिक के हाथ में सबसे बड़ा अस्त्र है। भौतिकवादी इसी कारण से विज्ञान का विशद अध्ययन करते हैं। इस बीसवीं सदी में तो विज्ञान की दृष्टि से दर्शन-शास्त्र की चर्चा होती ही है किंतु उन्नीसवीं सदी में Haeckel आदि ने Riddle of the Universe आदि लिखकर दर्शन को एक नया रूप दिया था। हमारे पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञान की करीब-करीब चर्चा ही नहीं होती, और होती भी है तो पण्डिताऊ तरीके से, जैसे विज्ञान केवल एकेडेमी के अन्दर चर्चा करने की ही वस्तु हो। सापेक्षवाद Quantum इत्यादि केवल विज्ञान के ही विषय नहीं हैं, हमारे जीवन से उनका गहरा सम्बन्ध है, पग-पग पर इन्हें उनसे तो नहीं उनके उपसंहारों से साबका पड़ता है। हमारे पत्रों में राजनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के

साथ-साथ विज्ञान के इस अंग की चर्चा होनी चाहिए। मुझे कहने में डर मालूम होता है किन्तु यह बात सच है कि हमारे सम्पादक तथा लेखकों के ज्ञान की सतह तो नहीं किंतु उनका दायरा तथा दृष्टिकोण बहुत छोटा है। जब तक हमारे लोक-शिक्षक पिछड़े हुए हैं तब तक आगे क्या हो सकेगा ?

हम हिंदी-पत्रों में एक बात की ओर बहुत झुकाव देख रहे हैं, वह यह है कि वे सज-धज तथा Matter के Display में विशेष ध्यान दे रहे हैं यह बात कुछ निंदनीय नहीं है, किंतु उन्हें चाहिए कि वे इससे कहीं अधिक ध्यान पत्र के लेखों पर दें तो अधिक अच्छा है। जर्मनी के Duetsche Rundschau फ्रेंच का Rcvues de deux mondes आदि पत्रों में कोई भी सज-धज, यहाँ तक कि एक भी चित्र नहीं होता, किंतु उनमें जो बात होती है उनसे उन भाषा-भाषियों की ही नहीं, बल्कि सारे विश्व की विचार-धारा बहुत-कुछ परिचालित होती है। सज-धज पर समस्त शक्ति को ही केन्द्रित करना गलती होगी।

हिंदी का यह बड़ा दुर्भाग्य है कि काशी से श्री शिवप्रसाद जी गुप्त द्वारा प्रकाशित 'स्वार्थ' जी नहीं सका, कानपुर की 'प्रभा' भी अकाल-मृत्यु को प्राप्त हुई, अच्छी पत्रिकाएँ सभी ज्यों-त्यों चल रही हैं।

अन्त में मैं फिर इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि हमारे पत्रों को हर एक क्षेत्र में प्रगतिशील होना चाहिए नहीं तो उनकी लोक-सेवा का व्रत पूर्ण नहीं होगा। इसके साथ-ही-साथ हम प्रगति-विरोधी सभी शक्तियों को चेतावनी देना चाहते हैं कि वे व्यर्थ ही प्रगति के विरोध में अपने समय तथा शक्ति का अपव्यय करते हैं। भविष्य अपने को भूत काल के मुकाबले में स्थापित करेगा ही। प्रगति की विजय-वैजयन्ती हमारे साहित्य में ही नहीं, जीवन के हर-एक क्षेत्र में शीघ्र ही फहरायगी, कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो इसकी अग्र-गति के अभियान को रोक सके।

: १४ :

शरच्चन्द्र का उपन्यास : देवदास

शरच्चन्द्र का उपन्यास 'देवदास' एक अमर कृति है। प्रेम, स्त्री और पुरुष की एक महान् शक्ति है और रहेगी। जब तक प्रेम रहेगा तब तक 'देवदास' को लोग पढ़ेंगे। सम्भव है, बहुत से व्यक्ति अपने को जीवन में केवल एक बार नहीं बराबर देवदास समझते हों। स्त्रियाँ अपने को कहाँ तक पार्वती समझती हैं, इस सम्बन्ध में तो किसी स्त्री की राय ही ठीक रहेगी। 'देवदास' में पुरुष—देवदास—को ही अपनी प्रेमिका के द्वार पर प्राण-विसर्जित करते दिखाया गया है।

अवश्य, पार्वती के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वह मरती नहीं यह ठीक है, पर देवदास की मृत्यु के बहुत पहले से ही वह जीवित शव का जीवन बिता रही है, क्योंकि अपनी इच्छा के विरुद्ध वह एक बूढ़े से व्याह दी जाती है। समाज के दबाव के कारण उसे उसकी पत्नी होकर रहना पड़ता है यह मृत्यु से किसी कद्र कम नहीं।

उस समय हमारे समाज की जो परिस्थिति थी वह अब भी है। उसमें देवदास के लिए मृत्यु का जो रूप हो सकता था, पार्वती के लिए वह रूप नहीं हो सकता, क्योंकि मृत्यु तो उसके लिए उससे भी सख्त किसी अवस्था की जरूरत थी, और उसे हम पार्वती के जीवित रहने में ही पाते है। सच तो यह है कि हमारे समाज में रूस के अतिरिक्त सारी मनुष्य जाति में स्त्रियों के लिए, मृत्यु का यह अत्यन्त दीर्घ रूप दिखाना ही उचित था।

शहीद कौन है ?

अन्त में जो देवदास पार्वती के पति की हवेली के दरवाजे पर मरा पाया जाता है, उससे ऐसा आभास मिलता है मानो वही शहीद है, पर वस्तुस्थिति कुछ और ही है। क्या जो मर जाता है, वही शहीद होता है ? इसके विपरीत वह उससे भी बड़ा शहीद है, जो जीवित रहकर आपदाओं का सामना करता

है। 'देवदास' इसी बात का जीता-जागता प्रतीक है।

पार्वती और देवदास बचपन के साथी थे। एक ही पाठशाला में पढ़ते थे। फिर देवदास शहर गया और वहीं पढ़ने लगा। उसके मन में गाँव की स्मृति धुँधली हो चली, और शायद साथ-ही-साथ धुँधली हो गई पार्वती की स्मृति भी। पार्वती के घर वालों के मन में यह साध थी कि देवदास के साथ उसकी शादी हो, पर पूछे जाने पर देवदास की माता ने यह बात साफ कर दी कि ऐसा नहीं हो सकता।

उधर कलकत्ते के विचित्र जीवन में देवदास का मन लग रहा था, पर पार्वती नीरस ग्राम्य-जीवन में बराबर देवदास का ध्यान करती थी। इन्हीं दिनों एक धनी विधुर के साथ पार्वती की शादी हो गई। देवदास इन्हीं दिनों गाँव में आया। उसने सुना, पर बस······

वह सो रहा था। पार्वती ने चुपके से उसके कमरे में दाखिल होकर उसको जगाया। देवदास पहले तो घबराया पर पार्वती बोली, 'नदी में पानी बहुत है, क्या उतने पानी से मेरा कलंक ढक न सकेगा ?"

अकस्मात् देवदास ने हाथ पकड़ लिया, "···पार्वती ?"

पार्वती ने देवदास के चरणों में सिर रख दिया, और बोली, '···भैया, इन चरणों में मेरा स्थान है ?"

देवदास देर तक पार्वती को देखता रहा, पार्वती के गरम आँसू उसके पैरों पर गिरते रहे। बड़ी देर के बाद देवदास बोला, "···क्यों पारो, क्या मेरे अलावा तुम्हारी कोई गति नहीं ?"

पार्वती कुछ न बोली। देवदास फिर बोला, "···जानती हो इसमें घर के लोगों की बिलकुल राय नहीं।"

पार्वती फिर कुछ नहीं बोली, उसी प्रकार देवदास के चरणों में सिर रखे रही। घड़ी में टन से एक बजा। देवदास ने पूछा, "··पिता-माता को छोड़ दूँ ?"

पार्वती ने उत्तर दिया, "···हरज क्या है ?"

"फिर तुम कहाँ रहोगी ?"

"तुम्हारे चरणों में।"

चार बज गए। देवदास ने उसे घर पहुँचा दिया।

पिता के साथ देवदास ने अगले दिन बातचीत की, पर वे टस से मस नहीं हुए। तब देवदास उसी दिन कलकत्ता चला गया। देवदास ने पार्वती को एक पत्र लिखा जिसमें उससे भूल जाने को कहा था। फिर वह एक वेश्या के घर गया, पर जी नहीं लगा। वह दो ही चार दिन में गाँव लौट आया और पार्वती

से भेंट करके बोला, "...मुझे माफ करो पारो, मैं अपने को समझ नहीं पाया था, जैसे हो माता पिता को राजी करूँगा।"

पार्वती ने देवदास के चेहरे पर तीक्ष्ण दृष्टि डाली। बोली, "...तुम्हारे माँ-बाप हैं, मेरे नहीं हैं क्या ?"

यथासमय पार्वती की शादी एक जमींदार से हो गई। इसके बाद की कथा सुपरिचित है। सहगल ने चित्रपट पर इस अमर-गाथा को दुगुना अमर बना दिया, और जिन्होंने पुस्तक नहीं पढ़ी, उन्होंने चित्रपट से इस कथा को जान लिया है।

पारो शहीद है ?

अब प्रश्न है कि क्या देवदास ही शहीद है, पार्वती नहीं ? क्या तिल-तिल करके वर्षों तक जलना शहादत के दायरे के बाहर है ? देवदास के मर जाने से हमारे मन पर कुछ ऐसी छाप पड़ती है कि वह अपने प्रेम के लिए मरा और शहीद हो गया, पर शहीद तो पार्वती भी है और शायद उससे भी बड़ी। यों तो शहीदों में तुलना एक भद्दी वस्तु है। देवदास तो प्रेम से निराश होकर शराब पीता है, वेश्या-गृह जाता है, पर पार्वती अचल और अटल रहती है। वह शराफत के दायरे से बाहर नहीं जाती। । इस प्रकार उसका जीना विशषत: देवदास की मृत्यु के बाद, शहादत का सबसे ऊँचा दर्जा है। ऐसे जीवन के बोझ के मुकाबले में मृत्यु तो बहुत हल्की चीज है।

जब रात एक बजे पार्वती ने देवदास के चरणों में अपना सिर रख दिया, तो देवदास ने उसका विरोध किया। बाद को पार्वती ने भी सहज जिद से उसका विरोध किया। प्रेमी-प्रेमिकाओं में होने वाले सैंकड़ों झगड़ों में यह एक ही है, पर इसका नतीजा भयङ्कर होता है। पार्वती का एक जमींदार से विवाह हो जाता है। विवाह होते ही यह बात सामने आती है कि वह सम्बन्ध अटूट है, पत्थर की लकीर है।

सामाजिक परिस्थितियाँ

यहीं पर शरत् बाबू सामाजिक प्रश्न पर आते हैं। दो के प्रेम में सामाजिक शक्तियाँ किस प्रकार काम करती हैं, यह देखने योग्य है। पहली बात तो यह है कि देवदास के माँ-बाप इसी कारण राजी नहीं होते कि पार्वती के माँ-बाप अपेक्षाकृत गरीब हैं। इस समाज में जिसमें धन ही सबसे बड़ी शक्ति है, उसमें गत यौवन पिता-माताओं की यह इच्छा कि उनकी सन्तानें अपने से ऊँचे तबके में नहीं तो कम-से-कम बराबर में शादी करें, बिलकुल उचित है। उसी समाज में कई लड़कों के विधुर बाप पार्वती की तरह एक फूल-सी कली

से शादी कर सकता है। और चूँकि यह समाज पुरुष-प्रधान है, इस कारण विवाह हो गया तो वह पत्थर की लकीर है। '

इस दृष्टि से देखे जाने पर शरत् बाबू ऊपरी दृष्टि से प्रेम-कहानी कहते हुए भी सूक्ष्म-रूप से क्रियाशील क्रांतिकारी के रूप में हमारे सामने आते हैं। देवदास और पार्वती शरत् बाबू के दिमाग की उपज नहीं बल्कि वे भारतवर्ष के घर-घर में मौजूद हैं। इस प्रकार भारतीय समाज की ढोल की पोल उन्होंने इस सुन्दरता से खोल दी है कि वह अतुलनीय है।

हम देखते हैं कि उन्होंने पार्वती और देवदास की तरह एक दूसरे से अगाध प्रेम करनें वाले व्यक्तियों से भूल से भी एक जगह भी चुम्बन नहीं होने दिया, बल्कि उसके अभाव को एक त्याग के रूप में पेश किया है। उनका कथन कहीं यह नहीं है कि लोग तब तक इस पद्धति के सामने घुटन टेककर अपने जीवन को नष्ट करते रहें, जब तक कि समाज में सामूहिक सुधार न हो जाय। पर शरत् बाबू अपने जीवन में तलाक को चाहते हों या न चाहते हों पर उनकी पुस्तक 'देवदास' तो तलाक की आवश्यकता का जीता-जागता उदाहरण है।

अब तक मैंने 'देवदास' के कथानक के जिस हिस्से की ओर पाठकों की दृष्टि आकर्षित की है, वह तो बहुत सरल सा है। उसकी उलझनें एक तलाक से सुलझ सकती हैं, ऐसा मालूम देता है, पर इसमें चन्द्रमुखी नामक एक वेश्या भी है, जिससे कथानक एक तरफ तो रोचक तथा दूसरी तरफ जटिल हो गया है। चन्द्रमुखी देवदास से प्यार करने लगती है। यहाँ तक कि उसी के कारण रूप की दुकान बटोरकर अपने जीवन में काया पलट कर लेती है।

जटिल कथानक

मैंने इस जटिलता का उद्घाटन करते हुए 'शरच्चन्द्र : एक अध्ययन' में लिखा था कि "यदि मान लिया जाय कि स्त्री पुरुष के क्षेत्र में प्रेम-जन्य विवाह अंतिम ध्येय है, तो देवदास किसका है ? चन्द्रमुखी का या पार्वती का ? पार्वती भी देवदास से प्रेम करती है, फिर भी दूसरे से शादी कर लेती है, अवश्य ऐसा करने में उसकी जिद के अलावा उसकी मजबूरियाँ भी हैं। जिद तो केवल एक ऊपरी रूप है। पर उधर चन्द्रमुखी को देखिए। यदि उसका ब्याह किसी भी कारण से भुवन चौधरी के साथ हो जाता, तो वह नियति को इस प्रकार न मान लेती। वह भाग जाती, वह न मालूम क्या करती। वह शायद एक फ्रेंच उपन्यास की नायिका की तरह देवदास के सम्मुख जाकर कहती, 'मैं तुमसे अलग नहीं रह सकती। पत्नी की मर्यादा तुम मुझे भले

ही न दे सको परन्तु मैं तुम्हारी उप-पत्नी तो होकर रहूँगी। साथ न छोड़ूँगी।' इसीलिए यह एक सामाजिक समस्या है। यदि दो स्त्रियों का एक ही पुरुष से प्रेम है, तो हमारे माने हुए प्रेम-जन्य विवाह के अनुसार उसका गठ-बन्धन किससे हो ? इसका उत्तर तो सहज मालूम देता है, वह यह है कि प्रेम-जन्य विवाह का तकाजा है कि आकर्षण पारस्परिक हो, किन्तु यह साथ ही कह दिया जाय कि वह व्यक्ति भी दोनों स्त्रियों को चाहता है, तब तो समस्या और भी जटिल हो जाती है। देवदास उपन्यास में परिस्थिति सचमुच इसी हद तक पहुँच गई है, किन्तु चन्द्रमुखी वेश्या थी, इसलिए पाठक की सहानुभूति उसकी तरफ नहीं जाती। इस कारण पार्वती ही पार्वती नजर आती है।

रोचक कथानक

कथानक का यह अंश कहाँ तक वास्तविकता के स्तर पर है, इसमें सन्देह है। इसी कारण उपन्यास की पृष्ठभूमि में वास्तविक समस्याएँ होने पर भी उसमें रोमांचकता आ गई है। अवश्य इससे कथा की रोचकता बढ़ गई है। इसी कारण बुद्धदेव बोस-जैसे समालोचक ने कहा है कि २५ साल पहले लोग शरत् बाबू को एक क्रांतिकारी योद्धा समझते हैं, पर अब लोगों की राय बदल गई और वे समझने लगे हैं कि वे महज एक कथाकार थे।

समस्या-पूर्ण कथा

कुछ भी हो 'देवदास' में रीति-काव्य की अधिकता है। जो लोग किसी समस्या के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते, उनके लिए 'देवदास' केवल एक प्रेम-कहानी है। पर जो लोग साथ-ही-साथ उसमें समस्या देखना चाहते हैं, उनके लिए भी इसमें मसाला है। 'देवदास' का आख्यान दिमागी नहीं, वह हमारी भावुकता पर चोट भी करता है। 'देवदास' में चुभती और फड़कती बातचीत तो बहुत है। पार्वती प्रेम की प्रतिमा है, उसमें मानो बुद्धि की प्रखरता की गुञ्जाइश ही नहीं। जब देवदास ने निराश होकर उसे छड़ी से मारा तो वह कहती है, "तुमने मेरे माथे पर कृपा करके बचपन का इतिहास लिख दिया।" वहाँ पर उसकी बातें प्रेम में सनी हैं, जो कभी भुलाई नहीं जा सकतीं।

सदा अमर रहेगी

भारतीय साहित्य में प्रेम की इतनी सुन्दर कहानी एक भी नहीं। जब तक प्रेम और प्रेमिकाएँ रहेंगी, तब तक यह कृति अमर रहेगी।

१५

क्रान्तिकारी साहित्यकार वालटेयर

फ्रेंच साहित्य के बाहर बहुत थोड़े लोग जानते हैं कि वालटेयर एक इतिहास लेखक, दार्शनिक तथा स्वतंत्र विचारक होने के अतिरिक्त एक अच्छे कवि तथा नाटककार भी थे। अवश्य वालटेयर की मुख्य सेवा तथा ख्याति इसी बात में है कि वे अपनें जमाने में एक प्रचंड प्रचारक तथा एक जीवटदार विचारक थे। वालटेयर स्वभाव से ही बड़े जोशीले थे। जिस बात के पीछे पड़ जाते, वे पड़ ही जाते थे, जब तक उसको मटियामेट नहीं कर देते, तब तक दम न लेते। इस जोशीले तथा कुछ हद तक उतावले स्वभाव के कारण उन्हें बार-बार तकलीफ उठानी पड़ी फिर भी न तो उनकी कलम ही बन्द हुई और न उनके जोश में कोई भाटा आया। नक्कारे की आवाज की तरह करीब-करीब एक शताब्दी तक वालटेयर की आवाज अठारहवीं सदी के यूरोपीय वायुमंडल में गूँजती रही। पहले जमाने के लेखकगण जिन बातों में अनर्थक लकीर के फकीर हो रहे थे, तथा जन-समुदाय के जिन कुसंस्कारों को साहित्य तथा इतिहास के रूप में उपस्थित करते थे, वालटेयर नें अत्यन्त निर्दयता से उनका भंडाफोड़ किया। और केवल यही नहीं उन्होंने उनके लेखकों को भी खूब आड़े हाथों लिया, और सरे बाजार उनकी खिल्ली उड़ाई। किसी पाठक को यह बात पढ़कर शायद यह प्रतीत हो कि वालटेयर ने लेखकों पर व्यक्तिगत रूप से प्रहार करके अच्छा नहीं किया, ज्यादती थी, उनके प्रतिपादित विषय की समालोचना तक उन्हें सीमित रह जाना चाहिए था, किन्तु नहीं उस जमानें को देखते हुए वालटेयर नें जो किया वह उचित ही नहीं आवश्यक भी था।

अठारहवीं शताब्दी की स्थिति

अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध तथा बहुत-कुछ उत्तरार्ध भी लेसेफेयर का अर्थात् गतानुगतिकता के प्रति सम्मान का युग था। यह नहीं कि उस जमाने में प्रतिभा का दुर्भिक्ष था, नहीं इस शताब्दी को प्रतिभा की औसत देन मिली

थीं, किन्तु बात यह थी कि लोग आँख खोलकर देखना नहीं चाहते थे। किसी भाँति उनके कान पर जूँ नहीं रेंगती थी। एक अँग्रेज लेखक ने अठारहवीं शताब्दी का अत्यन्त मर्म ग्राही चित्र खींचा है। वे लिखते हैं, "अठारहवीं सदी के लोग जान एंग्लेसेण्ट के कार्डिनल की तरह थे, अर्थात् उन लोगों ने अपने मन को ही इस प्रकार कर लिया था कि वे संतोषमय जीवन-यापन कर सकें तथा उदासीनता भरी शान्ति के साथ सुधारक होने से उन्हें तनिक इन्कार था क्योंकि उनका कहना यह था कि क्यों नाहक को हम जो चल रहा है उससे लड़ाई मोल लें, क्यों निश्चित असफलता को बुलायें और इस प्रकार एक नकचढ़ा पैगंबर का पार्ट अदा करें जिसकी बातों को सुनने के लिए कोई तैयार नहीं है।"

वालटेयर की प्रतिभा

हेनरी टामस बकल को कोई भी व्यक्ति जो कि उसके सुप्रसिद्ध ग्रंथ रत्न हिस्ट्री आव सिविलजेशन इन इंग्लैंड से परिचित है भावप्रवण अथवा रियासती समालोचक नहीं कह सकता। बकल में एक बात बहुत अखरती है कि वह अँग्रेज प्रतिभा का बहुत कायल है, किन्तु फिर भी यही बकल वालटेयर का लोहा बखूबी मानता है और उसकी प्रशंसा में उसने पन्ने-पर-पन्ने रँग डाले हैं। बकल के इस सम्बन्ध में समस्त उद्गार को हम यहाँ उद्धृत नहीं कर सकेंगे, फिर भी कुछ गिने-चुने वाक्यों को हम यहाँ उद्धृत करने का लोभ नहीं संवरण कर सकते। बकल लिखता है "फ्रांस में एक पुश्त के अन्दर इतिहास-लेखन-कला में जो परिवर्तन हुआ वह अवांछनीय है।"

बोसिये तथा वालटेयर की तुलना

इस परिवर्तन की थाह लेने के लिए कदाचित् सबसे अच्छा तरीका यह होगा कि हम बोसिये तथा वालटेयर की रचनाओं की तुलना करें, क्योंकि ये दो लेखक फ्रांसवासियों में अपने-अपने युग के सबसे प्रमुख तथा प्रभावशील लेखक थे। पहली बड़ी विशेषता जो हमें बोसियो की वालटेयर के साथ तुलना करने में दृष्टिगोचर होती है वह मानवीय बुद्धि की मर्यादा की स्वीकृति। हमें स्मरण रखना चाहिये कि बोसिये का अध्ययन ऐसी दिशा में था जिससे कि उसको मानवीय बुद्धि की मर्यादा का सम्यक् बोध नहीं हो सकता था। उसने मानवीय ज्ञान की उन शाखाओं को स्पर्श भी नहीं किया था, जिनसे कि मानवीय बुद्धि अपने समस्त जौहर में प्रकट होती है। उसने तो केवल पादरियों की किताबों को पढ़ने में भी जीवन बिता दिया है किन्तु वालटेयर की बात और थी। उसने अपना समस्त जीवन वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति में न्यौछावर

कर दिया। उसका मन अनिवार्य रूप से आधुनिक था। प्रमाणहीन बाबा वाक्यों को पैरों तले रौंदकर तथा परम्परा की तनिक भी परवाह न करके, उसने अपना समय ऐसे विषयों में नियोजित किया जिनमें कि मानवीय तर्क का लोहा सभी माननें के लिए विवश थे। जितना ही उसके ज्ञान में वृद्धि होती गई, उतना ही वह उन शक्तियों का कायल होने लगा जिसके द्वारा ज्ञान उपलब्ध होता है, अर्थात् विचार-शक्ति में उसका विश्वास उत्तरोत्तर दृढ़ होता गया। इसके साथ-ही-साथ मानवता कें प्रति उसका प्रेम दिन दूना और रात चौगुना होता गया।

नई इतिहास-लेखन-कला

"वालटेयर-लिखित 'चार्लस बारहवाँ' में यद्यपि अनेक त्रुटियाँ हैं फिर भी उसमें वोसियें की तरह पग-पग पर अप्राकृतिक हस्तक्षेप की कल्पनाएँ नहीं हैं।" इस कल्पना के लुप्त हो जाने से हम कह सकते हैं कि फ्रांस की इतिहास लेखन-कला में एक नयी शैली का सूत्रपात हुआ, "यह पुरानी शैली धर्मध्वजी पौराणिकों के मतलब की तो थी, किन्तु स्वाधीन तत्त्वान्वेषी के हक में बिलकुल घातक थीं; क्योंकि यह शैली केवल उसे एक रास्ता बताकर ही निवृत्त नहीं होती रही बल्कि उसके अनुसन्धान की गतिविधि पर एक कृत्रिम रोग लगा देती है।"

चौदहवें लुई का युग

इस पुस्तक के लिखने के बाद वालटेयर कुछ समय तक गणित, पदार्थ-विद्या आदि पर गवेषणा करते रहे, फिर एक इतिहास-सम्बन्धी पुस्तक लेकर वे जनता के सामने आये। अपनी कम उम्र में लिखित पुस्तक को उन्होंनें 'चार्लस बारहवाँ' नाम दिया था, किन्तु दूसरी पुस्तक का नाम था 'लुई चौदहवाँ का युग'। पहले उन्होंनें एक राजा की विचित्रताओं को लिपिबद्ध किया था, इस बार उन्होंने एक जाति की हलचलों पर विचार किया। इस पुस्तक की भूमिका में साफ लिखा है कि "एक मनुष्य की कार्यावली का नहीं बल्कि एक मनुष्य समुदाय के चरित्र की निवृत्ति" करना उसका उद्देश्य है। मानना ही पड़ेगा कि इस व्यापक उद्देश्य को उन्होंने बखूबी निभाया है। सामरिक वृत्तान्तों का जिन पर कि बोसिये मरता था, थोड़ा बहुत वृत्तान्त देकर वे उन महत्त्वपूर्ण विषयों पर विस्तार से लिखते हैं जिनका कि उनके पहले के फ्राँस के इतिहासों में कोई स्थान नहीं था। आभ्यन्तरिक व्यवस्था तथा व्यापार पर इस पुस्तक में एक अध्याय, राजस्व वगैरह पर एक अध्याय, विज्ञान के इतिहास पर एक अध्याय तथा ललित कला की उन्नति पर एक अध्याय है।

यद्यपि वालटेयर पादरियों के पारस्परिक तथा कथित धार्मिक चोचलों को दो कौड़ी के बराबर ध्यान के योग्य भी नहीं समझते थे, फिर भी वे जानते थे कि मनुष्य जाति के कारोबार में वे अक्सर महत्त्वपूर्ण अभिनय कर चुके हैं... इसलिए उन पर भी कुछ पन्ने रँग डाले।" कहना न होगा कि इस प्रकार लिखा गया इतिहास बोसिये वगैरह के लिखे हुए इतिहासों से ही नहीं बल्कि उसके पहले लिखे गए इतिहास पर भी तरक्की थी।

जन्म और बाल्य-काल

वालटेयर का असली नाम फ्राँस्वाभारि आरुए था। उनके पिता का नाम फ्रांस्वा आरुए था, वे एक मामूली कर्मचारी थे। १६९४ ईस्वी के २१ नवम्बर को पैरिस शहर में वालटेयर का जन्म हुआ। उनका परिवार पैरिस के शिक्षित भद्र समाज में से था, इसलिए उनके स्वभाव में स्वाधीन समालोचना, बड़ों के प्रति एक सम्मानपूर्ण तथा भद्र घृणा, सर्वोपरि कार्यकारी बुद्धि ये सब गुण उन्हें स्वतः ही प्राप्त हो गए थे। उनकी शिक्षा जेसुइटों की देख-रेख में हुई थी, इसलिए उसका भी उनके चरित्र पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ा था। जेसुइट सम्प्रदाय अनिवार्य रूप से धार्मिक सम्प्रदाय है। इसलिए १७०१ में जब उनको इनकी संस्था में प्रविष्ट कराया गया और शिक्षकों ने थोड़े ही दिन में एक ओर तो उनकी उन्मेषशालिनी बुद्धि, अलौकिक विचार-शक्ति को देखा और दूसरी ओर उनकी बात-बात पर अनास्था तथा अश्रद्धा देखी तो बहुत चकराये। वे एक ही साथ अपने शिक्षकों के गौरव तथा भय के कारण-स्वरूप हुए।

शिक्षा-काल का वातावरण

जेसुइट के धर्ममतों को अपनाने में तो वालटेयर ने बड़ी आना-कानी की, किन्तु उनको दी हुई साहित्यिक शिक्षा को उन्होंने बड़े तपाक से ग्रहण किया। प्राचीन लेखकों के प्रति श्रद्धा तथा सत्रहवीं सदी के लेखकों के प्रभाव में वे प्रतिपालित हुए, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनकी रुचि बहुत मार्जित हो गई तथा फ्रेंच भाषा की आत्मा तक वे पहुँच गए।

वालटेयर हमेशा उत्तर जीवन में अपनी शिक्षा के दिनों को बड़े प्रेम से स्मरण करते रहे। यह केवल इसलिए नहीं कि उन्हें बड़े अच्छे शिक्षक प्राप्त हुए थे, बल्कि वहाँ उनकी कुछ ऐसे लोगों से मित्रता हुई जो कि बाद को उन पर बार-बार आने वाली विपत्ति की आँधियों में मजबूत छत की तरह प्रमाणित हुए।

शील और स्वभाव

१७१३ में वालटेयर इस संस्था से शिक्षा समाप्त करके लौटे। उनके धर्म-पिता आब शातोनेफ ने उन्हें इधर-उधर बड़े लोगों से परिचित करा दिया। नवयुवक वालटेयर के विचित्र मत कुछ-कुछ पहले से लोगों पर खुल गए थे, इसलिए कुछ पदस्थ व्यक्तियों ने केवल कौतुकवश उन्हें अपनाया। एक से उन्हें धन की एक बड़ी रकम भी प्राप्त हुई। फ्रांसिस्क वियाल लिखते हैं "युवक आरुए में वे सभी गुण तथा अवगुण प्रचुर मात्रा में वर्तमान थे जिनके बल पर मनुष्य लोक-समाज में सफलता प्राप्त करता है। चंचल, उत्तेजनीय प्रशंसा तथा आनन्द के लिए बुभुक्षु, विलक्षण बुद्धियुक्त, अक्लान्त रूप से ओजस्वी, कभी मृदु तथा कभी तीक्ष्ण व्यंग से युक्त वे सभी समय लोगों के लिए दिल-चस्पी की चीज थे।"

सफल एवं श्रेष्ठ कवि

वालटेयर ने ऐसे समय का खूब उपयोग किया। वे अविराम गति से कविता लिखते गए। कहना न होगा कि इन कविताओं में वालटेयर का चरित्र पूर्ण रूप से प्रतिफलित होता था। वालटेयर ऐसा करते थे कि एक कविता लिखकर किसी एकेडेमी में सामने पेश करते, यदि एकेडेमी ने उनकी प्रतिभा की कद्र करके उन्हीं को पुरस्कार दिया तो अच्छी बात है, नहीं तो फिर उसकी खैर नहीं। एकेडेमी के हजो में तथा अपने प्रतिद्वन्द्वियों की निन्दा में बात-की-बात में वे कविता लिख डालते थे। इस प्रकार वह जल्दी ही एक प्रसिद्ध व्यक्ति हो गए। यह बात नहीं कि वे तार्किक तथा विद्रोही के रूप में ही प्रख्यात हो गए, नहीं उनकी कविता वस्तुतः अच्छी थी, ओज उस कविता में कूट-कूटकर भरा था। और वे शीघ्र ही तत्कालीन प्रसिद्ध फ्रेंच कवियों के समकक्ष तथा प्रतिद्वन्द्वी समझे जाने लगे।

प्रगतिशील समाज के मुकुट-मणि

वर्साई की राज-सभा की छत्र-छाया में पनपने वाले साहित्यिकों की कृत्रिमता तथा क्लिष्टता से ऊबकर कुछ लोगों ने, जिनमें कि देश के बड़े-बड़े ड्यूक आदि सम्मिलित थे, एक गुट बनाया था। इस गुट के लोग बहुत ही मार्जित रुचि के थे, फिर भी बातों में तथा शिष्टता में ये लोग एक नई परिपाटी का प्रवर्तन कर चुके थे। यह गुट सोसियेते दि तांप्ल के नाम से परिचित था। इसमें ऐसे-ऐसे लोग थे जैसे आवेद शोलिये, ला फार, लाबेद बिसि, लाबे कुर्ता, कौंतिका प्रास, दिक द सिलि इत्यादि। इनमें से कोई भी नाम फ्रांस के बाहर परिचित नहीं है, किन्तु ये समसामयिक फ्रांस में प्रभावशाली व्यक्ति समझे

जाते थे। वालटेयर अपनी मनोहर भाषा, कर्मशक्ति तथा विचित्र स्वभाव के कारण शीघ्र ही इस समाज के मुकुट-मणि हो गए। यह कोई छोटी बात न थी।

एक वर्ष की जेल-यात्रा

वालटेयर का जीवन इस प्रकार चैन में व्यतीत हो रहा था, धीरे-धीरे उनकी प्रतिभा दिग्विजय कर रही थी, इतने में एक घटना हुई जिससे कि उनके जीवन की इस अनायास अलबेली गति में बाधा हुई। एक शरारत से भरी कविता, जो लुई चौदहवें की स्मृति के लिए अपमानजनक थी, खूब बँटी किन्तु इसमें किसी का नाम नहीं था। कविता थी बड़ी फड़कती हुई, लोगों ने इसे खूब पढ़ा और खूब हँसे। कुछ लोगों ने कहा कि भाई सिवा वालटेयर के यह किसी की लिखी हुई नहीं हो सकती। लोग कहने लगे कि इस तरह की फड़कती हुई चीज और किसी की कलम से नहीं निकल सकती। इस बात के फैलने से और भी कह-कहा लगा, होते-होते परिणाम यह हुआ कि वालटेयर पर विपत्ति के बादल टूट पड़े। और वालटेयर १७ मई १७१७ को जेल में बन्द कर दिए गए। वालटेयर नें बहुतेरा कहा कि बाबा यह कविता मेरी लिखी हुई नहीं है, किन्तु एक नहीं सुनी गई। साल भर तक वे जेल में रखे गए।

काव्य का प्रणयन

इस जेलवास का परिणाम वालटेयर पर अच्छा ही हुआ, क्योंकि वे सोचने के लिए तथा लिखने के लिए विवश हुए। बड़े धड़ल्ले से उन्होंनें कविता लिखनी शुरू कर दी। हेनरी चतुर्थ के ऊपर उन्होंने एक काव्य लिखा जिसका बाद में 'हेनरिडे' नाम हुआ। पहले ही उन्होंने 'ओडिपी' नाम से एक नाटक लिखा था, अब उन्होंने उसका पुनर्लिखन किया। अपनें जेल-जीवन पर भी उन्होंनें एक हास्यरसात्मक कविता लिखी। अन्त में वालटेयर की निर्दोषिता अधिकारियों पर प्रकट हो गई और वे मुक्त कर दिए गए।

सर्वतोमुखी प्रतिभा का विकास

१८ नवम्बर सन् १७१८ में वालटेयर लिखित नाटक 'ओडिपी' बड़ी सफलता से खेला गया। इसके ४५ अभिनय हुए। स्मरण रहे कि वालटेयर की उम्र उस समय केवल २४ वर्ष की थी। इसी के बाद वालटेयर नें अपना नाम वालटेयर कर लिया। इस तरह कदाचित् उन्होंने अपनें उस भूत काल से अपने को विच्छिन्न कर लिया जिसकी बहुत-सी बातें शायद वे पसन्द नहीं कर रहे थे। एक व्यंग्य-काव्य-लेखक तथा हल्की कविताओं के कवि रूप में अब वे अपने को दिखाना नहीं पसन्द करते थे।

अब वे महाकवि तथा युग प्रवर्तक लेखकों में अपनी गणना कराना चाहते थे। वालटेयर इसके बाद पुस्तक के बाद पुस्तक लिखते गए। वालटेयर का स्वप्न सफल हुआ, अब वे केवल फ्रांस की सबसे जगमगाती हुई प्रतिभा ही नहीं बल्कि अपने दुःखान्त नाटकों से तथा कविता से समसामयिक कवियों में प्रमुख हो रहे थे।

सार्वजनिक क्षेत्र में सफलता

वालटेयर को सार्वजनिक क्षेत्र में सफलता बराबर मिलती गई। राज-सभा में भी उनकी तूती बोलने लगी। राजा ने तथा रानी ने उनका भत्ता बाँध दिया। चारों तरफ वालटेयर की प्रशंसा-ही-प्रशंसा होने लगी। वालटेयर ने अब धन बटोरना आरम्भ किया और इसमें उन्हें प्रभूत सफलता मिली। लक्ष्मी और सरस्वती दोनों जैसे उन पर कृपा करने के लिए होड़ करने लगीं। लेकिन वालटेयर को यह सब सुख-सौभाग्य नहीं फला, एक नई उलझन की स्थिति उत्पन्न हो गई।

ड्यूक सिली के यहाँ बहुत से लोग एकत्र थे। वाल्टेयर अपने स्वभाव से मजबूर थे, वे बहुत जोर-जोर से बोल रहे थे। उस जमघट में देश के बड़े गण्यमान्य सज्जन थे। शिवालियेर ट्या रोहां शाबो ने जब देखा कि एक युवक बड़े जोर-जोर से बोल रहा है, तो उन्होंने कहा—"यह जो महाशय जोर-जोर से बोल रहे हैं यह कौन हैं?"

शिवालियेर द्रय रोहां शाबो ने यह प्रश्न वालटेयर से नहीं पूछा था, किन्तु वालटेयर नें सुन लिया, फिर क्या था, वे बोल उठे, "हजरत खाकसार कोई तूलतबीलदार नाम धारण नहीं करता, किन्तु जिस छोटे-मोटे नाम को वह धारण करता है उसे सम्मानित करता है।"

नई उलझन के जाल में

उत्तर अवश्य ही वालटेयर के ही उपयुक्त था, किन्तु इस उत्तर ने बड़ा ग़ज़ब ढाया। इसके कुछ दिन बाद उस अमीर ने भुलावा देकर वालटेयर को अपनी आँखों के सामने खूब पिटवाया। वालटेयर इस पर बहुत लाल-पीले हुए, अमीर से अपमान के लिए जवाब तलब किया। भला अमीर के पास क्या जवाब था जो वह देता? नतीजा यह हुआ कि वालटेयर उबल पड़े, उन्होंने कहा कि "अच्छी बात है मौके से मैं इसका बदला लूँगा।" इसका यह उत्तर मिला कि वालटेयर को "लेत्र दे काशे" मिला, याने वे गिरफ्तार करके जेल में डाल दिए गए। यह १७ अप्रैल सन् १७२६ की बात है। याने पहली नजरबन्दी के कोई ६ साल बाद। प्रायः एक महीने के बाद वे

इस शर्त पर रिहा कर दिए गए कि अब वे फ्रांस छोड़कर इंग्लैंड में रहेंगे। क्या करते वालटेयर एक जेल-कर्मचारी की देख-रेख में इंग्लैंड के लिए जहाज में रवाना हुए। वालटेयर देखने में चले तो गये, किन्तु कुछ दिनों में ही बदला लेने के लिए फिर छिपकर आये। पेरिस में छिपकर उन्होंने शेवालियेर दे रोहां शाबो की बड़ी खोज की, किन्तु वह दुश्मन कहीं ढूँढ़े न मिला। क्या करते, लाचार होकर वालटेयर इंगलिस्तान को लौट गए और वहाँ तीन साल रहे।

इसमें सन्देह नहीं कि इस तीन साल के निर्वासन का प्रभाव उसके समस्त चरित्र तथा विचार-धारा पर जबर्दस्त पड़ा। पेरिस में वे लोगों को साहित्यिक तू-तू मैं-मैं तथा आडम्बर में जीवन व्यतीत करते देखते थे, यहाँ उन्होंने देखा कि लोग जीवन को अधिकतर गंभीर रूप से लेते हैं। बकल ने वालटेयर के जीवन की इस घटना का ऐसे वर्णन किया है जैसे इंग्लैंड ने ही वालटेयर बनाया, किन्तु इस बात को मानते हुए भी कि न्यूटन, लाक, शेक्सपीयर आदि से वालटेयर ने बहुत-कुछ सीखा जैसे कि कोई भी ग्रहण-शक्ति-समर्थ व्यक्ति सीखता, और उनकी विचार-धारा तथा प्रकाश-प्रणाली में बहुत-कुछ परिवर्तन तथा उन्नति हुई, हम इस बात को मान सकते हैं। विशेषकर बकल के मुँह से हम इस बात को जरा मुश्किल से ही कबूल कर सकते हैं। बकल ने एक अध्याय में यही गिनाया है कि यूरोप की कौन-कौन सी विभूतियाँ इंग्लैंड से गई थीं तथा उनमें से कितने अंग्रेजी जानते थे। यह बात सही है कि इंगलैंड में जाने से उनके विचारों में परिपक्वता, दृढ़ता, तथा सजीवता आ गई। धार्मिक दार्शनिकों के बाल की खाल निकालने में उनकी आस्था पहले ही उठ गई थी, सर्व प्रकार से कट्टरपन से वे पहले ही हाथ खींच चुके थे, तानाशाही के वे पक्के दुश्मन थे ही, स्वाधीनता, परम सहिष्णुता तथा तर्क के वे हामी थे ही। इंगलिस्तान की अनुकूल आबो-हवा में केवल इन विचारों को खुराक मिली। यह बात भी यहाँ माननी पड़ेगी कि यदि वालटेयर इंगलिस्तान के बजाय और कहीं भी उस समय के यूरोप में रहते तो उन्हें कदाचित् क्या अवश्य ही इतना लाभ नहीं होता। यह लाभ उन्हें दार्शनिक तथा साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में हुआ।

मार्च १७२९ में वे अपनी जन्मभूमि में पहले से अधिक प्रसिद्ध होकर लौट आए। १७३० में उनका 'ब्रूटस' नामक नाटक सफलता के साथ खेला गया। १७३१ में 'चार्ल्स बारहवें का इतिहास' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई।

१७३२ में 'एरिफिल' नामक नाटक प्रकाशित हुआ, किन्तु यह सफल न रहा। उसी सन् में २२ दिन के अन्दर लिखा हुआ एक नाटक और प्रकाशित हुआ। यह फ्रांस में अभूतपूर्व सफलता से खेला गया। लोगों ने कहा कि वालटेयर ने कर्नेई को तो पछाड़ दिया और फ्रांस के तब तक सर्वश्रेष्ठ कवि रासिन की बराबरी की। कहा जाता है कि इस नाटक में 'ओथेली' की छाया है।

१७३३ में वालटेयर ने ला तांप्ल दी गुयाने 'रुचि मन्दिर' नामक एक पुस्तक कविता में लिखी। इस पुस्तक में असल में वालटेयर ने अपनी स्वभाव-सिद्ध स्वतन्त्रता से अखिल साहित्य पर अपना मत व्यक्त किया। कहना न होगा कि वालटेयर ने अपने समसामयिकों पर खूब हाथ साफ किया था, इसके अतिरिक्त सत्रहवीं सदी के लेखकों को यहाँ तक कि बोआलो, रासिस, कोर्नेई, फोंतनेल को भी, जिनके सम्बन्ध में फ्रेंच जनता में आदर भाव था, अछूता न छोड़ा। वालटेयर ने बाद को स्वयं ही इस पुस्तक के सम्बन्ध में कहा था "यह तो कुछ कुत्सारूपी पत्थरों का ढेर है।"

१७३४ में वालटेयर ने अपना लेटर्स फिलासफिक आन लेटर्स अनलेसेस प्रकाशित किया। इस बार वालटेयर ने एक सम्पूर्ण नई बात की थी। अब तक तो वालटेयर ने अपनी कविता, नाटकों तथा लेखों में प्रचलित पद्धति के विरुद्ध दो एक ताने कस दिए थे, लोगों ने उन्हें हँसकर भुला दिया था, किन्तु अब की बार तो वालटेयर ने कैथोलिकवाद तथा राजतंत्र के गढ़ के ऊपर खुलकर गोलाबारी की थी। अब की बार वालटेयर एक दार्शनिक, समाज-विद्रोही, तथा बुद्धिवादी परम्परा के शत्रु रूप में जनता के सन्मुख आये। वालटेयर ने इस पुस्तक में इंगलिस्तान के विभिन्न फिरके, पार्लमेंट, शासन-पद्धति, राजस्व, शुल्क-नीति, व्यापार, शिष्टाचार, बेकन, लाक, न्यूटन, क्लार्क, शेक्सपियर, मिलटन, पोप एक शब्द में इंगलिस्तान के धार्मिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, साहित्यिक सब पहलुओं पर दृष्टि डाली थी। और इस तरह से उन पर टिप्पणी की थी कि फ्रांस की सभी बातें खराब हैं, फ्रांस का धर्म सड़ गया है, शासन-पद्धति बाबा आदम के जमाने की है इत्यादि। भला ऐसी बातें धर्मध्वजी प्रभावित फ्रांस को कब भातीं? पुस्तक की सब कापियाँ जला दी गईं, पुस्तक का प्रकाशक भी गिरफ्तार कर लिया गया। वालटेयर भाग निकले।

वातावरण शांत होने पर वालटेयर जब लौटे भी तो पैरिस में नहीं। वे सरहद के निकट एक अमीर के आश्रम में रहने लगे। यहाँ वे मादाम द्य शातले नामक एक विदुषी पर आसक्त हो गए। सब बातों को देखते हुए इस विदुषी

का प्रभाव वालटेयर पर अच्छा पडा। वालटेयर पहले साहित्यिक तू तू मैं-मै म बहुत समय व्यतीत करते थे, अवश्य ऐसी लडाई मे वे हमेशा विजयी होते थे, किन्तु इससे उन पर जो कीचड पडता था वह कुछ रह ही जाता था। वालटेयर ऐसे-ऐसे व्यक्तियो के साथ साहित्यिक हाथापाई मे प्रवत्त हो जाते थे, जिनकी कि यदि वे अवहेलना करते तभी अच्छा होता। इस निरतर झाय-झाय मे उनका बहुत समय नष्ट होता था और वे किसी गभीर विषय के लिए सम्य नही निकाल पाते थे। मादाम शातले ने उन्हे टुच्ची बातो से निवृत्त किया। मोशिये फागिये ने तो कहा है कि यह महिला उनके लिए "एक दूसरा इगलैंड" प्रमाणित हुई। इसी महिला के प्रभाव मे आकर वालटेयर ने पदार्थ विद्या का गभीर अध्ययन किया तथा १७३८ मे न्यूटन पर एक पुस्तक लिख डाली।

मादाम शातले को इतिहास से घृणा थी। वालटेयर ने निश्चय कर लिया कि वे मादाम की घृणा को यह दिखाकर दूर कर देंगे कि इतिहास भी दार्शनिकता पूर्ण हो सकता है, इसलिए उन्होने 'लुई चौदहवे की शताब्दी' पुस्तक जोरो से लिखनी शुरू की। इसके साथ ही उन्होने शालमेन के समय से एक 'साधारण इतिहास' लिखना शुरू किया। साथ-ही-साथ वे कविता लिखने लगे। इस बीच मे उनके बहुत से नाटक भी प्रकाशित हुए।

१७३६ मे लेमोनडेन तथा और भी कई पुस्तके प्रकाशित हुई जिससे उनकी दार्शनिक विचार धारा सम्यक् रूप से जनता के सम्मुख उपस्थित हुई। लेमोनडेन नामक पुस्तक मे कदाचित् वालटेयर की दार्शनिक विचार धारा परिपक्व रूप मे नही आई थी, फिर भी वह उस जमाने की पारलौकिकता तथा क्लीब आध्यात्मिकता के विरुद्ध अच्छा विद्रोह था। लोग उस जमाने मे, जिसको अंग्रेजी मे फावडा को फावडा कहना कहते है, वैसा नही कहते थे। ढोग तथा बावन गज की बातो का बोल बाला था।

१७७६ मे वालटेयर को परिस-स्थित आकादेमि फ्रासेस मे बैठने का अधिकार मिला। इस बीच मे वालटेयर ने मादाम द्य पपादुर तथा जैसुइटो की कृपा दृष्टि पा ली थी। वहाँ पर बैठने को मिलते ही उन्होने एक नई बात की थी, पहली वक्तृता मे लोग महान् कार्डिनल की प्रशसा करते थे, वालटेयर ने इसके बजाय फ्रेच भाषा की प्रतिभा पर एक वक्तृता दे दी। छ महीने बाद वालटेयर को राजा के यहा से एक अत्यन्त सम्मानजनक उपाधि मिली। वालटेयर के जीवन में यह निरवच्छिन्न सुख शान्ति का जमाना था। डचेस थिमेन के यहाँ आमोद-प्रमोद होते थे। इसी समय वालटेयर ने कहानी की

तरह पर एक पुस्तक लिखी, जो कि उनकी रचनाओं में एक विशिष्ट चीज है।

वालटेयर ने कुछ दिन तक तो सभासद् का पार्ट खूब अदा किया, किन्तु बकरे की माँ कब तक खैर मनाती। वालटेयर एक तो वाचाल स्वभाव के थे और लोग उनकी बात भी बहुत सुनते थे। ऐसी अवस्था में जो होना था वही हुआ, वालटेयर एक दिन कहते-कहते कुछ ऐसा कह गए जिससे मादाम द्य पंपादूर उनसे फिरंट हो गई। ढूँढ़ करके प्राचीन कवि क्रेविलों को निकाला गया और मादाम द्य पंपादूर ने उसको बढ़ावा देना शुरू किया। अभिमानी वालटेयर सिरे लौट गए। वहाँ उन्होंने अपने प्रतिद्वन्द्वी क्रेबिलों को आड़े हाथों लेना शुरू किया। क्रेविलों जिस विषय को लेकर नाटक लिखते वालटेयर भी उसी विषय को लेकर केवल यह दिखाने के निमित्त लिखते कि इसी विषय पर कितनी उत्तम रचना लिखी जा सकती है। अन्त में वालटेयर कुछ दिनों में अपनी इस हास्यास्पद मनोवृत्ति को समझ गए।

इसी के बाद मादाम द्य शातले की मृत्यु हो गई। इस घटना से वालटेयर के ऐसे भावप्रवण व्यक्ति को कितनी चोट लगी इसकी कल्पना उनकी उस समय के पत्रों से की जा सकती है। इसके बाद वालटेयर प्रसिया की राजसभा में चले गए। यहाँ इस समय वही राजकुमार जिन्होंने वालटेयर को एक महाकवि बतलाया था फ्रेडरिक द्वितीय के नाम से गद्दी नशीन थे। वालटेयर एक तो आश्रयहीन होने से दुखी थे, वर्साई की राजसभा पर खार खाये हुए थे, इसलिए उन्होंने इस निमन्त्रण को बदला लेने के लिए स्वीकार किया। यह सन् १७५० की बात है।

पर बर्लिन पहुँचते-पहुँचते १० जुलाई, १७५१ हो गया। वे तीन साल प्रशिया में रहे। फ्रेडरिक से उनकी अच्छी तरह बनी नहीं। फिर वे अपने स्वभाव के कारण कई झगड़ों तथा पचड़ों में उलझते रहे। एक सभासद् के साथ झगड़ा होने पर उस पर एक पुस्तक ही लिख डाली जिसका नाम था Diatribe du Docteur Akakia। झमेले इतने बढ़ गए कि फ्रेडरिक नाराज हो गए, और वालटेयर १७५३ के २६ मार्च को चल दिए। पर फ्रान्स में गये तो वहां किसी ने चोरी से उनकी पुस्तक Essais sur les moeurs छाप दी, नतीजा यह हुआ कि उन्हें फ्रान्स में रहने की अनुमति नहीं मिली। पर फ्रान्स में रहने की अनुमति न मिलने का अर्थ केवल पैरिस तथा उसके इर्द-गिर्द न रहने की अनुमति थी। वे घूमते-घामते रहे। अन्त में उन्होंने जेनेवा, सार्डिनिया, फ्रान्स के सन्धि-स्थल पर एक आवास ग्रहण किया, और वहाँ एक रंगमंच भी कायम किया, जिसके वे सर्वेसर्वा हो गए। यहीं

पर उनके कई सफल नाटक लिखे गए। १७५८ मे उन्होने फेर्ने मे कुछ भू सम्पत्ति खरीदी। यहाँ आकर उन दिनो के कई प्रसिद्ध व्यक्ति उनसे मिले। १७७७ के अन्त मे वे परिस बुलाये गए, और वहाँ जनता ने उनका बडा स्वागत किया। २८ वष बाद वे पैरिस गये थे। पैरिस मे उनका नाटक 'ईरीन' बहुत सफल रहा। पर उनका स्वास्थ्य गिरने लगा। ३० मई को वे मर गये। रोमन कथोलिको के अनुसार उनमे मरते समय पाप स्वीकार करने को कहा गया, पर उ होने हाथ हिलाकर पादरियो को हटा दिया, और मर गए। मरने के बाद कब्र देने मे झगडा पडा। क्योकि पाप स्वीकार बिना किये किसी रोमन कैथलिक को कब्र मे नही रखा जा सकता था। इस प्रकार वालटेयर मरने के बाद भी झगडे के विषय बने, और एक वितर्क छिडा। १७६१ की १० जुलाई को उनकी अस्थियो को पनथियन मे भेजा गया, और फिर उसे खोद कर निकालकर कही बजर मे गाड दिया गया। १८६४ मे यह प्रस्ताव हुआ कि उन्हे फिर पेनथियन मे रखा जाय, पर अब की बार अस्थि-पात्र खाला गया, तो देखा गया कि अस्थि ही गायब है। इस प्रकार जिस व्यक्ति ने सामन्तवाद की हार मे एक प्रमुख भाग लिया, उसे खुद मरने के बाद भी छुट्टी नही मिली।

वालटेयर का साहित्य उस युग मे बहुत क्रान्तिकारी साहित्य था। आज भी उसका बहुत-सा भाग हमारे लिए क्रातिकारी बना हुआ है।

१६

साहित्य का नया कर्तव्य

बदली हुई परिस्थितियो मे साहित्य का बदलना जरूरी है। सहित शब्द से साहित्य की जो व्युत्पत्ति बताई गई है, इससे भी यही सूचित होता है। साहित्य जाति के सहित चलेगा, इसी में साहित्य की साथकता तथा उपयोगिता है। पर प्रश्न तो यह है कि क्या परिस्थिति बदली है ?

इस प्रश्न का उत्तर देना पड रहा है, यही सूचित करता है कि कुछ लोगो के अनुसार परिस्थिति बदली नही है। पर यह मत अत्यन्त भ्रात है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद किस प्रकार बीसियो वष से हमारी प्रगति के सब रास्तो को रोक कर बैठा था, इसे हम बखूबी जानते है। इसलिए यहा से उसका बिस्तर बध जाना कुछ ह नही, ऐसा जो लोग समझते है या प्रचार करते है उनके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि वे तथ्य से कोसो दूर है। मै इस प्रसग मे अधिक कडे शब्द का प्रयोग जान-बूझ कर नही कर रहा हू।

फिर भी यह एक तथ्य है कि हमारे साहित्य मे स्वतन्त्रता प्राप्ति का जिस प्रकार प्रतिफलन होना चाहिये था, वह नही हुआ। हमारे साहित्य से मेरा मतलब सारे भारतीय साहित्य से है। शायद ही किसी अच्छे लेखक की कहानी मे स्वतन्त्रता प्राप्ति का आनन्द झलका हो, बल्कि इसके विरुद्ध कडवापन ही प्रतिफलित हुआ। मैने स्वय कई कहानियाँ लिखी जो बहुत कडवापन लिये हुए थी, उनमें भ्राति-भग का वातावरण था। ऐसा ही औरो ने किया। यह न समझा जाय कि यह किसी षडयत्र के कारण हुआ।

इसके लिए ऐतिहासिक कारण थे। वे ऐतिहासिक कारण क्या थे, इस पर भी दो शब्द कह दिए जायँ। पहली बात तो यह हुई कि स्वतन्त्रता प्राप्ति की घोषणा के साथ ही देश का धार्मिक विभाजन हुआ। बहुतो के लिये यो ही हमे जो अधूरी, सिमटी हुई, भग्नाग स्वतन्त्रता मिली, उसका कोई महत्त्व नही था, पर इस कारण तो उनके निकट स्वतन्त्रता का कोई अर्थ ही नही

रहा। फिर इसके पहिले जो भयंकर दंगे हो चुके थे, और जो दंगे १५ अगस्त, १९४७ ई० के बाद पहले से दसगुने हो गये, उनकी खबरों से देश में जो भावना फैली, उसमें खुशी का कोई स्थान नहीं हो सकता था। लाखों की तादाद में लोग बे-घर-द्वार हो गए, भयंकर नर-हत्या हुई, स्त्रियाँ भगाई गईं, बेइज्जत की गयीं उनके स्तन काट लिये गये, बच्चों को बेरहमी से मारा गया।

स्वाभाविक रूप से इनसे इतनी समस्याओं की उत्पत्ति हुई कि नई सरकार को उन्हें सुलझाने में लेने के देने पड़ गए। लाखों शरणार्थियों को फिर से बसा देना किसी भी सरकार के लिए बड़ी कठिन बात थी। इस कारण इस युग के साहित्य में टार्च लेकर ढूँढ़ने पर भी आनन्द की कोई रेखा नहीं मिलती, मिलती है निराशा, कड़वापन, घबड़ाहट। दंगों पर सैकड़ों कहानियाँ लिखी गईं, लेखकों के लिए यह एक अच्छा विषय हो गया और इन कहानियों में न तो कहीं स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उल्लास का पता था, और न उनमें यही आशावाद था कि चलो अभी न हुआ न सही भविष्य में समस्याएँ सुलझ जायेंगी। सदियों की गुलामी के अन्त का उल्लास कहीं नहीं था।

दूसरों को क्या कहूँ, मैंने भी ऐसा ही किया। मैंने जेल में रहते समय १९४७ ई० में 'गृहयुद्ध' नामक उपन्यास लिखा था। उसका विषय हिन्दू-मुसलमान दंगा था, उसमें अन्तःसलिला फल्गु नदी की तरह आशावाद की एक तगड़ी धारा थी। पर १९४७ ई० में मैंने इसी विषय पर जो 'चक्की' लिखी, उसका वातावरण तुलनात्मक रूप से निराशापूर्ण है। तबसे इस विषय पर कई उपन्यास देखने में आये, उन सबका यही हाल था। मैं अपनी रचनाओं का इस कारण बार-बार उल्लेख कर रहा हूँ कि एक सज्ञान विचार-धारा के बावजूद परिस्थितियों ने मेरी कलम से भी अपना ही चित्र खिंचवा लिया। सचमुच परिस्थितियाँ बड़ी निराशापूर्ण हो रही थीं। पर लेखक केवल वर्तमान का फोटोग्राफर नहीं, उसके केमरा में भविष्य की आशाएँ भी झलकनी चाहिएँ।

इन सबके तुरन्त बाद ही आया काश्मीर का युद्ध। लेखकगण तो अब तक इस पर कहानियाँ लिख रहे थे, पर यह एक विशेष मार्के की बात है कि राजनैतिक दृष्टि से काश्मीर की उलझन कैसी भी समझी जाय, साहित्य-क्षेत्र में इसकी प्रतिक्रिया अच्छी ही रही। जब से मिस्टर जिन्ना ने दो राष्ट्र-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, तब से एक घटना के बाद दूसरी घटना ऐसी घटित हो रही थी कि प्रति पग पर उनके सिद्धान्त का प्रत्यक्ष समर्थन ही होता जा रहा था। जब उत्तर-पश्चिम सीमाप्रांत के पठानों का भी बहुमत पाकि-

स्तान के पक्ष में रहा, तब तो बहुतों की दृष्टि में हिन्दू-मुस्लिम की एक-जातीयता का सिद्धान्त बिलकुल टूट गया।

पर जब काश्मीर के शेख अब्दुल्ला ने गरजकर कहा, हम भारत के साथ रहेंगे, तब कुछ धारा बदली। इसी कारण जैसा कि मैंने कहा काश्मीर युद्ध पर जितनी भी कहानियाँ निकलीं, उनमें एक नृत्यशील आशावाद की अंतर्धारा है। काश्मीर युद्ध के मामले में साहित्यिकों ने पूरे तरीके से राष्ट्रीय सरकार का साथ दिया। इस विषय पर कई कहानियाँ बहुत अच्छी रहीं।

पर यह तो एक पहलू है, बाकी सब पहलू असन्तोष के सूचक रहे। गत वर्षों के साहित्य में आनन्द का उपादान कम है, और विषाद का अधिक। मैंने जिन ऐतिहासिक कारणों को गिनाया, उनके अलावा कुछ ऐसे कारण थे जैसे भ्रष्टाचार, पुरानी नौकरशाही की धाँधली, जिनको किसी एक परिभाषा के अन्दर लाना कठिन है, पर उनके कारण असन्तोष बढ़ा।

जब तक स्वतन्त्रता का संग्राम जारी था, तब तक संग्रामकारियों में उद्देश्य तथा लक्ष्य की विभिन्नता, यहाँ तक कि किसी-किसी क्षेत्र में परस्पर विरुद्धता होनें पर भी सब कन्धे से कन्धा भिड़ाकर उस संग्राम में शामिल थे, पर स्वतन्त्रता मिलते ही विभिन्न स्वार्थों की परितृप्ति का मौका नहीं मिला, वही असन्तुष्ट हो गए। भूतपूर्व कांग्रेसजनों में से बहुत इस कारण असन्तुष्ट हो गए और असन्तुष्ट हैं कि स्वतन्त्रता-संग्राम तो उन्होंने लड़ा और शासन के पदों पर पहले की नौकरशाही बनी रही। कहना न होगा, यह असंन्तोष बिलकुल बेबुनियाद नहीं था। इसका भी साहित्य में प्रतिफलन हुआ।

मजदूर जो कुछ चाहते थे, वह उन्हें नहीं मिला, किसान जो कुछ चाहते थे, वह उन्हें नहीं मिला। इस प्रकार असन्तोष बढ़ा। विशेषकर वामपक्षी लेखकों की कृतियों में यह असन्तोष झलका, और मजे की बात है कि दक्षिण पक्षी लेखक कोई था ही नहीं, जो कुछ लिखते।

मैं स्वयं इस मत का हूँ कि हमें जो स्वराज्य मिलता है, वह इस प्रकार है जैसे किसी को जमीन का पट्टा मिल जाय। पट्टा और फसल में बहुत अन्तर है। आधुनिक इतिहास में १९१७ ई० की रूसी क्रान्ति सबसे बड़ी क्रान्ति है पर वहाँ १९१९ ई० में देशव्यापी भयंकर दुर्भिक्ष हुआ, इतना बड़ा दुर्भिक्ष कि मर्दुमखोरी का प्रचलन हो गया। वहाँ १९२३ ई० तक बुरा हाल रहा, यद्यपि वहाँ समाजवाद था। पर वहाँ किसी सोपान में आशा की कमी नहीं रहीं क्योंकि प्रयत्न, सही प्रयत्न जारी रहे।

मैं समझता हूँ कि अब हमारे साहित्य को रचनात्मक होने की आवश्यकता

है, अर्थात् विनाशात्मक भी हो, तो उसमें भी रचनात्मक इंगित अन्तर्निहित हो। साहित्य का काम केवल दार्शनिकता करना, व्याख्या करना या आलोचना करना नहीं है। साम्राज्यवाद के अधीन भारत में केवल कटुता उपयुक्त थी, पर अब हमें रचनात्मक आलोचना करनी पड़ेगी। साहित्य के द्वारा दुनिया की व्याख्या करना नहीं, बल्कि उसको बदल डालना पड़ेगा। अगर यह नहीं चाहिए तो क्या चाहिए, यह प्रत्येक क्षेत्र में बताना पड़ेगा। यही साहित्य का नया कर्त्तव्य है।

पराधीन भारत में राष्ट्र-निर्माण में साहित्य का स्थान स्वाभाविक रूप से राजनीति से पीछे था, पर अब स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ-साथ साहित्यकारों को आगे बढ़ना होगा। पर दुःख है, अधिकांश साहित्यिकों को अपने सामने के मार्ग का कुछ पता नहीं। यह बहुत ही दयनीय है। कुछ लोग 'कला कला के लिए' इस नारे के शिकार हैं। उनके निकट स्वान्तः सुख के अतिरिक्त, अधिक-से-अधिक पाठकों के मनोरंजन के अतिरिक्त साहित्य का कोई कर्तव्य नहीं है। कहना न होगा कि हमारे देश के नये ताने-बाने में ऐसों के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता।

फिर कला-कला के लिए, इसका मथितार्थ क्या है? मोपासाँ को 'कला कला के लिए' मतवाद का सबसे बड़ा उदाहरण कहा जा सकता है, पर उनकी कहानियों में सासामयिक ह्रासशील सामन्तवादी वर्ग का चित्रण है। उनकी कहानियों से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि इस वर्ग को नष्ट होना ही चाहिए, इसी में जगत् का कल्याण है। यदि लेखक बिलकुल कल्पना के पंख पसारकर नहीं उड़ रहा है, यदि वह वस्तुवादी नहीं तो वास्तविकता का कुछ भी आधार रखता है, तो अवश्य ही उसके विश्लेषण करने पर उसमें सही इंगित मिलेगा। सभी साहित्य लेखक की निजी अनुभूति की चलनी से होकर आने के लिए बाध्य हैं, पर जिस साहित्य में संकुचित अर्थ में केवल निजी अनुभूति ही है, वह दो कौड़ी का है।

यह द्रष्टव्य है कि केवल सोवियट रूस में ही नहीं आधुनिक युग के सब बड़े कलाकार 'कला-कला के लिए' मत के नहीं हैं। बर्नार्ड शा, आनातोले फ्रांस, रोम्याँ रोलाँ, गैल्सवार्दी, इबानेज, सिंक्लेयर लिविस, अप्टन सिंक्लेयर, पर्ल बक, लिन यु टाँग, प्रेमचन्द, शरच्चन्द्र, एक सामाजिक आदर्श को लेकर चले। यद्यपि रवीन्द्रनाथ सिद्धान्त रूप में साहित्य में आभिजात्य के पक्षपाती थे, फिर भी उनकी 'गोरा' आदि मुख्य रचनाएँ उद्देश्यमूलक थीं, और उनमें एक मिशन था।

अवश्य जैसा कि मैंने अपनी विराट पुस्तक 'कथाकार प्रेमचन्द' में लिखा है केवल मिशन होने ही से, चाहे वह अच्छा-से-अच्छा मिशन हो, कोई महान् कलाकार नहीं हो जाता। जार्ज डिमिट्राफ ने सोवियट लेखकों में बोलते हुए यह स्पष्ट कर दिया था कि "वह लेखक क्रान्तिकारी लेखक नहीं हैं, जो अपनी कृतियों में बार-बार इन्कलाब जिन्दाबाद करता रहता है।" लेखक, कलाकार, उपन्यासकार या नाटककार एक वैज्ञानिक की तरह है तथा वह उपलब्ध उपादानों से और उपादानों के नियमों को मानकर ही सफलतापूर्वक लिख सकता है। कुछ लेखकों में जिस छिछोरेपन से क्रान्ति की या प्रगतिशील शक्तियों की जय दिखलाने की परिपाटी दृष्टिगोचर होती हैं, उससे न तो क्रान्ति या प्रगतिशील शक्तियों का कोई लाभ होता है, और न वह कला है। जो कलाकार जितने छिपे रूप से, आहिस्तगी से, बिलकुल नेपथ्य में रहकर अपने मिशन को चित्रित कर सकता है, वह कलाकार उतना ही श्रेष्ठ है। काश्मीर युद्ध पर जो कहानियाँ लिखी गई हैं, उनमें कहीं-कहीं यह छिछोरापन दृष्टिगोचर हुआ है। उसी हद तक वे कहानियाँ कला के दर्जे से उतर गईं। लेखक का वक्तव्य कथावस्तु के अन्दर से सूक्ष्म रूप से झलक जाना चाहिये।

मैं समझता हूँ भविष्य में कहानी का महत्त्व बढ़ता जायगा। हिन्दी-साहित्य में ही कहानियों के जरिये से अखाड़ा चलने लगा है। एक तरफ 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' ऐसे हैं, तो दूसरी तरफ अन्य उपन्यास हैं। कहानी में उपन्यास तथा नाटक को भी गिन रहा हूँ भविष्य में बड़ा शक्तिशाली माध्यम होगा। दुःख है कि हिन्दी में अच्छे कहानीकार कम हैं, जो हैं उन्हें प्रोत्साहन नहीं मिलता।

लोक-शिक्षा में कहानी का स्थान सबसे ऊँचा इस कारण होने के लिए बाध्य है कि प्रवचन सब नहीं पढ़ते, न सब लोग अच्छे-अच्छे तथ्यपूर्ण लेख ही पढ़ते हैं, पर कहानी पढ़ने का रिवाज बढ़ता ही जा रहा है। आजकल की तेज गति वाले जीवन में उपन्यास स्त्रियों के अलावा कम लोग पढ़ जाते हैं। सच तो यह है कि हिन्दी में उपन्यास स्त्रियों की बदौलत जीवित हैं, पर कहानी सब पढ़ते हैं। मैं कहानी को संग्राम का, सुन्दरतर विश्व के लिए संग्राम का, एक जबरदस्त हथियार समझता हूँ। यदि कहानीकार शोषणहीण विश्व के लिए संग्राम में हाथ न बटा सका तो उसकी कला व्यर्थ है।

अवश्य ही मैं यह नहीं कहता कि कला या साहित्य में एकरूपता हो या वह आर्डर पर तैयार हो, पर इतना तो साहित्य से अब जरूर माँग करनी पड़ेगी कि वह आगे की ओर देखे और आशावाद का सन्देश दे। आज हमें अपनी

सारी शक्ति को एकत्र करके द्रुत वेग से शोषणहीन समाज की ओर जय-यात्रा करनी है। मैं लेखकों की इस स्वतन्त्रता को नहीं मानता कि वे चाहें तो पीछे की ओर चलें। पर यह भी नहीं कहता कि वर्तमान समय में ऐसे साहित्य को कानून से रोका जाय। नहीं, यह लेखक-समाज का कर्तव्य है कि वह अपने अन्दर के ऐसे लेखकों को रोके और और जनता को उनसे सचेत कर दे। साहित्य की विपुल-शक्ति को हृदयंगम करते ही विभिन्न प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ उसे खरीदकर अपने उल्लू सीधा करने के लिए दौड़ पड़ेंगी, साहित्यिकों में पतन की प्रतिक्रिया दृष्टिगोचर होगी। इस कारण में साहित्य के अन्तिम निर्णय का भार जनता पर ही छोड़ना पसन्द करूँगा।

जो कुछ भी हो, साहित्यिक को अपने प्रति सच्चा रहने के साथ ही आगामी समाज के प्रति सच्चा रहना पड़ेगा। यह अपरिहार्य है। जब तक ब्रिटिश साम्राज्यवाद का यहाँ बोल-बाला था, तब तक पत्रकारों तथा साहित्यिकों का काम उसका विरोध करना था, यानी यदि वे भविष्य का कोई चित्र न देकर विरोध करते जाते, तो भी उनके कर्तव्य के सारभाग की पूर्ति हो जाती। अवश्य मैं यह नहीं कहता कि उस समय उनका एक सही कर्तव्य था। हमारे अन्दर कितनी ही सामाजिक कुरीतियाँ थीं, उनसे भी लड़ना, उनका पर्दाफाश करना आवश्यक था।

पर अब किसी भी हालत में केवल विरोध की नीति पर हमारा साहित्य खड़ा नहीं हो सकता। मैं यह नहीं कहता कि साहित्यिक चाटुकार हो जायँ, यह तो बड़ी भारी विपत्ति होगी। पर मैं यह अवश्य कहता हूँ कि आलोचना तथा विरोध रचनात्मक विकल्प के सुझाव के साथ हो। कौन इस बात को महसूस नहीं करता कि प्रगति तथा क्रान्ति की प्रक्रिया रुक गई, वह तो अपने नियम के अनुसार चलती रहगी। पहेली मात्रागत परिवर्तन, फिर गुणगत। पहले धीरे-धीरे, फिर एकदम से तेजी के साथ क्रान्ति तो होगी।

मेरा साहित्यिकों से यह कहना है कि नये युग के कर्तव्य को समझने के लिए साथ ही अपनी टैकनिक में उन्नति करने के लिए एक तो सामाजिक शक्तियों के नियमों को वैज्ञानिक रूप से समझें। मैंने अपनी पुस्तक 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' में इस सम्बन्ध में एक खाका पेश किया है। रूसी लेखकों ने तथा शहीद लेखक राल्फ फाक्स ने विशेषकर लेखकों के कर्तव्य पर बहुत कुछ लिखा है।

मैं यह इशारा नहीं कर रहा हूँ कि कथित उग्र लेखकों को ही अपनाया जाय। काटायेफ नामक रूसी आलोचक ने यह साफ कर दिया है कि ऐसी

कोई बात नहीं। उन्होंने सोवियट लेखकों को उपदेश देते हुए यहा था कि गोर्की रोम्याँ-रोलाँ को अपनाया जाय। स्मरण रहे कि रोलाँ अध्यात्मवादी थे, जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों में विश्वास करते थे। फिर भी वे अनुकरणीय समझे गए। काटायेफ ने साफ कहा "रोलाँ की रचनाएँ जिन सामाजिक और दार्शनिक उत्पत्ति-स्थलों से अपनी अनुप्रेरणा लेती थीं, उनके कारण कुछ उनमें कुछ संशोधन करके पढ़ना पड़ेगा, पर फिर भी वे हमारे सबसे नजदीकी हैं।" इसी प्रकार हमारे साहित्यिकों को प्रेमचन्द, प्रसाद, शरत्, रवीन्द्र सबको पढ़ने की आवश्यकता है। अपनी साहित्यिक धरोहर को समझकर ही हम साहित्य की रचना कर सकते हैं।

अब तक साहित्यिक बहुत पीछे रहते थे। मैं चाहता हूँ कि वे आगे आकर अपना सही स्थान लें। हमें अपने हाथी के दाँत की मीनार से उतरकर सुन्दरतर विश्व के लिए संग्राम में हाथ बटाना पड़ेगा, निडर होकर आलोचना करनी पड़ेगी। पर हमारी आलोचना एक प्रियजन की आलोचना हो, हाँ, यह स्मरण रहे कि कभी-कभी प्रियजन को त्यागकर यहाँ तक कि उसे कष्ट देकर भी हमें प्रेम निबाहना पड़ता है। समग्र जगत् में शोषणमूलक पद्धतियों का अन्त करना है। इस शिव आदर्श को, असुन्दर पर सुन्दर की विजय हो, सामने रखा जाय। इस सत्य को सामने रखकर हम सत्य, शिव, सुन्दर समाज के निर्माण के लिए बढ़ जायें।

१७

राष्ट्र-निर्माण और रेडियो

हम किसी को अपने घर तथा परिवार में आने-जानें तभी देते हैं, जब उसके सम्बन्ध में पूरी जाँच कर लेते हैं, और जब हम यह जान लेते हैं कि वह हमारा कुछ नुकसान नहीं करेगा। रेडियो अब हमारे घर की चीज़ हो चुकी है, यों तो अखबार तथा मासिक पत्र भी घर में हैं, पर उनकी पहुँच उतनी नहीं। घर के कम पढ़े-लिखे लोग नौकर, यहाँ तक कि बच्चे भी, रेडियो सुनते हैं।

अक्सर ऐसा होता है कि रेडियो खुला हुआ है, हम उसे नहीं सुन रहे हैं, पर ऐसी हालत में भी वह परोक्ष रूप से हमारे विचारों को प्रभावित करता है, हमारी सांस्कृतिक सतह को गिराता या उठाता है, हमारी कला-सम्बन्धी धारणाओं का निर्माण करता है।

जिसमें इतनी शक्ति है, उसके सम्बन्ध में कोई भी नहीं सोचता, यह दुःख की बात है। टाल्स्टाय ने अपनी 'क्रायत्सेर सोनाटा' नामक पुस्तक में यह दिखलाया है कि चूँकि संगीत में अनन्त शक्ति है, उसके ज़रिये श्रोता के मन में उसके अनजान में जो चाहे वह प्रभाव पैदा किया जा सकता है, इस-लिए संगीत को व्यक्तियों के हाथ में न छोड़ा जाय, उसे सार्वजनिक विषय बनाया जाय, यानें सार्वजनिक नियंत्रण में काम में लाया जाय। टाल्स्टाय की उल्लिखित पुस्तक में यह दिखाया गया है कि किस प्रकार संगीत के ज़रिये एक स्त्री को पथ-भ्रष्ट किया गया था।

जब संगीत के सम्बन्ध में यह बात है, तो रेडियो के संबंध में तो यह बात कहीं अधिक विस्तार के साथ लागू है; क्योंकि रेडियो में संगीत तो है ही, और भी सैकड़ों बातें हैं जो हमें बनाने-बिगाड़ने का कारण हो सकती हैं।

हमारे देश में रेडियो पर गंभीरता के साथ सोचने वाले विद्वान् एक भी नहीं हैं। हमको यदि उसका कार्यक्रम पसन्द नहीं आता, तो उसको भी वैसा

ही एक दुर्भाग्य समझ लेते हैं जैसे रेल का या बसों का लेट चलना, बिजली का जब-तब बन्द हो जाना, सड़क की धूल, महँगाई इत्यादि। इस सम्बन्ध में कुछ पत्र जब-तब अखबारों में आते हैं, पर एक तो वे पत्र कहाँ तक विद्विष्ट या अनुप्रेरित हैं, इसका ठीक-ठीक पता नहीं। दूसरे इस नक्कारखाने में तूती की आवाज़ की क्या बिसात ?

रेडियो के दफ़्तर में श्रोताओं के पत्र आते रहते हैं, अमुक कार्यक्रम पसन्द है, अमुक का गाना या 'टॉक' पसन्द है; इन पत्रों में कितने जाली होते हैं इसका पता लगाना मुश्किल है। जाली पत्रों से मेरा मतलब ऐसे पत्रों से है जो रेडियो में 'टॉक' आदि देने वालों द्वारा लिखाये जाते हैं।

इस सम्बन्ध में गहराई तक पहुँच पाना टेढ़ी खीर है। फिर इधर हमारे देश में हिन्दी-हिन्दुस्तानी, उर्दू का जो झगड़ा मचा हुआ था, मैं यह नहीं कहता कि वह निरर्थक या बेकार था, पर उससे रेडियो के विषय पर कम ध्यान गया, और उसकी भाषा पर अधिक। भाषा वाहन अवश्य है, पर विषय ही असली वस्तु है। भाषा विषय के लिए है न कि विषय भाषा के लिए। अवश्य भाषा का महत्त्व भी बहुत है, क्योंकि उसी के माध्यम से विषय हृदयंगम होता है।

यद्यपि हमारे देश में रेडियो पर गम्भीर विवेचन नहीं हुआ है, पर पाश्चात्य देशों में इसके प्रत्येक पहलू पर अति गम्भीर विवेचन हुआ है। आज मैं इस लेख में उसका थोड़ा-सा परिचय दूँगा।

रेडियो की समस्या एक विश्व-समस्या है, और उसको उसी आधार पर समझना चाहिए। पाश्चात्य देशों के सुधीगण इस सम्बन्ध में जिन उपसंहारों पर पहुँच रहे हैं, वे हमारे लिए भी महत्त्व रखते हैं और हम पर लागू भी हैं।

हैदराबाद पर पुलिस-हमले के दिनों में यह देखा गया कि रेडियो हमारे जीवन का एक अपरिहार्य अंग हो चुका है। लोग उन दिनों अखबारों की प्रतीक्षा न करके हर घंटे रेडियो सुनते थे। पर लोग अखिल भारतीय रेडियो के अतिरिक्त पाकिस्तन रेडियो तथा जब तक मिला हैंदराबाद रेडियो भी सुन रहे थे। बी० बी० सी तो सुनते ही थे।

इस प्रकार घुमा-फिराकर सब रेडियो सुनने का तथ्य निरर्थक नहीं है। उसका भी अर्थ है। सच तो यह है कि इस तथ्य से रेडियो का एक पहलू सामने आ जाता है। रोम्याँ रोलाँ ने पत्र-जगत् को La grande menteuse या महान् झूठा कहा है, मालूम होता है हमारे यहाँ की जनता रेडियो के सम्बन्ध में भी यही बात समझ चुकी है। द्वितीय महायुद्ध की अभिज्ञता

का परिणाम है, तब मित्र-पक्ष जिस बात को जैसे कहते थे, शत्रु-पक्ष उसी बात को बिलकुल विरुद्ध रग मे रँगकर कहता था। लोग अखिल भारतीय रेडियो की हैदराबाद सम्बन्धी खबरो का विश्वास तो करते थे, पर उनकी तसदीक शत्रु तथा अमित्र रेडियो से चाहते थे। यह हमारी जनता की बुद्धि का परिचायक तो है, पर शायद हमारी स्वदेशी सरकार के लिए विशेष सम्मान की बात नही कि अभी उसको स्थापित हुए जुम्मा-जुम्मा आठ रोज नही हुए थे, और लोग उसमे उन्ही सब दुर्गुणो का आरोप करने लगे। अस्तु।

विगत महायुद्ध से रेडियो के सम्बन्ध मे कुछ विशेष तथ्य ज्ञात हुए। प्रत्येक सरकार अपने पत्रो में खबरो को इस प्रकार से सेंशर करके छापती थी कि वह उसी के अनुकूल जाय। इस प्रकार यह चेष्टा की जाती थी कि जनता वही सोचे जो नेता सोचते है, पर हर देश की जनता शत्रपक्ष का रेडियो सुनती थी। हमारे यहाँ भी जमन और जापानी रेडियो बडे चाव से सुना जाता था।

जमन-अधिकृत देशो मे जो प्रतिरोध आन्दोलन चला, वह इतने इतने सालो तक तकलीफ उठाने के बावजूद चल ही नही सकता था यदि बी० बी० सी० तथा अ य गुप्त रेडियो-स्टेशन काम न करते। स्वतन्त्रता के योद्धाओ के लिए रेडियो बडे काम की चीज साबित हुई।

साथ ही रेडियो के जरिये रूस, इगलैड, अमरीका, फ्रान्स तथा यहूदियो के विरुद्ध बडी बडी झूठी बाते फैलाई गई। अवश्य मित्र-पक्ष भी दूध के धुले नही थे, उन्होने रेडियो के जरिये जो प्रचार-काय किया, उसमें झूठ की मात्रा प्रचुर थी।

इन बातो को साधारण जनता भी समझती है। इस कारण रेडियो का प्रचार उतना ही असर पैदा करता है जितना अखबारी प्रचार। यदि रेडियो को प्रचार-काय के लिए काम मे लाया जाय, तो यह न समझा जाय कि फौरन असर पैदा करेगा। असर पैदा होने की प्रक्रिया बिलकुल मन्थर है। युद्ध-काल में काम मे आने वाले विभिन्न देशो के रेडियो के असरो का वैज्ञानिक अध्ययन किया गया है, जिससे यह नतीजा निकलता है कि बी० बी०.सी० का ढग सबसे अच्छा था।

उसने युद्ध के प्रारम्भ से ही यह कहना शुरू किया कि शुरू मे बहुत दिनो तक हम हारेंगे क्योकि हम प्रस्तुत नही थे, पर यह लडाई उत्पादन की लडाई है, और अमरीका तथा ब्रिटेन उत्पादन मे सबसे आगे है, इस कारण लडाई में हमारी जीत होगी। बाद मे चलकर यह भविष्य वाणी सच

निकली। पराजित देशों के लोगों को इस प्रचार से अनुप्रेरणा मिलती थी।

बी० बी० सी० ने हारों को एक हद तक ही छिपाया। शायद कभी ऐसी बात कही जो बाद को गलत प्रमाणित हुई। स्मरण रहे कि यहाँ केवल युद्ध-समाचार की बात हो रही है। यों बी० बी० सी० बृटिश साम्राज्यवाद का एक अंग तो था ही। पर प्रचार में भी तरीके होते हैं।

प्रचार तभी असर पैदा कर सकता है जब उसका सम्बन्ध सीधे तथ्यों से हो। हवाई प्रचार एक सीमा तक ही चल सकता है, बाद को उसका पर्दा-फाश हो जाता है। यदि देश में लोग भूखों मर रहे हों, महंगाई बढ़ रही हो, तो यह प्रचार नहीं किया जा सकता कि हम समृद्धिशाली हो रहे हैं। भारत के उदाहरण को लिया जाय। यदि हम जल्दी भुखमरी, महंगाई तथा गरीबी पर काबू न पा सके, तो इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से लोग यह शक करने लगेंगे कि स्वतन्त्रता मिलना अच्छा रहा या नहीं। कुछ लोग, जो इससे गहराई तक सोचते हैं, और स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में सही रूप से गुलाबी धारणा रखते हैं, वे कहेंगे और कह रहे हैं कि स्वतन्त्रता मिली नहीं। रेडियो से ही दिन-रात भले ही प्रचार हो, पर जनता अधिक ठोस प्रमाण माँगेगी।

रेडियो की शक्ति असीम है, यह समझना भूल है। फिर भी अखबारों से इसकी शक्ति दूर तक पहुँची हुई है। कई Chauvrinist या अन्ध देश-भक्ति-मूलक राष्ट्र यह जो चाहते हैं कि उनके नागरिक प्रत्येक बात को एक रंगीन चश्मे से देखें, विदेशी रेडियो सुनने के चस्के के कारण वह चल नहीं सकता। यह कहा गया है, और ऐसा कहना बिलकुल तथ्यहीन नहीं है कि इसमें आशा के उपादान हैं (Une grande raison despoir) द्वितीय महायुद्ध में फ्रांस के पतन के बाद लोगों की हालत बड़ी विचित्र हो गई थी, पैरिस तथा विदेशी रेडियो से कोई खबर तो मिलती नहीं थी, इस कारण लोग या तो बी० बी० सी० सुनते थे या स्टुटगार्ट सुनते थे।

शान्ति-काल में भी विदेशी रेडियो सुनने का रिवाज बढ़ता जा रहा है इससे ज्ञान का प्रसार होगा और परमत-सहिष्णुता बढ़ेगी। भारत में भी दूसरी भाषा में रेडियो में समाचारादि देने के रिवाज का प्रसार हो रहा है। पर यह सारा कार्यक्रम उचित नियन्त्रण में होना चाहिए। विश्वस्त लोगों को ऐसे समाचार देने का भार देना चाहिए।

सुनने में आया है कि भारत-सरकार द्वारा मध्यपूर्व की भाषा में प्रकाशित एक पत्र में बिहार के दंगों के विषय में जो समाचार निकला, उसमें भारत-सरकार ही पर दोष लादा गया। पत्र प्रकाशित होकर मध्य पूर्व में

पहुँच भी गया, और किसी को इस शरारत की कानो-कान खबर तक नहीं हुई। बाद को इसका पता लगा। तब तक सम्पादक पाकिस्तान जा चुका था।

ऐसा नहीं होना चाहिए। रेडियो के संचालक अपने को विशेषज्ञों या भाषाविदों को दया पर छोड़ न दें। ऐसे विश्वास-पात्र व्यक्ति होने चाहिएँ जो उनके काम पर पूरी देख-रेख रख सकें।

रेडियो के विरुद्ध, केवल ए०आई०आर० नहीं, सारे रेडियो के विरुद्ध एक बड़ा अभियोग यह भी है, उसे इस सम्बन्ध में ध्यान में रखना पड़ेगा। फ्रेंच लेखक जोनाथा ग्रिफ ने इस सम्बन्ध में बहुत गम्भीर सन्देह प्रकट किये हैं। उसका कहना है "हर समय यह जो सन्दिग्ध मूल्ययुक्त प्रोग्राम का ताँता चला करता है, क्या उससे अन्त तक जाति के मान-दंड का निम्नीकरण न होगा। क्या उससे एक निरन्तर कुछ-न-कुछ सुनते रहने की आदत नहीं पड़ जाती है, और धीरे-धीरे फिर तो सुनना ही रह जाता है, और सुनने की सूक्ष्म शक्ति लुप्त हो जाती है।"

घंटे-घंटे खबर सुनने की आदत भी कौतूहल की मात्रा को एक पाप तक बढ़ा देना है! किसी भयङ्कर संकट के समय तो यह कौतूहल समझ में आता है, पर साधारण समय में भी इस प्रकार अप-टु-मिनिट अप-टु-डेट होने की धमकी की सराहना नहीं की जा सकती, क्योंकि फिर गंभीर चिन्तन के लिए कोई नहीं बचता। स्त्रियाँ दोपहर में तथा पुरुष छुट्टी के दिनों में अक्सर रेडियो खोले पड़े रहते हैं, इस प्रकार जिस समय को वे शायद गंभीर चिन्तन, पाठ या अन्य कार्य में बिताते, वह इस प्रकार व्यर्थ व्यतीत हो जाता है।

सभ्यता, जो एक-एक कदम आगे बढ़ी है, उसके पीछे गंभीर चिन्तन है, इस प्रकार गंभीर चिन्तन का रास्ता रुक जाना बहुत अनुचित होगा।

मोशियेग्रिफ ने इस सम्बन्ध में रेडियो की एक और त्रुटि पर रोशनी डाली है, जो ए०आई०आर० पर भी उसी प्रकार लागू है जैसे अन्य रेडियो पर। वह त्रुटि यह है कि रेडियो के प्रोग्राम बनाने वाले संस्कृति तथा मनोरंजन को एक करने की चेष्टा न करके दोनों को बिलकुल पृथक् समझते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि मनोरंजन के नाम से जो कार्यक्रम आता है, वह बिलकुल ही घटिया दर्जे का होता है। जिसे पाश्चात्य देशों में आज संगीत कहते हैं, उसी का वहाँ बोल-बाला है, और हमारे यहाँ हल्के गाने तथा रेकार्ड हैं। मैं हल्के गानों के विरुद्ध नहीं हूँ, पर सवेरे से शाम तक केवल एक विशेष

तरह की उत्तेजना पैदा करने वाले गाने सुने जायँ, यह कोई अच्छी बात नहीं।

इन गानों से जीवन के सम्बन्ध में जो धारणा पैदा होती है, वह सही नहीं है। जीवन उतना न तो आसान है और न उतना तरल। जीवन में प्रेम है, पर उसके साथ ही सम्बद्ध त्याग है। सच तो यह है कि त्याग के बिना प्रेम का कोई अर्थ ही नहीं होता। संग्राम हमारे जीवन का एक प्रधान अङ्ग है, और यदि सच कहा जाय तो संग्राम भी उतना ही दिलचस्प है जितना प्रेम।

संस्कृति और मनोरञ्जन को पृथक् करने के कारण दूसरों का जो कार्य-क्रम दिया भी जाता है, उसे लोग सुनते नहीं। अवश्य समय-समय पर राज-नीतिक नेताओं के जो भाषण होते हैं, उन्हें लोग भारत में सुनते हैं, पर उन भाषणों में संस्कृति का कितना उपादान होता है, यह सन्दिग्ध है।

रेडियो का काम यह होना चाहिए कि अच्छी-से-अच्छी कलात्मक कृतियों, कविता, संगीत, लेख, कहानी का प्रचार करें। रेडियो का उद्देश्य जनता की रुचि को ऊपर उठाना तथा उसे परिचालित करना है, अवश्य इस उद्देश्य को वह तभी सफलता पूर्वक कर सकता है जब वह एक हद तक उसके द्वारा परिचालित हो, पर ऐसा वहीं तक जहाँ तक उद्देश्य सिद्ध होता है। मनोरंजन में भी राष्ट्र-निर्माण के उपादान होने चाहिएँ।

मनोरंजन के बहाने तीसरे दर्जे की चीजें परोसने का कोई अर्थ नहीं होता। अभी हमारे देश में रेडियो की परिचालना मुख्यतः ऐसे लोगों के हाथों में है जो बहुत अधिक हुआ तो दूसरे दर्जे के लोग हैं। पर यह बहुत ही भारी जिम्मेदारी का काम है। रेडियो की परिचालना के लिए याने उनके मूल सूत्रों को तय करने तथा यह देखने के लिए कि उनके द्वारा निश्चित मूल सूत्रों का ठीक-ठीक अनुसरण होता है, यह जरूरी है कि बी० बी० सी० की तरह ए० आई० आर० की गवर्निंग बॉडी हो, जिसमें ये लोग हों—

(१) उच्च कलाकार, साहित्यिक संगीतज्ञ,

(२) राष्ट्र-निर्माण के सम्बन्ध में स्पष्ट विचारयुक्त ऐसा या ऐसे व्यक्ति जिनकी देश-भक्ति असन्दिग्ध हो।

(३) प्रचार-कार्य-विशेषज्ञ।

इस विषय को दूसरे दर्जे के विशुद्ध पेशेवर लोगों के हाथों में छोड़ रखना खतरे से खाली न होगा।

हमारे देश के रेडियो के परिचालक यह समझते हैं कि लोग केवल आशिकाना गज़लें पसन्द करते हैं, पर यह ग़लत है। ब्रिटेन की ग्रामोफोन कम्पनियों के

आँकड़ों से पता लगता है कि गत बीस वर्ष में लोग क्लासिकल गीत तथा जाज़ की तरफ झुक रहे हैं। बीच की किस्म के हल्के-फुल्के गानों की ओर से लोगों की रुचि हट रही है।

हमारे रेडियो में राजनीतिक नेताओं के अलावा जो लोग बोलते हैं, उनमें से अधिकांश के सम्बन्ध में यह संदेह होता है कि वे कोई-न-कोई हथकण्डा लड़ाकर वहाँ पहुँचे हैं। जिन्हें कुछ कहना है, उन्हें ही बोलने का मौका देना चाहिए। चर्वित चर्वण के लिए रेडियो में मौका नहीं देना चाहिए।

जनता क्या पढ़े, इस पर रेडियो की तरफ से सही ढंग पर पथ-प्रदर्शन होना चाहिए। नई पुस्तकों को आलोचना का कार्यक्रम तो सब रेडियो में है, पर एक तो उसे पूरा कम किया जाता है और जब किया भी जाता है तो पार्टीबन्दी से। क्या इसकी कोई दवा नहीं है?

रेडियो के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या वह सरकार का विभाग हो, या वह कम्पनियों के हाथों में हों? कम्पनियों के हाथों में होने से यह कहा जाता है कि आपस में प्रतियोगिता होगी, और उससे सुनने वालों को फायदा होगा। पर ऐसा भी तो हो सकता है कि इस मनोपोली या एकाधिकार के युग में सब कम्पनियाँ आपस में समझौता कर लें, सुनने वाले रह जायँ।

अमेरिका तथा कैनाडा में रेडियो की गैर-सरकारी कम्पनियाँ हैं। कैनाडा का यह तजुरबा है कि कैनाडा की किसी कम्पनी ने किसी अच्छे वक्ता, गायक, गायिका आदि का आविष्कार किया तो उसे अमेरिका के धनी रेडियो कम्पनियाँ चौगुना पारिश्रमिक देकर अपने यहाँ ले जाते है।

रेडियो राष्ट्र-निर्माण का एक प्रधान साधन है, शायद उसे व्यवसायियों के हाथों में छोड़ देना उचित न होगा। जैसे प्रकाशक पुस्तक-प्रकाशन में इस बात का खयाल नहीं करते कि इस समय कैसी पुस्तक का प्रकाशन उचित है, केवल मुनाफे का खयाल करते हैं, उसी प्रकार रेडियो-कम्पनियों का भी होगा। अवश्य अमेरिका की कम्पनियाँ अपने श्रोताओं को जल्दी-से-जल्दी खबर देते हैं, पर यह भी व्यावसायिक दृष्टि से।

तो अब यही विकल्प रह जाता है कि राष्ट्रीय और सरकारी रेडियो एक बात नहीं है। मैं इस सम्बन्ध में मोशिये ग्रिफाँ को उद्धृत करता हूँ—

"यदि रेडियो को व्यापारी कम्पनियोंके हाथमें नहीं छोड़ना है, तो उन्हें राष्ट्रीय होना चाहिए, न कि सरकारी। यदि रेडियो केवल सरकारी दृष्टिकोण को पेश करता है, बराबर उसमें हस्तक्षेप होता रहे और सेंसर होता रहे, तो वह उसके लिए मौत है। और श्रोता उस लाश के पास भी नहीं फटकेंगे। लोकतान्त्रिक

राष्ट्रीय रेडियो अन्ततोगत्वा पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी है पर वह रोजमर्रा की कार्रवाई में स्वतन्त्र हो । उसे चाहिए कि सरकारी घोषणाओं का प्रकाशन करे, और सरकारी सन्देशों को अपने समय का एक उचित अंश दे, पर साथ ही दूसरे महत्त्वपूर्ण दलों को ही नहीं स्वतंत्र व्यक्तियों के विचारों का भी प्रचार करे ।"

इस प्रकार से स्वतंत्र रेडियो के शीर्ष स्थल पर राष्ट्रीय महत्त्व के लोग हों जैसा कि मैं बता चुका । इसकी जाँच करने के लिए एक अन्वेषण विभाग भी होना चाहिए जो रेडियो के कार्यक्रम के सम्बन्ध में गुप्त रूपसे यह पता लगावे कि कहाँ तक असर पैदा हो रहा है, तथा लोग क्या कहते हैं ।

रेडियो के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव यह भी है कि एक विश्व-राष्ट्र के प्रारम्भ के रूप में एक विश्व रेडियो हो जो विभिन्न भाषाओंमें कार्यक्रम चलावे । प्रत्येक राष्ट्रीय रेडियो को विश्व-रेडियो के कार्य-क्रम को एक कम-से-कम हद तक अपने यहाँ की भाषा में देना पड़ेगा । यह प्रस्ताव बहुत ही सुन्दर है, पर अभी वह दिन दूर है । पहले अपने देश के अन्दर रेडियो सांस्कृतिक दृष्टि से तो चलाये जायँ ।

१८

स्वतन्त्र भारत में अंग्रेजी और अन्य भाषाएँ

स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ-साथ अन्य सैकड़ों प्रश्नों के साथ यह भी एक प्रश्न उठ रहा है कि अब भारतवर्ष में अंग्रेजी भाषा का क्या स्थान हो। दुःख है कि इतने बड़े विषय पर विचार करते समय भावुकता से काम लिया जाता है, एवं वस्तुस्थिति पर विचार नहीं किया जाता। कुछ लोग तो यह कहते दृष्टिगोचर हो रहे हैं कि तुरन्त अंग्रेजी को सब तरह से हमारे जीवन से निकाल दिया जाय, और कुछ लोग, जिनकी संख्या अधिक नहीं है पर वे प्रभावशाली हैं, यह कहते दृष्टिगोचर हो रहे हैं कि अंग्रेज भले ही चले गए हों, अंग्रेजी का रहना आवश्यक है।

इन दो वक्तव्यों में से कौन सा वक्तव्य सत्य के अधिक निकट है या वस्तुस्थिति को प्रतिफलित करता है, इस विषय पर हम तभी किसी नतीजे पर पहुँच सकते हैं जब हम दोनों पक्ष के तर्कों पर विचार करें, इसलिए हम पहले दोनों पक्ष के तर्कों पर प्रकाश डालेंगे।

यह तो बिलकुल स्वाभाविक है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अन्त के साथ-साथ अंग्रेजी की वह मर्यादा रह नहीं सकती। यह कहना बिलकुल गलत है कि भारतवर्ष में अंग्रेजी को जो स्थान प्राप्त हुआ, वह शेक्सपीयर, मिल्टन, शेली, कीट्स, बायरन, शा, गालसवर्दी आदि के कारण प्राप्त हुआ है। यदि भारतवर्ष में अंग्रेजों का राज्य स्थापित न होता, तो ये सब बड़े-बड़े युगान्तरकारी लेखक तथा कवि धरे ही रह जाते, पर भारतवर्ष में अंग्रेजी का इतना प्रचार न होता। जर्मन, फ्रेंच तथा रूसी भाषा में भी अच्छे-से-अच्छे लेखक हुए हैं और उनमें गेटे, शिलर, कैंट, हेगेल, मार्क्स, विक्टर ह्यूगो, पुश्किन आदि बहुत से बड़े-बड़े लेखक हुए हैं, पर उन भाषाओं का भारतवर्ष में प्रचार नहीं के बराबर है। इसलिए जो लोग अंग्रेजी के प्रचार के सम्बन्ध में उस साहित्य की उत्तमता के तर्क को पेश करते हैं, वे थोथी बात करते हैं इसमें सन्देह नहीं।

किसी भाषा का विदेशों में प्रचार केवल साहित्य की उत्तमता के कारण ही होता हो ऐसी बात नहीं। कम से-कम इतिहास का कोई भी विद्यार्थी जानता है कि अंग्रेजी का प्रचार भारतवष मे इस रूप मे नहीं हुआ। अंग्रेजी साम्राज्य स्थापित होने के पहले शेक्सपियर का जन्म तथा उदय हो चुका था पर इस कारण यहा कौन अंग्रेजी सीखता था। यदि कहा जाय कि उन युगो मे यातायात का साधन सुलभ नही था, और प्रत्येक देश बहुत-कुछ आत्मः समाहित-सा रहता था, तो यह पूछा जा सकता है कि वतमान समय मे अंग्रेजी के अतिरिक्त कम-से-कम फ्रच तथा जमन साहित्य बहुत उच्चकोटि का है, पर इस कारण उनका प्रचार भारतवष मे कितना है ? यहाँ एक हजार अंग्रेजीदाँ पर एक फ्रेंच या जमन जानने वाला मिलेगा या नहीं इसमे सन्देह है। यह स्पष्ट है कि साहित्य की उत्तमता वाला तक केवल बाद का एक तक है।

हम भाषाओ के प्रचार के प्रश्न पर विचार करते हुए कई अन्य कारणो पर पहुँचते है। एक तो भाषा का प्रचार राज्य-विस्तार के द्वारा होता है। विजेता जाति अपने झडे के साथ साथ अपनी भाषा को भी ले जाती है। अन्य देशो की बात जाने दी जाय, भारतवष मे अंग्रजी के पहले जो फारसी का रिवाज था, वह शेखसादी, हाफिज उमर खयाम, आदि के कारण नही बल्कि उन विदेशी विजेताओ के कारण था जिनकी या तो फारसी मातृ भाषा थी, या जिन्होने फारसी को मातृ-भाषा की मर्यादा दे रखी थी। अंग्रेजी के पहले फारसी इसी कारण से राज्य-भाषा थी।

जैसे अंग्रेजी के क्षेत्र में शेक्सपीयर आदि को उसने भारत मे प्रचार का कारण कहना गलत होगा, उसी प्रकार फारसी के भारत मे प्रचार के लिए शेखसादी आदि का नाम लेना गलत होगा। साहित्य की उत्तमता की दृष्टि से देखा जाय तो सस्कृत का ईरान मे प्रचार होना चाहिए था न कि भारत मे फारसी का।

अंग्रेजी एक विश्व-भाषा हो गई, इसका कारण अंग्रेजो का विराट साम्राज्य है। अंग्रेजो ने तो कई नये देशो की भाषा ही अंग्रेजी बना दी। ऐसे देशो में अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, कैनेडा, दक्षिण अफ्रीका आदि है। क्या कोई कह सकता है कि यदि अंग्रेज जाकर इन देशो को जीतकर उनके प्राचीन अधि-वासियो को मारकर या सम्पूण रूप से दबाकर अपने देश के लोगो को उन देशो मे ले जाकर बसा न देते, तो देशो मे अंग्रेजी का प्रचार होता ? उसी प्रकार यदि भारत, मलाया द्वीप, बर्मा, अफ्रीका आदि देशो मे ब्रिटेन का साम्राज्य न होता, तो क्या इन देशो में इतने अंग्रेजीदाँ होते ? स्पष्ट है कि न होता।

भाषा के प्रचार का एक कारण धार्मिक भी हो सकता है। अरब के बाहर अरबी का जितना भी प्रचार है, वह सब अधिकांश रूप से धार्मिक कारण से ही है। हो सकता है कि अरबी-साहित्य अपने ढंग से ऐश्वर्यशाली हो, पर यह कहना कि वह इसी कारण प्रचारित हुआ है तथ्य से बिलकुल दूर होगा। मुसलमान जिन-जिन देशों में गये या मुसलमानी जिन-जिन देशों में गई उन-उन देशों में अरबी का पठन-पाठन भी हो गया। अंग्रेजी के क्षेत्र में यह कारण एक हद तक ही क्रियाशील रहा। जो लोग ईसाई बने, उनमें से बहुतेरे गोरे मिशनरियों या मिशनों के जरिये से ईसाई बने, इस कारण राज-भाषा के अतिरिक्त धार्मिक रूप से भी उनमें अंग्रेजी की कुछ भक्ति पैदा हुई। पर यह कारण बहुत ही गौण रहा।

ऊपर जो कुछ लिखा गया उससे स्पष्ट है कि अंग्रेजी न तो यहाँ साहित्य की उत्तमता के कारण आई और न वह इस कारण रह सकती है। जब से अंग्रेज भारतवर्ष में आये, तब से भारतवर्ष की प्रतिभा का एक बड़ा अंश उसी के जरिये विकसित हुआ। कितने ही ऐसे व्यक्ति, जो कदाचित् अपनी मातृ-भाषा के साहित्य को अपनी रचनाओं से अलंकृत करते, अंग्रेजी को अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में अपनाने के लिए बाध्य हुए। इन रचनाओं से अंग्रेजी साहित्य समृद्ध हुआ, पर उसी हद तक देशी भाषाओं का नुकसान हुआ। अरविन्द घोष, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ, सरोजिनी, राधाकृष्ण, जवाहरलाल, महात्माजी, राजेन्द्र बाबू, मुल्कराज आनन्द आदि कितने ही भारत के लालों ने अंग्रेजी में लिखा और उसके साहित्य को समृद्ध किया। सर्वकाल के लिए यह साहित्य अंग्रेजी का हो गया। मजे की बात यह है कि आज किसी भी भारतीय भाषा में भारतीय दर्शन का उतना विस्तृत तथा प्रामाणिक इतिहास मौजूद नहीं है, जितना अंग्रेजी में है और अंग्रेजी में एक नहीं कई प्रामाणिक इतिहास हैं।

हिन्दी, बँगला आदि साहित्य के कई टैकनिकल अंग बिलकुल नहीं के बराबर हैं, पर भारतीय लेखकों के द्वारा लिखी हुई इस सम्बन्ध की अंग्रेजी पुस्तकों को ही लिया जाय, तो ज्ञात होगा कि अंग्रेजी साहित्य बहुत ऐश्वर्यशाली है। यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि यदि मातृ-भाषाओं को उन्नत करके उन्हें जगत् की समृद्ध भाषाओं के साथ एक पंक्ति में लाना है, तो भविष्य में भारतीय प्रतिभा के इस रोड़े को रोकना पड़ेगा।

जब रोड़े की बात चल पड़ी तो हम केवल पुस्तकों तक ही अपने को सीमित नहीं रख सकते। अंग्रेजी समाचार-पत्रों, दैनिकों, साप्ताहिकों एवं

मासिकों के रूप में हमारी बहुत-सी प्रतिभा मातृ-भाषा के क्षेत्र के बाहर खर्च हो रही है। उसे रोकना ही पड़ेगा। यदि साधारण तौर पर कहा जाय तो यह मानना ही पड़ेगा कि देशी भाषा के पत्र अंग्रेजी पत्रों के मुकाबले में निकृष्ट होते हैं। उनका सम्पादन, उनके लेख, और बहुत से क्षेत्रों में तो उनकी समाचार सर्विस अंग्रेजी पत्रों से निकृष्ट होती है। इसलिए लोग उन्हें पढ़ते कम हैं। इसलिए वे बिकते कम हैं और उनकी उन्नति नहीं हो पाती। अंग्रेजी पत्रों के सम्पादकों तथा लेखकों को हिन्दी बँगला आदि पत्रों के लेखकों से पारिश्रमिक मिलता है, इसी कारण वे अच्छे लेख भी लिख सकते हैं। आजकल का युग याने प्रामाणिक ग्रंथों को देखकर, उनकी सहायता लेकर तब कुछ कहने का या लिखने का युग है। केवल दिमाग से तथ्यपूर्ण लेख नहीं निकल सकते।

अच्छा लिखने के लिए यह जरूरी है कि लेखक हर समय न लिखे। उसे अवसर तथा सुयोग हो, जिससे वह आलोच्य विषय के सम्बन्ध में ताजी-से-ताजी जानकारी प्राप्त कर सके, नहीं तो उसका लेख घटिया दर्जे का होने के लिए बाध्य है। केवल सुललित वाक्य-विन्यास से तथ्यों की दरिद्रता तथा जानकारी की कमी छिपाई नहीं जा सकती और यदि किसी कारण से छिपाई जा भी सके, तो वह लेख निकृष्ट होगा, पर पैसे कम मिलने के कारण देशी भाषाओं के लेखकों को यह सुविधा नहीं होती कि वे अपने विषय पर पुस्तकें खरीद सकें। इसलिए देशी भाषाओं की द्रुत उन्नति के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि कम-से-कम अंग्रेजी दैनिकों को बन्द कर दिया जाय। यह कहा जा सकता है कि इस सुधार का आर्डिनेन्स बनाना व्यक्ति की स्वाधीनता पर आघात करना है; पर यह बात नहीं है। अंग्रेजी यहाँ कृत्रिम रूप से ही आई है। यह सत्य है कि इस साहित्य के संस्पर्श में आने के कारण प्रारम्भ में देशी भाषाओं को बड़ी उत्तेजना मिली, और तभी से देशी भाषा में आधुनिक साहित्य का उदय हुआ, पर इस रूप में अंग्रेजी ने देशी भाषाओं को जितना फायदा पहुँचाया, उससे कहीं अधिक क्षति भारतीय लेखकों के अंग्रेजी को माध्यम बनाने के कारण हुई। अब समय आ गया है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ-साथ कम-से-कम ४० साल के लिए भारत में अंग्रेजी दैनिकों को एक मियाद दी जाय जिसके अन्दर यदि वे चाहें तो अपने को देशी भाषा के पत्र में परिणत कर दें, उसके बाद उन्हें बन्द कर दिया जाय। स्वतन्त्र जाति के सदस्य के लिए यह लज्जा की बात है कि वह सबेरे उठकर एक विदेशी, विशेषकर उस भाषा के जरिये से अपने देश की खबर जाने, जो अब तक जबर्दस्ती यहाँ की राजभाषा बनी हुई थी। इस लज्जा का दूरीकरण अत्यन्त आवश्यक है।

यह हम मानते हैं कि अंग्रेजी भले ही यहाँ जबर्दस्ती आई हो और एक विदेशी शासन की जबर्दस्ती के कारण ही हमें कई पुश्त से अंग्रेजी सीखनी पड़ी हो, पर अब चूँकि उसका पठन-पाठन यहाँ बहुत दिनों से होता रहा है, इस कारण उसका पठन-पाठन एक हद तक आसान भी हो गया है। साथ ही चूँकि अंग्रेजी जगत् के साथ हमारे लेन-देन की भाषा है, इस कारण उसे हम बिलकुल त्याग नहीं सकते हैं, और न इसमें हित है कि हम सम्पूर्ण रूप से त्यागें। पर इसके लिए कतई आवश्यक नहीं है कि हम उसे देशी भाषा के दैनिकों का गला घोटकर अंग्रेजी दैनिक निकाले जायँ। हम दूसरे देश की बातों को जानने के लिए अंग्रेजी की सहायता बराबर लेते रहें। अंग्रेजी साहित्य, साप्ताहिक, मासिक, दैनिक मँगायें, अपनी बात दुनिया को कहने के लिए अंग्रेजी में साप्ताहिक और मासिक आदि निकालें, यह ठीक है। इस सम्बन्ध में हमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं ज्ञात होती।

पर इसके साथ ही अब एक बात और कहने की जरूरत है वह यह कि क्या स्वतन्त्र हो जाने के बाद यह हमारी मर्यादा के विरुद्ध न होगा कि हम अंग्रेजी के ही चश्मे के जरिये से सारी दुनिया को देखें। पच्चीस, तीस साल पहले ही श्री विनयकुमार सरकार ने इस प्रश्न को भारतीय विद्वत्-समाज के सामने रखा था। श्री सरकार स्वयं इस विषय के आदर्श थे। उन्होंने रोम में रहते समय इटालियन में फ्रांस में फ्रेंच में, और जर्मनी तथा आस्ट्रिया में जर्मन में भारत की संस्कृति पर व्याख्यान दिये। उनका कहना था और यह ठीक है कि किसी भी जाति के लेखक कितने भी निष्पक्ष बनें, वे एक ऐसे दृष्टिकोण का प्रतिपादन करेंगे ही जो उस जाति के लिए ही विशेष है। इसलिए उनके मतानुसार उचित यह था कि हमारे यहाँ के नौजवान अंग्रेजी के अतिरिक्त दूसरी-दूसरी भाषाओं को सीखें, और उनके जरिये जगत् को देखें।

इसमें सन्देह नहीं कि जो हजारों लोग आज अंग्रेजीदाँ हैं वे अंग्रेजी के माध्यम से ही जगत् को देखने के अभ्यस्त हैं और देखेंगे, पर हमारे नौजवानों को चाहिए कि वे अंग्रेजी के अतिरिक्त जगत् की दूसरी मुख्य तथा अमुख्य भाषाओं को भी सीखें। इस प्रकार जब हम सभी जातियों के दृष्टिकोण से जगत् को देखेंगे तभी हमें जगत् के सम्बन्ध में सही ज्ञान प्राप्त होगा। मैं समझता हूँ कि जब स्वतन्त्र भारत के स्वतन्त्र विश्वविद्यालयों का पाठ्य-क्रम तैयार किया जायगा, तो उसमें प्रारम्भिक श्रेणियों में तो मातृ-भाषा के अतिरिक्त किसी भी भाषा को स्थान न दिया जायगा। भाषा-शिक्षण-विशेषज्ञों के मतानुसार भी जब एक छात्र किसी एक भाषा को तुलनात्मक रूप से अच्छी तरह सीख

लेता है, तभी उसे दूसरी भाषा शुरू करानी चाहिए, तब वह उसे जल्दी सीखेगा। हमारे यहाँ यह जो प्रथा है कि बचपन से ही दो तीन भाषाओं को एक साथ शुरू कराया जाता है, यह भाषा शिक्षा की दृष्टि से बिलकुल गलत है। इसी शिक्षा का नतीजा यह है कि लोग एक भी भाषा को पुख्तगी के साथ नहीं सीख पाते।

जब आगे बढ़े हुए छात्र को कोई विदेशी भाषा सिखाई जाय जैसे अंग्रेजी, तो मेरी राय यह है कि प्रत्येक छात्र को एक ही भाषा—अंग्रेजी—सीखने के लिए बाध्य न किया जाय। प्रत्येक उच्च शिक्षा देने वाली संस्था में इस बात की व्यवस्था होनी चाहिए कि छात्र चाहे तो अँग्रेजी सीखे, चाहे फ्रेंच, जर्मन, रूसी स्पेनिश, या इस प्रकार की कोई विश्व-भाषा सीखे। शुरू-शुरू में तो छात्रों को फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश, रूसी भाषा सीखनें के लिए प्रोत्साहन के निमित्त विशेष पुरस्कारों की व्यवस्था की जाय। हम अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त हो चुके पर हमें अंग्रेजी की गुलामी से भी मुक्त होना है।

पर अंग्रेजी से मुक्ति अंग्रेजी छोड़कर संस्कृत, फारसी, अरबी या भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं को सीखने से न होगी। अंग्रेजी को छोड़कर हमें उसकी जगह पर ऐसी भाषा सीखनी पड़ेगी जो उसके अभाव की पूर्ति कर सके। कहना न होगा कि फारसी आदि भाषाएँ उस अभाव की पूर्ति नहीं कर सकतीं क्योंकि वे तो हमारी हिन्दी-बँगला आदि भाषा से भी पिछड़ी हुई हैं।

इससे हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि लोग इन भाषाओं का पठन-पाठन छोड़ दें। बल्कि हम तो यह चाहते हैं कि एशिया की इन भाषाओं का पहले से अधिक व्यापक रूप में शिक्षण होना चाहिए, क्योंकि हमें एशिया के अन्य देशों से मित्रता करनी है और जहाँ भी जो प्रगतिशील ताकत है, उसे सहायता पहुँचानी है। हमें अपने पड़ोसियों को और भी व्यापक रूप से तथा गहराई के साथ समझना चाहिए। हमें निरन्तर उनके साहित्य से सम्बन्ध बनाये रखना चाहिए। प्रत्येक हिन्दी-बँगला-दैनिक पत्र के दफ्तर में ऐसे व्यक्ति होने चाहिए जो नियमित रूप से चीनी, जापानी, ईरानी, अरबी आदि रेडियो को सुनें, वहाँ की राजनीति की अन्तर्धाराओं को समझें, वहाँ के साहित्य के उद्यान से पुष्प तथा विचार चुनकर हमारे साहित्य को समृद्ध करें। एक बड़ी जाति बनने के लिये हमें इन बातों को करना ही है, नहीं तो स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं होगा।

हम यह भी चाहते है कि पहले से अधिक व्यापक रूप में लोग संस्कृत का पठन-पाठन करें, इसलिए नहीं कि वह देवभाषा है, इसलिए नहीं कि इसका

धार्मिक महत्त्व है, बल्कि इसलिए कि संस्कृत में ही हमारा प्राचीन इतिहास, साहित्य, कला और संस्कृति की जड़ें मौजूद हैं। हम आज भले ही उस संस्कृति को वर्तमान काल के उपयुक्त न समझें, और ऐसा समझना हमारे लिए स्वाभाविक ही है, पर अपनी जड़ों को जानने के लिए हमें पहले से अच्छी तरह संस्कृत का अध्ययन करना है।

अन्त में स्वतन्त्र भारत की भाषा, शिक्षा के सम्बन्ध में हमें यह बात स्पष्ट कर देना है कि जैसे आज लोग स्कूलों में संस्कृत, फारसी, अरबी सीखते हैं, उस प्रकार से हमें कोई भाषा नहीं सीखनी है। हम जिस भाषा को सीखेंगे उसे अच्छी तरह सीखेंगे ही नहीं जिसका हमारे कर्म-जीवन के साथ कोई अनिवार्य सम्बन्ध न हो। जिस भाषा का बाद के कर्म-जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता, उसके सीखने में जो भी कर्म-शक्ति लगाई गई, वह करीब व्यर्थ ही गई।

मैं पहले ही बता चुका हूँ कि प्रारम्भिक शिक्षा में मातृ-भाषा के अतिरिक्त किसी भाषा की शिक्षा आवश्यक नहीं, पर उच्च शिक्षा में बहुत दिनों तक हमें मातृ-भाषा के अतिरिक्त एक यूरोपीय भाषा, एक भारतीय भाषा तथा हो सके तो एक अन्य एशियायी भाषा सीखनी पड़ेगी। इसी से हम अपने देश को सफल तथा पूर्ण सम्पन्न बना सकेंगे।

१६

आँद्रे जिद

समसामयिक साहित्यिक विभूतियों में फ्रेंच लेखक आंद्रे जिद का स्थान बहुत ही अद्भुत था। मृत्यु के पहले कई सालों से ही उसकी वाणी मूक हो चुकी थी, फिर भी उनका साहित्य मरा नहीं था यह इसी बात से स्पष्ट है कि जब अभी-अभी उनका देहान्त हुआ, तो लेखकों ने अपनी सारी परिपाटी तोड़-कर उनके सम्बन्ध में उस लैटिन कहावत का सम्पूर्ण रूप से अनुसरण नहीं किया जिसमें यह कहा गया है कि 'मृत व्यक्ति के सम्बन्ध में अच्छाई के सिवा कुछ मत कहो।' फ्रेंच साम्यवादियों के मुख्य पत्र 'हयुमानिते' ने लिखा 'अभी-अभी एक लाश मरी है।' समसामयिक विख्यात लेखकों में एक वे ही प्रगतिवादी नहीं थे, इस कारण 'हयुमानिते' की यह बात समझ में आती है। जाँ पाल सार्त्र ने इसी वाक्य को उद्धृत करते हुए कहा कि इसी से ज्ञात होता है कि अस्सी साल के इस बूढ़े में जिसने क़रीब-करीब लिखना छोड़ दिया था कितना वज़न था।

इसमें सन्देह नहीं कि आंद्रे जिद ने अपने साहित्य से लोगों को अधिकतर नाराज ही किया, शायद ही किसी को खुश किया हो। उन्होंने किसी परम्परा, मतवाद, अनुशासन को यदि कभी माना तो अगले ही क्षण वे उसके विरुद्ध हो गए, कोई ऐसी बात कह दी जिससे उसकी जड़ ही कट गई। उनको साम्राज्य-वाद उपनिवेशवाद पसन्द नहीं थे, उनको उन्होंने धक्के पहुँचाये। फिर साम्यवाद को अपनाया, पर उसे धक्का मारकर अलग हो गए। उनके स्वभाव का यह परिणाम हुआ कि मरते समय वे कोई ऐसी प्रशंसक मंडली नहीं छोड़ गए जो यह कहे कि वह उनका अनुयायी है, क्योंकि उनके सारे साहित्य में से कोई सन्देश नहीं निकलता सिवा इसके कि मन में जो लहरें उठें, उन्हें किसी की यहाँ तक कि अपनी तथा अपने पहले के वक्तव्यों की परवाह बिना किये कहो। ऊपर से यह सन्देश भी जब कि प्रत्येक क्षेत्र में मतों का दमन एक आम बात है एक

अच्छा और सुन्दर सन्देश मालूम होता है, पर ऐसे व्यक्ति के साहित्य से जीवन को जीने के लिए कोई स्पष्ट संकेत या इंगित नहीं निकलता। वे मानो संशय और द्वन्द्व की प्रतिमूर्ति थे।

यदि यह बात देखी जाय कि आँद्रे जिद का जन्म १८६९ में हुआ था, जब हर बात को स्वीकार करने तथा मान लेने की परिपाटी थी, तो यह समझ में आयगा कि उनका मन संशय में क्यों बस गया। इंगलैंड में उस समय विक्टोरिया-युग चल रहा था, तो फ्रांस भी अभी एक ज्वालामुखी के सामने खड़ा था। १७८९ और उसके बाद नैपोलियन के युग तक फ्रांस ने खूब सोचा और दूसरों को सोचने के लिए बाध्य किया। पर फ्रैंको-प्रुसियन युद्ध के रूप में उसे एक धक्का मिलने ही वाला था, जो उसे तिलमिला देता। सच तो यह है कि अभी तक द्वितीय महायुद्ध में फ्रांस की द्रुत पराजय और अभी अटलैण्टिक पैक्ट और उसके तत्त्वावधान में जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण तक धक्कों का वह सिलसिला चला ही आ रहा है। आँद्रे जिद ने संशय उत्पन्न करके पहले के आत्मसन्तुष्ट वातावरण को फाड़कर फेंकने में सहायता दी यह तो अच्छा किया, पर फ्रांस को, यूरोप को, दुनिया को वे कोई रचनात्मक बात नहीं दे सके जिससे जीवन का उन्नयन होता, बल्कि उन्होंने उन्नयनकारी सिद्धान्तों तथा प्रयोगों में भी उसी प्रकार से संशय उत्पन्न किये जैसे उन्होंने सड़े-गले सिद्धान्तों में किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि उनका सारा साहित्य एक विराट् प्रश्न-चिह्न के रूप में हो गया। प्रश्न-चिह्न अपनी जगह पर अच्छा होता है। पर वह सर्वत्र काम तो नहीं दे सकता।

पर आँद्रे जिद के स्वभाव में यह आत्मविरोध, संशय और द्वंद्व शायद अन्तर्निहित थे, ऐसे द्वन्द्व जिनमें कभी समन्वय नहीं हुआ। जैसा कि एन्थनी कर्टिस ने लिखा है "जिद के जन्म के पहले ही इन असंगतियों का सूत्रपात होता है। उनके पिता फ्रांस के दक्षिण के प्रोटैस्टेंटपन्थी थे, और उनकी माता नर्माण्डी की कैथोलिक थीं। उनके कथनानुसार इन युध्यमान प्रभावों ने उन्हें एक "कथोपकथन के जीव" के रूप में उत्पन्न किया, जो हमेशा चेष्टित रहता था कि पूर्ण सत्य की प्राप्ति करे, पर उसके पास पहुँचकर घूम पड़ता था, जिसमें कर्म के उत्स के रूप में आवेग के बाद बुद्धि का संचरण होता था, जिसके लिए भविष्य भूत काल के मुकाबले में अनन्त रूप से अधिक महत्त्वपूर्ण है।" पर क्या केवल संशयों के बीज से भविष्य की सुनहली फसल उत्पन्न हो सकती है, प्रश्न तो यह है। संशय रचनात्मक हो सकते हैं, पर एक हद तक ही, याने वहाँ तक जहाँ तक कि वे रचना में बाधक शक्तियों को हटाकर

रचनात्मक शक्तियों को ढूँढ लेने में सहायक होते हैं।

मौरिस बारेस ने जिद के विरुद्ध एक बार यह अभियोग लगाया था कि वे 'देरासिने' याने जड़कटे हैं, उनकी कहीं जड़ नहीं है, इसके उत्तर में जिद ने कहा था "उजेस-निवासी पिता तथा नार्मन माता से पैरिस में उत्पन्न होने पर भी आप मुझसे यह आशा करते हैं कि मेरी किसी जगह जड़ होगी।" सचमुच ही जिद केवल भौगोलिक दृष्टि से ही नहीं सैद्धान्तिक दृष्टि से भी जड़कटे थे, उनकी कहीं जड़ नहीं थी। उनकी समसामयिक विभूतियों में शा और आनातोले फ्रांस परम्पराओं के विरुद्ध परम विद्रोही थे; व्यंग्य विद्रूप उनके मुख्य अस्त्र थे, पर उनके सम्बन्ध में य: नहीं कहा जा सकता कि सिद्धान्तों के क्षेत्र में वे बिलकुल जड़कटे थे। पर जिद के सम्बन्ध में यह कहना मुश्किल है कि उनकी कसौटी पर कोई चीज़ खरी भी उतरी। वहाँ तो हमेशा नेति-नेति ही रहा, और चूँकि उनकी इस नेति के फतवे में परस्पर विरुद्ध बातें, जैसे फ्रेंच औपनिवेशिकवाद और साथ-ही-साथ सोवियट समाजवाद आ गए, इसलिए इस वस्तु तथा विषय-निरपेक्ष संशयवाद से कुछ निकालना कठिन है। अर्थात् जो कुछ निकलता है, वही जिद का व्यक्तित्व है।

जिद कोई अच्छे छात्र नहीं थे। कहते हैं कि करीब-करीब हमेशा उनका स्थान अपनी श्रेणी में सबसे पीछे रहता था। कैसे इस प्रकार का यह बुरा छात्र बाद का इतना बड़ा विद्वान् और विचारक हुआ, इसकी व्याख्या इस प्रकार करने की चेष्टा की गई है कि उन पर किसी बाहरी बात का प्रभाव नहीं पड़ता था। जब तक तथा जहाँ तक वे अपने को उन्मुक्त करते थे तभी तक तथा वहीं तक उन पर किसी बात का प्रभाव पड़ता था। उन पर जो कुछ लादा गया, उसे उन्होंने ग्रहण करने से इन्कार किया। उन पर भ्रमणों का बड़ा प्रभाव इस कारण पड़ा कि वे उन पर लादे नहीं गये थे। ऐसे ही दो भ्रमणों के कारण उन्होंने दो बार अपने समसामयिकों को बहुत भयंकर धक्का पहुँचाया, एक बार तो उन्होंने फ्रेंच साम्राज्यवादियों को तब धक्का पहुँचाया जब वे फ्रेंच कांगो भ्रमण से लौटकर आये थे, और दूसरी बार प्रगतिवादियों को धक्का दिया, जब वे रूस का भ्रमण करके लौटे।

इन्हीं कारणों से वे अपने युग के सबसे बड़े व्यक्तिवादी कहे गए हैं। उन्होने स्वयं भी 'सिलग्रानमेर' में कहा है––

"मेरा यह निश्चित मत है कि प्रत्येक प्राणी को इस जगह में एक हिस्सा अदा करना है––एक ऐसा हिस्सा जो केवल उसी का अपना है, और जो दूसरों के हिस्सों से विभिन्न है। इसलिए, एक साधारण नियम के अन्तर्गत अपने को

लाने की चेष्टा मेरी दृष्टि में एक धोखा-मात्र है, और मैं उसकी तुलना स्पिरिट या आत्मा के विरुद्ध एक पाप से करूँगा, जो कभी भी ऐसे कार्य को क्षमा नहीं करती जिसके कारण एक विशेष जीवन अपना पृथक् अपरिवर्तनीय निजत्व खो डालता है जो उसकी अपनी विशेषता है।"

मालूम होता है यह निजत्व ही उनकी सबसे बड़ी सम्पदा थी जिसे वे किसी भी हालत में खोना नहीं चाहते थे। इसकी उन्होंने हर हालत में रक्षा की, और जब उन्हें ऐसा लगा कि उनके अहंवादी निजत्व को आँच लग रही है, जैसा कि साम्यवाद या किसी समूहवाद में लगना अपरिहार्य था, तो उन्होंने उसे त्याग दिया।

जिद का प्रथम प्रकाशन 'आँद्रे वल्तर का रोजनामचा' के नाम से निकला। इसमें उन्होंने प्रथम यौवन के स्फुरण से मन में उठने वाले विचारों का वर्णन किया है। पर इस पुस्तक से उन्हें विशेष ख्याति नहीं मिली। उनकी प्रथम महत्त्वपूर्ण रचना, जिनसे वे साहित्यिक मानचित्र में आ गए थे, 'पृथ्वी के फल।' इस पुस्तक में उन्होंने उच्चवर्ग के एक फ्रेंचमैन की तरह इस मत का प्रतिपादन किया कि इन्द्रियानुभूति तथा उच्छ्वास ही सब कुछ है, नियमों का कोई अस्तित्व नहीं है, इन्द्रियानुभूतिलब्ध आनन्द ही परम सुख है। इस पुस्तक में वे प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजी संभावना की ओर इंगित करते हुए पाये जाते हैं।

उन्होंने 'इम्परालिस्त' या चरित्रहीन नामक पुस्तक में इसी परम्परा को कायम रखा। उन्होंने स्वयं इस पुस्तक की तुलना मरुभूमि में होने वाले उस सेब के साथ की, जिसके अन्दर तीखी राख होती है, और जो प्यासे आदमी के तलवे को जला देता है। इस प्रकार से इस पुस्तक की उपमा देने पर भी उनका कहना है कि सुनहले बालू पर फिर भी ये सब अपना निराला सौन्दर्य रखते हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण रूप से इन्द्रिय-सुख का प्रचार करते-करते जिद १९०७ में 'बहके हुए लड़के का गृहप्रत्यावर्तन' लेकर सामने आये जिसमें वे 'पृथ्वी के फल' मतवाद के सम्पूर्ण विरोधी के रूप में—एक भक्त ईसाई के रूप में आये। इन्द्रियसुखवाद से शायद वे अघा गए थे। पर वे नहीं मानते कि उन्होंने बिलकुल दिशा पलट दी। वे बोले, "मुझे इन रास्तों में होटलों को खोजना नहीं था, बल्कि भूख को ही खोजना था।"

कहना न होगा यह कथन वस्तुस्थिति पर रोशनी डालने के बजाय उसे शायद और जटिल बना देता है। मामूली आदमी को तो यही जँचेगा

कि किसी रास्ते को पकड़कर यात्रा करने में रास्ता साधन है, गन्तव्य स्थान या लक्ष्य ही प्रधान है, और ये होटल तथा यात्रा करते हुए जो भूख लगती है, वह तो कोई भी महत्त्व की बात नहीं है। पर नहीं, जो चिरकाल तक यात्री ही रहा है, जिसका कोई न लक्ष्य है, न गन्तव्य स्थान है, जिसे पथ में ही रह जाना है, जान-बूझकर कहीं पहुँचना नहीं है, उसके लिए पथ की चाहे कोई बात, यहाँ तक कि लगने वाली भूख महत्त्वपूर्ण हो सकती है।

रहा भूख को खोजना, सो यह भी आँद्रे जिद के ही उपयुक्त है, जो सारी जिन्दगी यही खोजते रहे कि वह कौन सी चीज है जिससे उनकी भूख मिटेगी। क्या इतने से ही निरवच्छिन्न व्यक्तिवाद की व्यर्थता सिद्ध नहीं होती? पर इस सिद्ध करने के लिए आँद्रे जिद की तरह एक महान् जीवन को प्रयोग करते हुए उसकी बलिवेदी पर चढ़ जाना जरूरी था।

उनकी बाद की रचनाओं में 'सिक्के बनाने वाले' नामक पुस्तक सबसे अधिक सफल रही। यों तो उनकी बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इस पुस्तक को कुछ आलोचकों ने वर्तमान युग का सबसे महान् उपन्यास बताया है। इसमें सन्देह नहीं कि फ्रेंच साहित्य पर जिद ने अमिट छाप छोड़ी, और यद्यपि ऐसे व्यक्ति की शिष्य-परम्परा की कोई बात नहीं उठती, फिर भी यह माना जाता है वर्तमान युग के सबसे ख्याति-प्राप्त लेखकगण — जैसे सार्त्र, कामिस तथा सैलिन पर उनका बड़ा प्रभाव है। यद्यपि जिद किसी दार्शनिक मतवाद के प्रतिपादक नहीं थे, पर उनकी रचनाओं को पढ़ने से यह ज्ञात हो जाता है कि वाद को जिस एक्सिस्टैन्सियलिज्म को लेकर सार्त्र चले वह कोई नई उपज नहीं, बल्कि जिद भी उसके पास ही थे।

आँद्रे जिद के विद्रोह का मजाक उड़ाते हुए यह कहा गया है कि वे फ्लैनैल के तीन वैस्टकोटों से सुरक्षित होकर बहुत खतरनाक जीवन व्यतीत करते थे। इसमें सन्देह नहीं कि वे कोई कर्मवीर नहीं थे। उनके सम्बन्ध में ऐसा दावा भी कोई नहीं करता। पर वे विचारों में भी किसी ऐसे सामयिक नतीजे पर नहीं पहुँचे जिसे दिखाकर वे कह सकते कि आओ लोगो इस पर चलो। वे तो कभी किसी बात पर टिके ही नहीं। इसके लिए सार्त्र ने उनके साहस की दाद दी। उनका कहना है "जब ऐसा करना खतरनाक था, तब उन्होंने सोवियट रूस का पक्ष लिया, और जब इस मत से सार्वजनिक रूप से पीछे लौटने के लिए इससे भी अधिक साहस की आवश्यकता थी, तो वे गलत या सही तौर पर इस निर्णय पर पहुँचे कि उन्होंने गलती की थी।" कहना होगा कि साहस के लिए, यहाँ तक कि लोगों को धक्का पहुँचाने के लिए साहस का कोई अर्थ

ही नहीं होता, यदि गलत साहस दिखलाया गया तो वह कायरता के मुकाबले में कोई वरणीय गुण नहीं कहला सकता। अतएव केवल साहस की दुहाई देकर किसी लेखक की प्रशंसा करना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं जँचता। पर एक तो इसके सिवा आँद्रे जिद के सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव नहीं था, दूसरा इससे सार्त्र को समझना भी आसान हो जाता है।

उनकी अन्य रचनाओं में 'पास्टोरल सिम्फनी' उल्लेखनीय हैं। इसमें धर्म और जीवन में संघर्ष दिखाया गया है। 'वैटिकन की गुफाएँ' नामक पुस्तक म भी यही विषय लिया गया है, पर इसमें उस संघर्ष को और भी विस्तृत रूप से दिखाया गया है। स्मरण रहे कि आँद्रे जिद अन्त तक निरीश्वरवादी हो गए थे। इस कारण साम्यवाद-विरोधी हो जाने पर भी साथ ही निरीश्वरवादी होने के कारण प्रगतिविरोधी गुट उन्हें पूर्ण रूप से अपना नहीं सका। रूस के विरुद्ध उनके लेख को 'दि गाड दैट फेलड' में लाखों की संख्या में पुनर्मुद्रित किया गया, पर उनके धर्म में संशय और अनास्था उत्पन्न करने वाली रचनाओं को महत्त्व नहीं दिया गया।

उनकी सबसे अच्छी रचनाओं में 'जर्नल्स' भी है जिसकी तुलना उसके अंग्रेजी अनुवादक जस्टिन और ब्रियेल ने गैटे के 'एकैरमैन से बातचीत' तथा मोंतेन्यि की 'लेखमाला' से की गई है। यह पुस्तक भी विचार-प्रधान है, पर यथेष्ट ऊहापोह के बावजूद इससे कोई मन्तव्य निकालना कठिन है। ऐसा मालूम होता है विभिन्न रूपों में आँद्रे जिद ही बोल रहे हैं। जैसा कि किसी ने इसके सम्बन्ध में कहा है जितना ही वे अन्तरंग ज्ञात होते हैं, और जितना ही पास वे मालूम होते हैं, वे उतने ही दूर हैं। ऊपर से तो मालूम होता है कि दिल खोलकर गूढ़तम बातें बता रहे हैं, पर सोचने पर मालूम होता है, वे अपने को छिपा रहे हैं। यह धोखा इस कारण होता है कि इस व्यक्ति का कोई अन्तरंग है ही नहीं। जैसे एक नदी की जल-राशि बराबर बदल रही है, वैसे ही जिद का हाल है। उनके लिखने का एक ही कारण मालूम देता है, वह यह कि वे चुपचाप बिना लिखे सोच नहीं पाते।

किसी विश्वास को लेकर न चलने पर भी उन्होंने इतना सुन्दर गद्य लिखा, केवल यही नहीं उन्होंने अपने संशयवाद में समसामयिक यूरोपीय मध्यम वर्ग के मनोजगत् को ऐसी सफलता के साथ चित्रित किया कि उन्हें नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ था। सार्त्र आंद्रे जिद की परम्परा को वर्तमान युग में चला रहे हैं, ऐसा कहना शायद पूर्ण सत्य न होगा क्योंकि व्यक्तिवादी की परम्परा ही बनी तो वह फिर व्यक्तिवादी कहाँ रहा। पर सार्त्र उनके सबसे

बड़े प्रशंसक हैं इसमें सन्देह नहीं और सार्त्रे की उनके सम्बन्ध में सबसे बड़ी प्रशंसा यह है कि वे आप अपने लिए आप सत्य बने। पर आँद्रे जिद के तरीके पर प्रश्न करते हुए इस लेख को समाप्त किया जाता है कि क्या प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए आप सत्य बन सकता है, और यदि थोड़ी देर के लिए मान लीजिये बन ही जाय तो क्या सत्य का वह अर्थ रहेगा जो आज है? क्या सत्य शब्द में ही यह अन्तर्निहित नहीं है कि वह केवल एक के लिए ही सत्य नहीं है?

२०

भारतीय संस्कृति

जिसको देखो, वही आज भारतीय संस्कृति की दुहाई देकर अधिकारपूर्वक बात करने में ज़रा भी नहीं हिचकिचाता ! सबसे मज़े की बात तो यह है कि भारतीय संस्कृति का नाम लेकर परस्पर विरुद्ध उपसंहार निकाले जाते हैं। यह प्रमाणित करने की चेष्टा की जाती है, मानो भारतीय संस्कृति की उत्पत्ति, धारा और विकास के नियम अन्य संस्कृतियों के विकास के नियमों से पृथक् थे। इस सम्बन्ध में इतनी धाँधली मची हुई है, और इस धाँधली के साथ इतने बड़े-बड़े नाम संयुक्त हैं कि सहसा ऐसा मालूम होता है कि जो कुछ दावे किये जाते हैं, वे अकाट्य होंगे। इसलिए यह और भी आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति को विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखा जाय।

भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में जो सबसे गलत धारणा है, वह यह कि यह आर्यों की संस्कृति है। ऐतिहासिक कसौटी पर इस दावे को कसने पर कुछ और ही तथ्य ज्ञात होते हैं। जिस प्रकार हम भारतीय गण नस्ल की दृष्टि से विशुद्ध आर्य नहीं हैं, उसी प्रकार—और शायद उससे अधिक हद तक—कथित भारतीय संस्कृति आर्य-संस्कृति नहीं है। इस सम्बन्ध में विद्वानों में अच्छी गवेषणाएँ हुई है और अब हमें अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रागैतिहासिक सोपानों के सम्बन्ध में बहुत-कुछ मालूम हो चुका है। पर दुःख है कि इस सम्बन्ध में जो गवषणाएँ हुई हैं और जो ज्ञान उपलब्ध हुआ है, उनका साधारण जनता से 'ब्लैक आउट'-सा कर दिया गया है। इस सम्बन्ध में विद्वानों का एक षड्यन्त्र-सा मालूम होता है। जो बातें इस प्रसंग में ज्ञात हो चुकी हैं, वे बहुत ही अद्भुत हैं, और जिन लोगों ने भारतीय संस्कृति की जड़ों का गहराई के साथ अध्ययन नहीं किया है, उनको शायद ये उपसंहार बहुत ही आश्चर्यजनक—यहाँ तक कि सनसनी उत्पन्न करने वाले भी—ज्ञात हों !

यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है कि भारत में आर्यों के आगमन के पहले यहाँ कम-से-कम दो सभ्यताएँ मौजूद थीं, जो आर्यों से किसी भी प्रकार निम्न कोटि की नहीं थीं; बल्कि कई दृष्टियों से उससे उच्च कोटि की थीं। इन दो सभ्यताओं के नाम आस्ट्रिक और द्राविड़ हैं। आस्ट्रिक जाति ने कृषि-कार्य में बड़ी उन्नति की थी। वे व्रात्य या वद्दू अवस्था को पार करके बहुत पहले ही शालीन हो चुके थे। इस सम्बंध में शालीन शब्द द्रष्टव्य है। मनुष्य-जाति में सर्वत्र शाला या स्थायी घर में निवास करने के साथ ही शालीनता या सभ्यता को संयुक्त किया गया है। आस्ट्रिकगण कृषि के क्षेत्र में कई विषयों में युग-प्रवर्त्तक थे। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के शब्दों में "वे धान, पान, लौकी, बैंगन, नारियल आदि उत्पन्न करते थे। पहाड़ को काटकर वे धान के खेत तैयार करते थे; समतल भूमि को तो वे जोतते ही थे। पहले वे हल के लिए लकड़ी के पैने कुन्दों का व्यवहार करते थे। धनुष ही उनका प्रधान अस्त्र था। वे पेड़ के तने से बनी हुई डोंगियों का प्रयोग करते थे। कई तनों को एक साथ बाँधकर उनसे एक तरह की डोंगी बनाते थे। जिस पर वे बड़ी-बड़ी नदियों—यहाँ तक कि सागरों—को पार कर जाते थे।"

ऐहिक बातों में ही नहीं, कई अन्य बातों में भी वे आज के हिन्दुओं के गुरु थे। उनका विश्वास था कि मनुष्य में एक या एक से अधिक आत्माएँ होती हैं, जो मनुष्य की मृत्यु के बाद अन्य जीवों, तथा पेड़ों, पहाड़ों में प्रवेश कर जाती थीं। डॉक्टर सुनीतिकुमार ने बतलाया है कि बाद को चलकर यही धारणा हिन्दुओं में पुनर्जन्मवाद के रूप में उनके धर्म और दर्शन का सबसे प्रमुख अंग बन गई। कहना न होगा कि यह बात इसलिए और भी बड़ी हो जाती है कि भारत में आने वाले आर्यों में—यहाँ तक कि जब वे भारत में बहुत दिनों तक बस चुके थे, तब भी—जैसा कि ऋग्वेद से ज्ञात होता है—पुनर्जन्मवाद की धारणा की उत्पत्ति नहीं हुई थी। ऋग्वेद में, जो भारतीय आर्यों का सबसे प्रमुख और प्राचीन साहित्य है, जन्मान्तरवाद का कोई पता नहीं चलता। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि जन्मान्तरवाद ही भारतीय धार्मिक दर्शन और विचार-धारा की सबसे बड़ी विशेषता है। यहूदी, ईसाई और मुसलमान पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। उनके यहाँ तो क़यामत का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार क़यामत के दिन सब आत्माएँ उठेंगी। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि भारत के धार्मिक दर्शन की जो सबसे बड़ी विशेषता है, वह आर्यों से ली हुई नहीं है।

हिन्दुओं के धार्मिक जीवन का एक प्रधान अंग श्राद्ध भी है, जिसकी

अन्तर्निहित विचार-धारा यह है कि मृतकों को बीच-बीच में रसद पहुँचाई जाय। यह धारणा भी आस्ट्रिकों में मौजूद थी, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि केवल आस्ट्रिकों में ही यह विश्वास था। यह विश्वास तो कई प्राचीन जातियों में पाया जाता है, और यदि यह कहा जाय कि यह विश्वास करीब-करीब सार्वदेशिक था, तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। प्राचीन मिस्र-निवासियों में इस विचार का सबसे चित्रमय प्रदर्शन मिलता है, वहाँ मृतकों को गाड़ते समय उनके साथ दैनिक आवश्यकता की सब वस्तुओं के साथ-साथ खाने-पीने के द्रव्य भी गाड़ दिए जाते थे। ऊँचे घरानों के लोगों के साथ तो गुलाम तथा बीवियाँ भी गाड़ दी जाती थीं। अस्तु।

आस्ट्रिक जाति के लोग शायद सारे भारत में फैले हुए थे। सम्भव है, ईरान तक फैले हों। ऐसा अनुमान किया गया है कि भारतीय सभ्यता का सबसे बड़ा प्रतीक 'गंगा' आस्ट्रिक भाषा का शब्द है। स्मरण रहे कि ऋग्वेद में 'गंगा' का उल्लेख शायद कुल मिलाकर छै बार किया गया है, जब कि पंजाब की दूसरी नदियों के नामों का बार-बार उल्लेख हुआ है।

शायद आस्ट्रिकों के साथ नेग्रिटों का भी मिश्रण हुआ था। कुछ आस्ट्रिक शाखाएँ आर्यों के आगमन-काल तक अच्छी तरह सभ्य नहीं हो पाई थीं। ये ही असभ्य आस्ट्रिक संस्कृत-साहित्य में निषाद, भिल्ल, कोल्ल आदि नामों से उल्लिखित हैं। अनुसन्धान से पता लगा है कि आधुनिक कोल-जाति की विभिन्न शाखाएँ—जैसे सन्थाल, मुण्डा, हो, भूमिज, शबर-गदब, कुरकु, भील आदि—प्राचीन आस्ट्रिक जाति की ही सन्तानें हैं। जो आस्ट्रिक सभ्य थे और इस कारण जो आर्य-साम्राज्य के दायरे में आ गए, वे तो हिन्दू-समाज में बिलकुल खपा लिए गए। कैसे खपा लिए गए, यह एक बहुत ही गूढ़ प्रश्न है; पर यहाँ केवल इतना इंगित कर दिया जाय कि आर्यों की समाज-रचना में उन्हें निकृष्ट-तम स्थान दिया गया। आर्यगण भी उनके पहले के तथा बाद के विजेताओं की तरह थे, और उन्होंने विजितों के प्रति वही बर्ताव किया, जो विजेता विजित के साथ करते आए हैं। आर्यों की विजय का अर्थ निकृष्ट सभ्यता पर उत्कृष्ट सभ्यता की विजय नहीं थी; वरन् वह श्रेष्ठतर संगठन तथा सैनिक शक्ति के कारण ही हुई। रामायण, महाभारत आदि में वानरों, राक्षसों आदि की नगरियों का जो वर्णन आता है उससे भी इसी बात की पुष्टि होती है कि आर्येतर जातियों के सुन्दर-से-सुन्दर नगर बने हुए थे, और अन्य दृष्टियों से भी वे कुछ बुरे नहीं थे। लंका की राजधानी अयोध्या की राजधानी से किसी प्रकार निकृष्ट नहीं थी। राम ने रावण पर जो विजय पाई, वह श्रेष्ठ-

तर सैनिक-शक्ति के ही कारण हुई। अवश्य इसके साथ रामायणकार ने यह दिखलाया है कि अधर्म पर धर्म की विजय हुई। आर्यों की यह विजय अन्य विजेताओं की तरह ही एक विजय थी। हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में आर्य विजयों को अधर्म पर धर्म की विजय दिखलाया गया है; पर यह केवल आरोप-मात्र है।

अब इस दशा में हुई गवेषणा के बाद यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दुओं के धार्मिक अनुष्ठानों में जो नैवेद्य आदि में पान, हल्दी, सिन्दूर, केला, सुपारी, धान आदि का प्रयोग होता है, यह आस्ट्रिक प्रभाव का ही फल है।

द्राविड़ों के सम्बन्ध में यह ज्ञात होता है कि वे तथा उनकी नस्ल वाले एशियायी कोचक, ईराक, ईरान तक फैले हुए थे। ये लोग आस्ट्रिकों से अधिक सुसंगठित थे, और उनकी सभ्यता में नगर की प्रधानता थी। बहुत से विद्वानों का अनुमान है कि मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता आदिम द्रविड़ों की ही सभ्यता थी। अभी इन सभ्यताओं के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त नहीं हुई है; पर जितना भी मालूम हो सका है, उससे इतना तो पता लग ही जाता है कि इन दोनों स्थानों की सभ्यता वैदिक आर्यों की सभ्यता से किसी भी क्षेत्र में निकृष्ट नहीं थी। नगर-निवासी होने के साथ-ही-साथ ये खेती से परिचित थे, और ऐसा अनुमान किया गया है कि यही लोग बाहर से जौ और गेहूँ ले आए। द्राविड़ और आस्ट्रिक जातियों के लोग पड़ोसी के रूप में रहते थे। छोटा नागपुर में इसका एक उदाहरण अब भी मिलता है। वहाँ द्राविड़ जाति के ओराँव और आस्ट्रिक-जाति के मुण्डा अब भी एक साथ पाए जाते हैं। तामिलनाड में द्राविड़ जाति की सभ्यता बहुत दिनों तक विशुद्ध रूप में मौजूद रही। उत्तर भारत में तो आर्य, द्रविड़ तथा आस्ट्रिक जातियों की सभ्यताएँ बहुत जल्दी एकरूप हो गईं, और जिसे हम भारतीय सभ्यता या संस्कृति कहते हैं, वह इन तीन जातियों की संस्कृतियों के मिश्रण से ही बनी है।

यह बहुत ही मार्के की बात है कि शिव और उमा, विष्णु और श्री आदि हिन्दुओं के मुख्य देवता द्रविड़ लोगों से ही लिये गए हैं। अवश्य Syncretism या आदान-प्रदान की प्रक्रिया के अनुसार कोई भी देवता कहीं से विशुद्ध रूप में नहीं आया। एक देवता में आकर कई देवता शामिल हो गए और इस प्रकार हिन्दुओं के देवता बने। स्मरण रहे कि वैदिक आर्य हिन्दुओं के वर्तमान देवताओं से सम्पूर्ण रूप से अपरिचित थे। वैदिक आर्य इन्द्र, वरुण, अग्नि; सूर्य, पर्जन्य, मरुत, ऊषा, वात आदि के पूजक थे। यद्यपि वैदिक आर्य

बहुदेववादी थे, फिर भी उनके देवताओं की संख्या बहुत सीमित थी। यहाँ पर मैं इस प्रश्न पर जाना नहीं चाहता कि ये वैदिक देवता कैसे थे और इनकी कैसे उत्पत्ति हुई, यद्यपि यह एक बहुत ही दिलचस्प विषय है। हमारे इस लेख के उद्देश्य के लिए इतना ही जानना यथेष्ट है कि हिन्दू अपनी सभ्यता तथा संस्कृति को कितनी भी आर्य समझें; पर कम-से-कम देवी-देवताओं के क्षेत्र में वे वैदिक आर्यों के उत्तराधिकारी नहीं हैं।

हम पहले ही इंगित कर चुके हैं कि वैदिक धर्म में पुनर्जन्मवाद का कोई पता नहीं है। फिर भी वैदिक आर्य जिस रूप में मृत्यु के बाद जीवन में विश्वास करते थे, उसका कुछ स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। वे यह तो विश्वास करते थे कि मृत्यु माने बिलकुल इति नहीं है, जैसा कि एक मन्त्र से (ऋक्, १०, १६, १-६) ज्ञात होता है। कई तरह के विचार एक साथ चलते थे। कोई सुनिश्चित विचार नहीं थे। जातवेद यानी अग्नि से यह कहा गया है कि वह मृतक को पितरों के पास भेज दे। फिर कहा गया है कि सूर्य उसकी आँख पावे, मरुत उसकी आत्मा को ग्रहण करे और जैसी उसकी अर्हता है, उसके अनुसार वह स्वर्ग या नरक को जाय। यदि उसके भाग्य में है, तो वह जल में जाय, वह जाकर अपने प्रत्यंगों के साथ पौधों में घर करे। पहले यह बता दिया जाय कि यह मन्त्र अपेक्षाकृत बाद के समय का मालूम होता है, फिर भी इसमें पुनर्जन्म का कहीं पता नहीं है। विण्टरनिट्ज़ के अनुसार ऋग्वेद में कोई १२ मन्त्र ऐसे हैं, जिन्हें दार्शनिक कहा जा सकता है। इन मन्त्रों में बाद के भारतीय दर्शन के कुछ विचार बीज-रूप में मिल सकते हैं। पर पुनर्जन्मवाद का—जो बाद के भारतीय दर्शन, इस कारण हिन्दू-सभ्यता और संस्कृति का मूलगत विशिष्ट विचार है—इनमें भी कहीं पता नहीं है।

बाद के भारतीय दर्शन मुक्ति की कामना से भरे पड़े हैं। पर वैदिक साहित्य में इस प्रकार के विचार का कहीं पता नहीं लगता। इसका कारण यह था कि वैदिक आर्य अपने इहलोक से सन्तुष्ट थे, इसी से वे परलोक और मोक्ष के पीछे भागते नहीं फिरते थे जैसा कि मैंने अपनी पुस्तक 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' में लिखा है—"वेदों का युग एक तरह से आत्म-तृप्ति का युग था। बात यह है कि अभी तक आर्यों को बराबर नई-नई ज़मीनें मिलती जा रही थीं, वृद्धिशील साम्राज्य के कारण आपसी वर्ग-संघर्ष बहुत-कुछ छिपा हुआ था। इसलिए उस युग में लोगों को मुक्ति या निर्वाण की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती थी। इन्द्र, वरुण, अर्यमा, भग, यम आदि जो थोड़े-से देवता थे, वे कोई बाहरी व्यक्ति नहीं थे। वे आर्यों के ही पूर्वपुरुष तथा उन्हीं

के वीर थे। आदिम वैदिक धर्म में आत्म-विलोप का कोई स्थान नहीं था। वह कुछ तो पितृ-पूजा और कुछ प्राकृतिक शक्तियों के विषय में अत्यन्त अल्प-ज्ञान या अज्ञान होने के कारण तिलिस्म में विश्वास का युग था। वैदिक धर्म के प्रथम युग में धर्म बिलकुल सरल था। देवताओं को जो सोम-पान कराया जाता था, या उनकी जो प्रार्थना की जाती थी, वह भी प्रथम युग में कट्टर अनुष्ठान के रूप में नहीं था; बल्कि जैसे हम वृद्ध अपाहिज पिता को खाना पहुँचाते हैं, वह कमो-बेश उसी रूप में था। सर जेम्स फ्रेजर ने धर्म की यह जो व्याख्या की है कि "धर्म से मैं मनुष्य के द्वारा ऐसी श्रेष्ठ शक्तियों की तुष्टि तथा अनुकूलता प्राप्त करना समझता हूँ, जिनके विषय में यह विश्वास किया जाता है कि वे मनुष्य-जीवन तथा प्रकृति की गति को नियमित और परिचालित करती हैं', यह कहाँ तक आदिम वैदिक धर्म पर लागू होती है, इसमें सन्देह है; क्योंकि वरुण, इन्द्र, यम, अर्यमा और भग निसन्देह श्रेष्ठ शक्तियाँ समझी जाती थीं, किन्तु उनकी यह श्रेष्ठता अभी तक उसी प्रकार की थी, जैसी पुत्र के सामने पिता या माता की होती या उससे अधिक, इसका निर्णय करने में हम असमर्थ हैं।"

मैं यहाँ इस विवाद में पड़ना नहीं चाहता कि वैदिक देवता प्रकृति की बड़ी शक्तियों के कल्पनात्मक मूर्त मानव-रूप थे, जैसा कि श्री जयचन्द्र विद्यालंकार तथा अन्य अनेक अध्यात्मवादी इतिहासकार मानते हैं, या वे आदिम वीरों तथा पूर्वपुरुषों के सूक्ष्मीकृत रूप-मात्र थे, जैसा कि मैं समझता हूँ। यहाँ इस विषय पर आलोचना की आवश्यकता नहीं कि इनमें से कौन सा मत सत्य के अधिक निकट है। पर इतना तो बिलकुल निश्चित है कि वैदिक देवताओं से जो प्रार्थनाएँ की जाती थीं, उनमें ऐहिक कामना ही दृष्टिगोचर होती है। बाद के स्तोत्रों की तरह उनमें मुक्ति की कोई प्रार्थना नहीं है। किस प्रकार देवताओं से कुछ माँगा जाता था, ऋग्वेद के एक मन्त्र (७।३५) में देखिए—
"इन्द्र और अग्नि हमें अपनी दया से सुख अर्पण करें। इसी प्रकार से इन्द्र और वरुण भी करें, जिनके लिए यह यज्ञ किया जा रहा है। इन्द्र और सोम हमें सुख, कल्याण तथा आशीर्वाद प्रदान करें। इन्द्र और पुषाण शत्रु से प्राप्त धन की प्राप्ति कराके हमें सुख दें। भग हमें सुख दें। धाता हमें सुख दें। पर्वत हम सुख दें इत्यादि।" इसी मन्त्र में अग्नि, मित्र, वरुण, अश्विनों तथा मरुतों से भी सुख ही माँगा जाता है। वीर की गरिमा का वर्णन करते हुए यह बताया गया है कि अपहृत गायों की बगल में वह बहुत सुन्दर मालूम होता है। ऋग्वेद (६, १६, ६) के इस मन्त्र को देखिए, जिसमें सोम की प्रशंसा की गई

है--"सोम अपनी पूर्ण गरिमा में ऐसे मालूम होते हैं, जैसे कोई वीर युद्ध के बाद अपहृत गायों को लिये हुए मालूम होता है।" इन्द्र कोउ लाहना देते हुए कहा जा रहा है (ऋग्वेद ८, १३, १+२)--"हे इन्द्र, यदि मैं तेरी तरह सब भली चीजों का प्रभु होता, तो मेरे भक्त को पशु-यूथों की कमी न होती। तब तो मैं उसे बहुत चीजें देता और उस ज्ञानी गायक पर आशीर्वाद की वर्षा करता। हाँ, यदि मैं तुम्हारी तरह शक्ति का आधार तथा पशुओं का स्वामी होता।" इसी प्रकार एक दूसरे मन्त्र में (ऋक् ८, १६, २५+२६) अग्नि तथा मित्र को कहा गया है कि यदि उनके भक्त गरीबी, अवहेला के शिकार हों तथा हानि उठायँ, तो यह बड़े आश्चर्य की बात है। बाद की प्रार्थनाओं तथा भजनों में जैसे इस प्रकार की बातें कही गई हैं कि भव-बन्धन को काट दो, जन्म-मरण के वृत्त से मुक्ति दिलाओ आदि का वैदिक प्रार्थनाओं में कहीं पता नहीं है। एक उदाहरण और देता हूँ। एक मन्त्र (ऋक् ५,८५) में यह कहा गया है कि यदि हमने ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध कुछ किया है, जो हमसे प्रेम करता है, या भाई, मित्र अथवा साथी को हानि पहुँचाई है, या पड़ोसी या अतिथि को कष्ट दिया है, तो हे वरुण, हमको इस दोष से मुक्त कर दो। यदि हमने जुए मे धोखा दिया है, जान-बूझकर या अनजान में इस प्रकार की कोई गलती की है, तो हमारे इन कुकृत्यों को वेड़ियों की तरह खोल दो और हमें अपना प्रिय बना लो।

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरणों से ऋग्वेद भरा पड़ा है। इस अर्थ में बहुत गम्भीरता के साथ यह कहा जा सकता है कि बाद की हिन्दू-सभ्यता या संस्कृति और वैदिक सभ्यता बिलकुल भिन्न है, और भिन्न इस कारण से है कि इन दोनों के विश्व को देखने के ढंग बिलकुल अलग हैं। केवल पूजित देवताओं की विभिन्नता के कारण ही नहीं, जो अवश्य एक बहुत बड़ा कारण है, बल्कि मौलिक रूप से विचारधारागत पार्थक्य के कारण यह कहा जा सकता है कि भले ही बाद का हिन्दू-धर्म या संस्कृति अपने पूर्वजों में वैदिक धर्म को गिना सके, पर उन दोनों में मौलिक करीब-करीब प्राणि-जातियों का अन्तर है। इस क्षेत्र में यह दावा नहीं किया जा सकता, जैसा कि प्राणि-जातियों के सम्बन्ध में दावा किया जा सकता है, कि जो चीज बाद को आई, वह पहले के मुकाबले में विकसित है। बल्कि इससे विपरीत ऐसा समझने का कारण है कि बाद को चलकर जो कुछ भी हुआ, अवश्य वह सामाजिक, आर्थिक कारणों से हुआ, वह वैदिक धर्म की विकृति और पतन था।

बाद की भारतीय संस्कृति और कुछ भी हो, आर्य-संस्कृति नहीं है--

अवश्य स्वाभाविक रूप से उसमें आर्यों का दान काफी है। आर्यगण विजितों पर यों तो सब-कुछ लादना चाहते होंगे। पर जिस चीज को वे सफलतापूर्वक लाद सके, वह थी उनकी भाषा। फिर भी विशेषज्ञों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि उत्तर भारत की आर्य-भाषाओं में—यहाँ तक कि बाद के युग की संस्कृत तथा प्राकृत में भी—द्राविड़ तथा आस्ट्रिक प्रभाव दृष्टिगोचर है। सुप्रसिद्ध भाषातत्त्वज्ञ श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का कथन है कि 'बँगला तथा अन्य आर्य-भाषाओं में ऐसी बहुत-सी रीतियाँ ह, जो वैदिक या अन्य आर्य-भाषाओं में नहीं मिलतीं; पर द्राविड़ और आस्ट्रिक भाषा में ये रीतियाँ मौजूद हैं। आर्यों के इसी भाषागत प्रभाव के कारण ही हमारे पूर्वजों को तथा हमें बहुत भ्रम रहा है कि हमारी संस्कृति वैदिक आर्य-संस्कृति है, जब कि इसके विपरीत परिस्थिति यह है कि एक भाषा के अतिरिक्त सभी क्षेत्रों में हमारी सभ्यता तथा संस्कृति अनार्य-संस्कृतियों से अधिक प्रभावित है।"

भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में एक और कुसंस्कार यह फैला है कि वह आध्यात्मिक है! पर ऐसी आध्यात्मिकता का मूल्य ही क्या, जिसकी छत्रछाया में पलकर आदमी बुजदिल हो जाता है, सैकड़ों वर्षों तक गुलाम रहता है तथा साहित्य, विज्ञान, कला आदि सभी दृष्टियों से दूसरों से सैकड़ों वर्ष पीछे रह जाता है? जो लोग यूरोप के इतिहास से स्वल्प भी परिचित हैं, वे यह जानते हैं कि वहाँ के लोग धर्म तथा चर्च को बहुत अधिक महत्त्व देते रहे हैं। अब भी चर्च का वहाँ कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, वह प्रत्येक जानकार व्यक्ति को पता है। रहा शंकर आदि की तरह आत्मवादी दर्शन का बोल-बाला, सो यूरोप में भी स्पीनोजा आदि उस तरह के बहुत-से दार्शनिक हो गए हैं। यूरोप की सभ्यता और संस्कृति भी उतनी ही अध्यात्मवादी रही, जितनी कि भारत की!

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशिष्ट संस्था वर्णाश्रम पर भी दो शब्द लिख देना जरूरी है। स्मरण रहे कि यह आश्रम-धर्म हिन्दुओं में किसी युग में भी नियमानुसार पालित नहीं होता था। मुख्यतया तब भी दो ही आश्रम थे—एक ब्रह्मचर्य अर्थात् छात्रावस्था और दूसरा गार्हस्थ्य। इसलिए आश्रम-धर्म के सम्बन्ध में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। अब रह जाता है वर्ण, सो इसके सम्बन्ध में भी हमें स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि रोटी के मामले में वर्ण इस समय बहुत-कुछ लुप्त हो चुका है, फिर भी बेटी अर्थात् विवाह में वर्ण अभी एक जीवित संस्था है। गीता में स्वयं भगवान् से यह कहलाया गया है कि उन्होंने ही चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की। वर्णों के फल-

स्वरूप हमारे यहाँ करीब ५ करोड़ व्यक्ति अस्पृश्य हैं ! इनके अतिरिक्त हमारी समाज-व्यवस्था इतनी उत्तम है कि कथित जरायमपेशा लोगों की संख्या भी दो करोड़ है ! इनके अलावा कोई डेढ़ करोड़ आदिवासी हैं, जो तरह-तरह के कारणों से करीब-करीब प्राक्-सभ्यता के युग में ही जीवित हैं ! सनातन धर्मी विद्वान् अब भी वर्णों का गुण-गान करते थकते नहीं। इस सम्बन्ध में डॉ० बी० आर० अम्बेदकर ने अपनी पुस्तक 'दि अनटचेबल्स' में लिखा है—"इन श्रेणियों का होना एक लज्जाजनक बात है। यदि इन सामाजिक नपजों की दृष्टि से हिन्द-सभ्यता को नापा जाय, तो उसे शायद ही कोई सभ्यता कहा जा सके।...मनुष्यता को दबाने तथा उसे गुलामी में रखने के लिए यह एक पैशाचिक पद्धति है। इस पद्धति का नाम कलुष या पाप रखा जाय, तो वह उचित होगा। एक सभ्यता, जिसने एक ऐसे समूह को उत्पन्न किया, जो अपराध द्वारा जीविका-निर्वाह को स्वाभाविक समझता है; एक दूसरी श्रेणी को उत्पन्न किया, जो सभ्यता के बीच में रहकर भी आदिम बर्बरता के युग में निवास करती हैं; और एक तीसरी श्रेणी को उत्पन्न किया, जिनके साथ मिलना-जुलना तो दूर रहा, जिनको छूने से ही मनुष्य अपवित्र हो जाता है, उस सभ्यता के सम्बन्ध में और क्या कहा जा सकता है ? किसी और देश में इस प्रकार की श्रेणियों के अस्तित्व से लोगों के मन में आत्म-परीक्षा तथा इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में खोज की प्रवृत्ति उत्पन्न होती; पर हिन्दू के मन में इस प्रकार की कोई भी बात नहीं उठी है। इसका कारण बहुत सरल है। हिन्दू यह नहीं समझता कि इन श्रेणियों का अस्तित्व लज्जा का विषय है, और वह इस बात की ज़िम्मेदारी महसूस नहीं करता कि वह उसके लिए प्रायश्चित्त करे, या कैसे इस पद्धति की उत्पत्ति हुई। इसके विपरीत प्रत्येक हिन्दू को इस बात की शिक्षा दी जाती है कि उसकी सभ्यता न केवल प्राचीनतम है, बल्कि बहुत से पहलुओं से अद्वितीय भी। कोई भी हिन्दू इन दावों की पुनरावृत्ति करते हुए थकता नहीं। हिन्दू-सभ्यता अत्यन्त प्राचीन है, इस बात को तो कोई समझ सकता है और उसे मान भी सकता है। पर यह समझना सरल नहीं है कि किन आधारों पर यह दावा किया जाता है कि हिन्दू-सभ्यता अद्वितीय है। हिन्दू चाहे इस बात को पसन्द न करें; पर जहाँ तक कि अहिन्दुओं की बात है, उनके इस दावे का केवल एक ही आधार हो सकता है, और वह है इन श्रेणियों का अस्तित्व, जिसके लिए हिन्दू सभ्यता ज़िम्मेदार है। किसी भी हिन्दू को यह बताने की जरूरत नहीं कि ऐसी श्रेणियों का अस्तित्व सचमुच अद्वितीय है। पर हिन्दुओं को यह समझना

चाहिए कि यह लज्जा का विषय है, न कि गर्व का।"

डॉ० अम्बेदकर ने वर्ण-व्यवस्था के बारे में जो-कुछ कहा है, उसके अलावा और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। केवल एक बात की तरफ और ध्यान दिलाना है कि डॉ० राधाकृष्णन्, डॉ० भगवानदास आदि विद्वान् यह कहते नहीं थकते कि हमारे धर्मशास्त्र बड़े ऊँचे दर्जे के हैं। मैं उड़ानों की बात नहीं करूँगा। इसमें सन्देह नहीं कि उड़ानें भरने में हमारे पूर्वपुरुष किसी से पीछे नहीं थे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' खूब चलता था; पर कानून तक में अलग-अलग जातियों के लिए अलग-अलग सज़ा का विधान इसी देश के धर्म में था। यदि ब्राह्मण शूद्रा के साथ बलात्कार करे, तो उसे कुछ-नहीं के बराबर सज़ा देने का विधान था; जब कि शूद्र ब्राह्मणी के साथ ऐसा करे, तो उसके लिए प्राण-दंड की व्यवस्था थी। यह तो क़ानून की बात हुई; पर व्यवहार में शायद शूद्र को तो हमेशा सज़ा मिलती थी और ब्राह्मण को कभी नहीं मिलती थी। यह थी हमारी आदर्श सभ्यता और संस्कृति! अब तक हमारी सभ्यता सामन्तवादी रही है, और उसमें भी वे सारी विशेषताएँ थीं, जो अन्य सामन्तवादी सभ्यताओं में पाई जाती हैं। फिर भी चतुर्वर्ण की जिस पद्धति का विकास हुआ, उससे बढ़कर सामाजिक दमन का यन्त्र शायद ही किसी देश में किसी भी समय रहा हो।

हमारी संस्कृति के सम्बन्ध में जो एक बात और बहुप्रचलित है, वह यह कि नारी का सम्मान यहाँ सबसे अधिक रहा। यूरोप में न मालूम कब से एक विवाह उचित और भद्र समझा जा रहा है; पर यहाँ अब भी धार्मिक रूप से बहुविवाह उचित है। अवश्य ढूँढ़ने पर 'जहाँ नारी पूजी जाती है, वहाँ देवता रमण करते हैं' आदि वाक्य शास्त्रों में मिलने पर भी व्यवहार में स्त्रियों की जो अवस्था है, वह किसी से छिपी नहीं। स्त्रियों को बहुत साधारण अधिकार दिलाते हुए 'हिन्दू कोड-बिल' के नाम से जो विधेयक संसद के सामने पेश था उस पर ही कितनी दिक्कत हुई थी!

अन्त में मैं यही कहूँगा कि भारतीय संस्कृति के बड़प्पन का भ्रम छोड़कर हम अपनी आँखें खोलें और जो बातें हमारे यहाँ अच्छी हैं, उनको रखते हुए बाकी बातों को त्याग दें। क्या अच्छी है और क्या बुरी, इसकी हमारे पास एक ही कसौटी है, और वह यह कि कौन सी बात जनता के लिए वास्तविक रूप से अच्छी है और कौन सी खराब। उस कसौटी पर सके जाने पर हम अपनी सभ्यता और संस्कृति की बहुत सी बातों को त्यागना पड़ेगा।

२१

सृष्टि-क्रम में मनुष्य का स्थान

समस्त धर्मों में यह एक बद्धमूल धारणा रही है कि मनुष्य सृष्टि-क्रम का मध्यबिन्दु है, अशरफुलमखलूकात है तथा समस्त सृष्टि-चक्र उसी के चारों ओर विवर्तित हो रहा है। सूर्य उसी के लिए तपता है, चन्द्र उसी के प्रेम को मधुर-तर अथवा विरह को अधिकतर दुःखमय बनाने के लिए आकाश के आँगन में नित नये प्रकार से अपनी नृत्य-छटा विकीर्ण करता है। तारों की आवश्यकता इसीलिए है कि मनुष्य जब रात्रि के एकान्त में आकाश की ओर दृष्टिपात करे तो कोई सुन्दर वस्तु उसकी आँखों को अभिनन्दित करे। जब सुदूरस्थित तारों को भी इस प्रकार घसीटकर मनुष्य जाति की कार्य-सिद्धि के लिए सोद्देश्य कहा गया है तो फिर कहना न होगा कि इस पृथ्वी के ऊपर की तथा आस-पास की सभी चीजें मनुष्य को इसी रंग में नज़र आती होंगी। सृष्टि के क्रम तथा गूढ़ रहस्यों से अनभिज्ञ व्यक्ति भी यह बता देगा कि अमुक वस्तु मनुष्य के अमुक उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनी है। सारांश यह है कि इस मत में सृष्टि की सभी चीजें मनुष्य के किसी-न-किसी प्रत्यक्ष या परोक्ष उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही बनी हैं। यह धारणा एक ओर तो जाकर इस ऊँचाई पर पहुँच गई है कि जो कुछ भी हो रहा है सब अच्छाई के लिए हो रहा है, दूसरी तरफ बिगड़कर इस नीच धारणा में परिवर्तित हो गई है कि जो कुछ भी बना है सब मनुष्य की वासना को तृप्ति के लिए ही है।

इसमें सन्देह नहीं कि यह धारणा समूचे मानव-समुदाय के लिए बड़ी प्रिय रही है। सब धर्मों ने परिश्रम से इस धारणा की जड़ में पानी देकर इसे सींचा है, और इसकी हरियाली कायम रखी है—"God made man to his own image and likeness." ईश्वर ने मनुष्य को अपनी ही शक्ल तथा सरूपता का बनाया। और तो और स्वयं ईश्वर अथवा उसकी विभूति पैगम्बर, प्राफेट या अवतार के रूप में इसी मनुष्य जाति में अवतीर्ण होता है।

भला जिस योनि मे ईश्वर स्वय अवतरित हो, उसका क्या कहना ? हिन्दू धारणा के अनुसार चौरासी लाख योनियो मे मनुष्य योनि ही सबमे श्रेष्ठ है। देवगण भी उसमे जन्म लेने के लिए तरसते है।

कवियो ने अपनी कल्पना का सारी पूजी लगाकर इस धारणा को पुष्ट किया है। दार्शनिको ने इस पर सत्य का मुलम्मा चढाया है। पैगम्बरो ने ईश्वर की ओर से इस पर हामी भरी है। होते होते इस धारणा ने जन-साधारण के मन में यहाँ तक घर कर लिया है कि अब वह अकाट्य, अच्छेद्य समझी जाने लगी है। भला किसकी मजल है कि इसे सन्दिग्ध दृष्टि से देख सके ?

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अर्नेस्ट हेकल ने इस धारणा को Anthropism की अभिधा दी है। इसको हिदी मे हम मनुष्यवाद कह सकते हैं, यानी वह वाद जिसमें मनुष्य ही सब सष्टि का मानदण्ड हो। इसके तीन भाग कहे गए है—

(क) मनुष्य केन्द्रवाद, यानी वह धारणा जिसमे मनुष्य सारी सृष्टि का मध्यविदु समझा जाता है Anthropocentrism

(ख) ईश्वर के ऊपर मनुष्य गुणारोपवाद, अर्थात् ईश्वर का मनुष्य का रूप धारण करना। इसमें ईश्वर के सम्बध मे ऐसी धारणा है कि वह मनुष्य के ही तरीके पर न केवल सब कामो को पूरा करता है बल्कि उसी तरह सोचता भी है। इस धारणा के अनुसार मनुष्य केवल ईश्वर का एक नहा सस्करण ठहरता है, Anthropomorphism

(ग) मनुष्यातिरञ्जनवाद अर्थात मनुष्य को उसके वस्तुगत अस्तित्व से बडा करके मानना। होते होते यह धारणा मनुष्य की अमरता के विश्वास तक पहुँच जाती है, Anthropolatrism

स्वाभाविक ही है कि इन धाराओ के साथ एक और धारणा भी अकाट्य रूप से सयुक्त है, वह धारणा यह है कि मनुष्य जसा अब है वैसा ही वह शुरू से है, उसम कोई उन्नति या क्रम विकास नही हुआ है। पुराणो के अनुसार तो मनुष्य-जाति दिन प्रतिदिन अधोगति की प्राप्त हो रही है, क्योकि पहले के मनुष्य हजारो वष जीने वाले, अमित बलशाली तथा अतुल प्रतिभासम्पन्न होते थे। सच बात तो यह है कि सब धर्मों का यह अविरल रुदन रहा है कि हम पहले स्वण-युग मे थे और अब बडी अवनत अवस्था में है।

जिस जमाने में मनुष्य का ज्ञान-विज्ञान और विश्वास अटकलपच्चू तथा परम्परा के शिकञ्जे में जकडा हुआ था, जिस युग में वस्तु सवस्व Objective) नाप-तोल की सुविधाएँ कम प्राप्त थी, जिस जमाने में आने-जाने की सहूलियतें

नहीं के बराबर थीं, उस जमाने में 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' मानकर मनुष्य को सृष्टि का केन्द्र-विन्दु, उद्देश्य तथा सर्वस्व मानना क्षम्य था, और कुछ हद तक शायद स्वाभाविक भी, परन्तु अब, जब कि विश्व के अन्तर्गत समस्त मैटर का वज़न कर लिया गया है, जब कि आकाश के कोने-कोने की खाक वैज्ञानिकों ने छान डाली है, जब कि वर्ण-विश्लेषक के द्वारा ग्रहों के उपादान तथा उनकी पारस्परिक दूरी का पता लगा लिया गया है, तब ऐसी धारणाओं के बहाव में बिना सोचे समझे बहते जाना क्या बुद्धिमानी कहला सकता है ? अब समय आ गया है जब हमें अपने चारों ओर आँख उठाकर देखना चाहिए।

जब हम रात के एकान्त में अगणित तारों से जटित नीले आकाश की ओर देखते हैं, तथा छायापथ की धवल व्योमगंगा के बहाव में अपने मन को खेते हैं, तो स्वभावतः मन में यह प्रश्न उठने लगता है कि यह जो असीम सृष्टि का सागर हमारे सम्मुख लहराता है, इसमें हमारा क्या स्थान है। सभी पूर्णांग मतवादों में तथा धर्मों में अपने-अपने ढंग से मानव-मन की इस स्वाभाविक जिज्ञासा की मीमांसा की गई है। इस मीमांसा को हम मतवाद का Weltanschauung या विश्व-दृष्टिकोण कह सकते हैं। मननशील मानव-मन की इस स्वाभाविक जिज्ञासा का फायदा उठाकर भूत काल में बड़ी-बड़ी धाँधलियों की सृष्टि हुई है। यहाँ तक कि धर्मवादियों का यह हमेशा से एक नाका रहा है।

हम यहाँ इन जटिल प्रश्नों पर, किसी मतवाद अथवा धर्म की दृष्टि से नहीं, बल्कि विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करेंगे, और देखेंगे कि इन धारणाओं से बना हुआ यह पुराना मोर्चा विज्ञान के लौह-प्रहार का कहाँ तक सामना कर सकता है।

विश्व की विशालता की पैमाइश के लिए कोई साधारण मानदण्ड यथेष्ठ न होगा। यदि हम विश्व की रामकहानी को मीलों के माध्यम से फिर भी समझने-समझाने का दुराग्रह करें तो हमें अंकों के बाद इतने शून्य लगाने पड़ेंगे कि उससे बात को समझ सकना तो दूर, और बुद्धि-भ्रम ही पैदा होगा। चाँद को हम रोज रात को देखते हैं, कवियों ने कविताओं के जरिए और दादी-नानी ने कहावतों के द्वारा इस चाँद को बिलकुल हमारे घर की चीज-सा बना दिया है। इसलिए पहले इसे लिया जाय।

चाँद पृथ्वी से बहुत ही करीब है। इसकी दूरी हमसे लगभग २५०००० मील है। सुलिवैन का कहना है कि यदि रेलगाड़ी ६० मील की रफ़्तार से फी घण्टा चले तो उसे यहाँ से चन्द्रलोक में पहुँचने में ६ महीने से ऊपर लगेंगे।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, चाँद बहुत निकट है, इसलिए इस गाड़ी वाली बात से शायद दूरी के समझने में कुछ सहायता मिले, किन्तु यदि दूर तक तारों की दूरी को हम इस गाड़ी से थाह लेना चाहें तो हमें बड़ी निराशा होगी। लाखों बरस में भी ऐसी गाड़ी उन तारों के पास भी नहीं फटक पायगी।

सूर्य हमारी पृथ्वी से ९ करोड़ ३० लाख मील की दूरी पर है। पृथ्वी इसी दूरी पर रहकर सूर्य की परिक्रमा करती रहती है, कभी दूरी इससे कुछ कम हो जाती है और कभी कुछ अधिक। हिसाब लगाकर देखा गया है कि यदि हम इस दूरी को इस पन्ने पर छपे हुए किसी नुक्ते से दिखायें, अर्थात् इञ्च का शतांश कर दिखायें तो इस पैमाने से आकाश की दूरतम वस्तु को हमें दस लाख मील से दिखाना पड़ेगा।

वैज्ञानिकों ने आकाश की पैमाइश करने के लिए एक मानदण्ड निश्चित किया है। वह मानदण्ड है रोशनी। सब गतिशील चीजों में रोशनी की गति सबसे अधिक है। तरह-तरह के प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि रोशनी की गति एक सेकेंड में १८६००० मील है। चाँद की दूरी हमारी पृथ्वी से लगभग डेढ़ सेकेंड ठहराई गई है, यानी चाँद से पृथ्वी तक रोशनी आने में लगभग डेढ़ सेकेंड लगता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह मानदण्ड बड़ा अच्छा है, किन्तु जब इससे हम दूरतम तारों की दूरी नापने की चेष्टा करते हैं तो हमें फिर उसी निराशा का सामना करना पड़ता है, यानी वही लाखों और करोड़ों से काम लेना पड़ता है। जे० डब्ल्यू० सैलिबैन इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"तो इस मानदण्ड से दूरतम ज्ञात नक्षत्र तक पहुँचने में कितना समय लगेगा इसका उत्तर हजार लाख साल है।"

पहले ही हम कह चुके हैं चाँद से पृथ्वी तक रोशनी डेढ़ सेकेंड में पहुँचती है। सूर्य से यह रोशनी हमारे यहाँ करीब आठ मिनट में आ पाती है, यानी सूर्य के आलोक को हमारे पास पहुँचने में ८ मिनट लगते हैं। सूर्य की दूरी पार्थिव मानदण्ड से देखें तो बहुत है, किन्तु दूरतम नक्षत्र की बात तो जाने दीजिये, निकटतम नक्षत्र की दूरी के मुकाबले में भी यह कुछ नहीं है। हमारे निकटतम नक्षत्र का नाम है अल्फा आफ दि सेंटर। यह हमसे चार साल की रोशनी की दूरी पर है। यानी सूर्य हमसे जितनी दूरी पर यह उससे २८०००० गुना दूरी पर है। सूर्य की दूरी हमसे इतनी ही होती तो सूर्य की ज्योति इस समय की ज्योति का ७८४००००००००० वाँ अंश होता। इससे पता चलता है कि हमारी पृथ्वी की कौन कहे, सूर्य की भी नक्षत्रों में कोई हैसियत नहीं है।

हमारे जाने हुए नक्षत्रों में एक नक्षत्र है जो सूर्य से २५० लाख गुना बड़ा है। जाने हुए नक्षत्रों में सबसे छोटा वैनमैनन का नक्षत्र है जो सूर्य के आकार का १०००००० वाँ भाग है।

केवल नक्षत्रों के आकार में ही विषमता हो ऐसी बात नहीं। उनके अन्दर की वस्तु के घनत्व में भी बड़ी विभिन्नता है। सर जे० एच० जीनस ने इस विषय को यों स्पष्ट किया है—

सूर्य में एक टन यानी २८ मन उपादान या मैटर करीब-करीब उतनी ही जगह घेरेगा, जितना कि एक टन कोयला हमारे यहाँ के कोयले के गोदामों में घेरता है, किन्तु नक्षत्र में उतना ही मैटर एक पूरी हथेली घेर लेगा। और वैनमैनन के नक्षत्र में वह एक मटर के बराबर ही स्थान घेरेगा, वैनमैनन के नक्षत्र में १०० टन मैटर अनायास ही एक जेबी नोटबुक में लादा जा सकेगा। वैनमैनन के नक्षत्र के मैटर के घनत्व के मुकाबले हमारी पृथ्वी मकड़ी के हल्के जाले-सी बनी हुई है।

यह तो हुई नक्षत्रों की दूरी, आकार तथा घनत्व की बात, अब जरा उनकी संख्या पर भी विचार किया जाय। किसी व्यक्ति से यदि यह प्रश्न किया जाय कि रात को आकाश में कितने तारे दिखलाई पड़ते हैं, तो वह अनायास ही यह उत्तर देगा कि अगणित, किन्तु यह बात गलत है। हम अपनी आँखों से बिना किसी यन्त्र की सहायता के दो हजार से अधिक नक्षत्र नहीं देखते। यह बात कुछ अविश्वसनीय-सी लगती है, किन्तु है यह बिलकुल सच।

सन् १६१० में गैलेलियो ने पहले-पहल छाया-पथ की ओर अपनी छोटी-सी दूरबीन सीधी की थी। उसी दिन पहले-पहल यह बात आविष्कृत हुई कि छायापथ की रोशनी ऐसे असंख्य सूक्ष्म नक्षत्रों से प्राप्त होती है, जिनको नङ्गी आंखों से देखना सम्भव नहीं है। गैलेलियो के इस चमत्कारिक आविष्कार के बाद हमारे ज्ञान में बहुत उन्नति हुई है, और हम इस छाया-पथ के निवासियों के विषय में बहुत-सी बातें जानने लगे हैं। अमेरिका के माउंट विल्सन स्थित १०० इंच व्यास के दूरवीक्षण यन्त्र से १०० करोड़ नक्षत्र फोटोग्राफ की प्लेट पर नज़र आते हैं। ग्रिनविच बेधशाला के ज्योतिषियों के हिसाब से हमारे नक्षत्र-मण्डल के नक्षत्रों की संख्या तीस या चालीस हजार लाख ठहरती है। अमेरिका के एक गणितज्ञ के हिसाब से यह संख्या ३००००० लाख तक पहुँच गई है।

आधुनिकतम ज्योतिष-शास्त्र मानता है कि हमारे नक्षत्र-मंडल के आगे भी और नक्षत्र-मण्डल है जो कि हमारे ही नक्षत्र-मंडल की तरह पृथक् स्थित है। इस विषय को यहीं छोड़कर हम आगे बढ़ेंगे।

अब प्रश्न यह उठता है कि ये नक्षत्र आकाश-मार्ग में किस भाँति बिखरे हुए हैं। सूलिवैन ने इस बात की कुछ धारणा बँधाने के लिए एक उदाहरण से काम लिया है। वह लिखता है कि कल्पना करो कि सूर्य एक बालू का दाना है जो यह कहना पड़ेगा कि सूर्य से निकटतम दूरी पर जो नक्षत्र है वह चार मील के फासले पर है। सब नक्षत्रों का यही हाल है। यदि हम कल्पना करें कि शून्य में चार-चार मील की दूरी पर एक-एक बालू का दाना रेंग रहा है तो हमें आकाश की शून्यता का सुन्दर बोध हो सकता है। हमारे नक्षत्र-मंडल की विशालता के सम्बन्ध में इसी से बोध हो सकता है कि यदि हम चार-चार मील की दूरी पर एक-एक बालू का दाना रखकर नक्षत्र-मंडल का एक माडल नक्शा बनाना चाहें तो यह सम्भव न होगा, क्योंकि वह एक-एक तरफ़ करोड़ों मील तक फैल जायगा। यदि हम आकाश के उतने देशों को, जितनों को हम अच्छी-से-अच्छी दूरबीन से देख सकते है, एक इतना बड़ा गोला मान लें जितनी बड़ी पृथ्वी स्वयं है, तो हमें पृथ्वी को इंच के दस करोड़वें हिस्से के बराबर मानना पड़ेगा।

हम पहले ही कह चुके हैं कि हमारे नक्षत्र-मंडल के अतिरिक्त भी और मंडल आदि का होना सम्भव है, तो स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्या विश्व का देश अनन्त तथा असीम है ? पहली दृष्टि में यह प्रश्न उपहासास्पद लगता है, क्योंकि इससे यह ध्वनि निकलती है कि गोया देश की कोई सीमा हो सकती है। इस प्रश्न का मतलब यह होता है कि कोई जगह है जहाँ जाकर यह देश खत्म हो जाता है। निस्सन्देह यह प्रश्न कुछ असम्भव-सा है। यदि देश की सीमा है तो उस सीमा के उस पार भला क्या है ? यह स्पष्ट है कि हम ससीम देश की कल्पना भी नहीं कर सकते।

किन्तु इस कथन का कि देश अन्तवान् है, यह मतलब नहीं है कि वह ससीम भी है। हम ऐसा देश दिखा सकते हैं जो कोई सीमा न होते हुए भी अन्तवान् हो। ससीम तथा अन्तवान इन दो शब्दों की विभिन्नता का हम विश्लेषण करें और देखें कि इससे इस विषय पर क्या प्रभाव पड़ता है। हम पहले एक चपटे धरातल को लें, जैसे कि मेज का धरातल। यह अन्तवान् भी है और ससीम भी। मेज ससीम है क्योंकि हर तरफ उसकी सीमा है, जहाँ से भी हम चलें और जिधर भी चलें शीघ्र ही एक सिरे पर आ पहुँचेंगे। उसके बाद मेज छोड़े बिना हमारे लिए अग्रसर हो सकना असम्भव हो जाता है और यह मेज अन्तवान् तो है ही, क्योंकि इसमें एक निश्चित वर्गफुट धरातल है।

अब एक अण्डाकार पिण्ड के धरातल को लीजिए। आप देखेंगे कि उसका

धरातल ससीम नहीं है। हम इस पिण्ड के चाहे जिस विन्दु से चलें, बिना उसकी सीमा से टकराए अथवा बिना उसका छोर पाए चलते चले जा सकते हैं। यह बात जरूर होगी कि हम बार-बार उसी जगह से होकर गुजरेंगे किन्तु ऐसा कभी न होगा कि हम किसी सिरे पर आ लगें जैसा कि मेज पर चलने से होता है। इसके साथ ही यह बात भी माननी पड़ेगी कि अण्डाकार पिण्ड का धरातल अनन्त नहीं है, क्योंकि इसमें भी कुछ निर्दिष्ट वर्गगज या वर्गफुट हैं। इस प्रकार हम अण्डाकार पिण्ड के धरातल के सम्बन्ध में कह सकते हैं कि वह अन्तवान् है किन्तु असीम है।

हम देखते हैं कि धरातल की इन दो किस्मों में बड़ा भेद है। एक चपटा धरातल तो तब तक कदाचित् असीम नहीं हो सकता जब तक वह अनन्त भी न हो। चलते-चलते हम मेज के सिरे पर न पहुँचे इसके लिए जरूरी है कि मेज का सिरा इतनी दूरी पर हो कि उस तक पहुँचना असम्भव हो। किन्तु जहाँ तक अण्डाकार पिण्ड के धरातल का सम्बन्ध है, उसमें सिरे का प्रश्न नहीं उठता।

अब तक हमने केवल धरातल के सम्बन्ध में आलोचना की है अर्थात् युग्मायतन देश (two dimensionl space) के विषय में यानी उस देश के विषय में आलोचना की है जिसकी केवल लम्बाई और चौड़ाई हो। क्या तीन आयतन वाले देश में भी, अर्थात् उस देश में, जिसमें लम्बाई, चौड़ाई व मुटाई है इस किस्म के किसी प्रभेद की कल्पना की जा सकती है? सौ यहाँ तक कि हजार साल तक इस प्रश्न को पूछते रहने पर भी हमें इसका नकारात्मक उत्तर ही मिलता है।

करीब सौ वर्ष पहले तक यह विश्वजनीन रूप से समझा जाता था कि तीन आयतन वाला देश एक ही प्रकार का हो सकता है। मोटे तौर पर हम इस देश को चपटा देश कह सकते हैं। ऐसा देश मेज की धरातल की तरह किसी भी हालत में असीम नहीं हो सकता, जब तक कि वह अनन्त भी न हो। किन्तु १९ वीं सदी के आरम्भ में विशुद्ध विचार-जगत् में एक अत्यन्त प्रकांड आविष्कार किया गया। एक-दूसरे से स्वाधीन रूप में तीन मनुष्यों ने यह आविष्कार किया कि तीन आयतन (Dimension) वाले देश के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह चपटा ही हो। उन्होंने एक नए प्रकार के देश की कल्पना करके इस बात को सिद्ध कर दिया। उन्होंने इस देश के गणितीय गुणों का प्रदर्शन करके दिखा दिया कि इस बात में कोई ताज्जुब करने की बात नहीं है, न उनकी बुद्धि पर सन्देह करने की कोई आवश्यकता है। इस नए प्रकार

के देश में चपटे देश से कुछ और ही गुण है, साथ-ही-साथ चपटे देश की तरह यह बिलकुल युक्तिसङ्गत है।

इस आविष्कार को लोगों ने पहले-पहल केवल एक विशुद्ध बौद्धिक अवदान समझा, मानवीय बुद्धि के उत्कर्ष का यह एक प्रमाण समझा गया; किन्तु कुछ खुले-दिल तथा गम्भीर वैज्ञानिकों ने यह बात सोचनी शुरू कर दी कि कहीं यह केवल बौद्धिक चमत्कार ही न होकर कुछ ठोस हो तो? यह हमें किसने बतलाया कि हम इसी प्रकार के देश के अधिवासी नहीं हैं, यानी यह देश वैसा ही नहीं है। हम अवश्य हमेशा से यह समझते आ रहे थे कि हम चपटे देश में रहते हैं, किन्तु यह कदाचित् इसलिए था कि हम नहीं जानते थे कि अन्य किसी प्रकार का देश भी हो सकता है! क्या कोई उपाय है जिससे मालूम हो कि हम चपटे देश में रहते हैं या अन्य किसी प्रकार के देश में?

आइनस्टाइन ने इस प्रश्न को हल कर दिया है। उन्होंने दिखा दिया है कि यदि देश वक्र (Curved) नहीं होता तो बहुत-सी बातें जो हो रही हैं दूसरी तरह से होतीं। खासकर कहा गया है कि बुध में, जिसका कि ग्रहपथ दूसरे ग्रहों से कम वृत्ताकार है, यह प्रभेद साफ पकड़ में आ जाता है। इस विषय पर बहुत जटिल तर्क दिये गए हैं, जिनका सार यह है कि आधुनिकतम विज्ञान के अनुसार विश्व अन्तवान् किन्तु असीम है।

निबन्ध के विषय के लिए विश्व-क्रम के सम्बन्ध में जितना कहना आवश्यक था हम करीब-करीब कह चुके, फिर भी चलते-चलते दो-एक बात और कहेंगे।

एक आलोक वर्ष में ५८८०,०००,०००,००० मील होते हैं, अर्थात् रोशनी एक वर्ष में इतने मील चलती है। यह दूरता पृथ्वी से सूर्य की दूरता की ६३२९० गुनी है। यह रोशनी आइनस्टाइन के द्वारा अनुमित कुल अन्तवान् देश को ५० लाख वर्ष में परिक्रमा कर पायगी, अर्थात् इतने समय के बात वह किरण वहीं लौट आयगी जहाँ से भी चली थी।

चलते-चलते सौर जगत् पर भी एक दृष्टि डाल दें क्योंकि इससे हमारी पृथ्वी के सम्बन्ध में धारणा कुछ स्पष्टतर हो जायगी। स्मरण रहे कि सूर्य लाखों नक्षत्रों में एक नक्षत्र है। तथा उनमें भी वह कोई खास हैसियत नहीं रखता।

सूर्य का व्यास ८६५००० मील है, अर्थात् पृथ्वी से वह दस लाख गुने से भी बड़ा है, किन्तु घनत्व में वह पृथ्वी के पदार्थ (mass) का केवल ३३०,००० गुना बड़ा है क्योंकि वह पृथ्वी की तरह ठोस नहीं है। सूर्य लगातार रोशनी तथा उत्ताप के रूप में शक्ति-वर्षा कर रहा है। प्रतिदिन इस कार्य से उसे

३६०,००० टन यानी १००८००००० मन की हानि उठानी पड़ती है, अर्थात् कल सूर्य जितना बड़ा था आज उसमें इतना कम है। फिर भी सूर्य का गोदाम ऐसा भरा हुआ है कि इस रफ़्तार पर यह १५ लाख करोड़ वर्ष तक बना रहेगा। इसका साफ अर्थ यह हुआ कि सूर्य पहले इससे भी कहीं विराट कार्य था तथा और अधिक उत्ताप तथा रोशनी विकीर्ण करता था।

सौर जगत् में सूर्य के अतिरिक्त आठ और ग्रह हैं। सूर्य की निकटता के अनुसार वे क्रमशः ये हैं—(१) बुध, (२) शुक्र, (३) पृथ्वी, (४) मङ्गल, (५) बृहस्पति, (६) शनि, (७) यूरेनस तथा (८) नेपचून। पृथ्वी का एक उपग्रह है चन्द्र। यह बात नहीं कि सौर जगत् में केवल पृथ्वी का ही उपग्रह हो। अवश्य बुध तथा शुक्र का कोई उपग्रह नहीं है। मङ्गल के दो उपग्रह हैं, बृहस्पति तथा शनि के नौ-नौ उपग्रह हैं, यूरेनस के चार हैं तथा नेपचून का एक उपग्रह है।

सौर जगत् के सम्बन्ध में धारणा दिलाने के लिए सर जान हेरशेल ने एक परिकल्पना की है, डॉक्टर स्मार्ट ने इसको संकलित करके अप-टू-डेट बनाया है। "सूर्य को हम यदि एक गोले से दिखायें जिसका व्यास २ फुट है तथा जो कि एक समतल क्षेत्र में रखा है, तो फिर हमें अन्य ग्रहों को निम्न लिखित तरीके से दिखाना पड़ेगा। इस गोले से २८ गज की दूरी पर हमें बुध को एक आलपीन के सिर से दिखाना पड़ेगा। शुक्र एक मटर होगा जो कि ५२ गज की दूरी पर होगा। मंगल ११० गज की दूरी पर एक बड़ी आलपीन का सिर होगा। बृहस्पति को हमें ३०० गज की दूरी पर एक मँझले आकार की नारंगी से दिखाना पड़ेगा। शनि ६९० गज की दूरी पर एक छोटी नारङ्गी होगा। यूरेनस कोई १४०० गज के फासले पर एक छोटे से बेर से दिखलाया जायगा, नेपचून एक बड़ा बेर होगा और इसे कोई २१०० गज फासले पर दिखाया जायगा। रह गए पग्रह, उन्हें हम चाहें तो धूलि-कण या बालू के दाने से दिखा सकते हैं।"

इस प्रकार हम देख चुके कि सृष्टि-क्रम में हमारी पृथ्वी की क्या हैसियत है।

पृथ्वी की उम्र

अब एक मजेदार प्रश्न का उदय होता है। यह तो मालूम ही हो गया कि निखिल विश्व के क्रम में पृथ्वी किसी भी तरह विशिष्ट नहीं बल्कि एक मामूली-से-मामूली ग्रह है। खैर, यह तो हुआ, अब प्रश्न यह है कि पृथ्वी-जैसी भी छोटी है किन्तु वह चिरकाल से तो है? यदि यह बात भी हो तो कुछ

इज्जत बच जाती, किन्तु हाय वैज्ञानिक, मेरे अनुसन्धानों से यह भी साध्य टिकता नहीं मालूम देता। सचमुच ही यह बात है कि पृथ्वी की भी एक उम्र है चाहे यह लाखों वर्ष हो या करोड़ वर्ष। मुश्किल तो यह है कि धर्म तथा पुराण भी इस विषय में पृथ्वी को कोई सहायता देते नजर नहीं आते। सिसेरो (Cicero) वर्णन करता है कि चालडिया के पुरोहित सम्प्रदाय का यह विश्वास था कि २० लाख वर्ष पहले पृथ्वी अव्यवस्था (Chaos) से उदित हुई। खैर, यह भी गनीमत है, २० लाख से दिल पर कुछ धाक तो बैठती है, किन्तु और लोग तो इतने का साहस नहीं करते। जरथुस्त ने तो पृथ्वी को २०००० साल की युवती ही माना है। इबरानी लोग तो पृथ्वी को और जवान करार देने पर उतारू हैं। आर्कबिशप ऊसर की गणना के अनुसार पृथ्वी का जन्म-संवत् इब्रानी ग्रन्थों के अनुसार ४००४ ईसा पूर्व ठहरता है। डॉक्टर आर्थर होमस डी० एस-सी० कहते हैं कि इस मामले में हिन्दुओं ने ही बूढ़ी पृथ्वी की इज्जत रख ली है, वे तो पृथ्वी को शाश्वत मानते हैं।

अब देखना यह है कि वैज्ञानिक इस पर क्या कहते हैं। कहना न होगा कि पृथ्वी की उम्र उनके लिए टेढ़ी खीर रही है, और भिन्न-भिन्न तरीके से वे भिन्न-भिन्न निर्णयों पर पहुँचे हैं।

भूतत्त्व विद्या के विद्वान् डॉक्टर आर्थर होमस ने ग्रह-रूप में पृथ्वी की उम्र भिन्न-भिन्न कारणों से जैसी ठहरती है, उसे यों दिखाया है—

ग्रह रूप में पृथ्वी की उम्र

(१) बुध ग्रह के ग्रहपथ की अनियमितता को देखते हुए—१०० से ५०० करोड़ वर्ष।

(२) चन्द्रमा की उत्पत्ति के ज्वार सिद्धान्त (Tidal theory) को देखते हुए—५०० करोड़ वर्ष से कम।

(३) छाया-पथ से सौर जगत् की यात्रा की दृष्टि से—२०० से ३०० करोड़ साल।

(४) पृथ्वी के बहिरावणस्थित (Crust) शिला-स्तूपों (Rocks) में न्यस्त सीसा तथा रेडियो-क्रियाशील (Radioactive) पदार्थों के औसत परिणाम की दृष्टि से—३०० करोड़ वर्ष से कम।

(५) प्राचीनतम विश्लेषित रेडियो-क्रिया-शील खनिज पदार्थों की दृष्टि से—१४० करोड़ वर्ष से अधिक।

(६) समुद्र में लवण के संग्रह की दृष्टि से—१७५ करोड़ वर्ष।

(७) भूगर्भ-सम्बन्धी बनावट की मुटाई की दृष्टि से—अपरिमेय।

(८) पृथ्वी के इनिहास म चक्र तथा परिभ्रमण (Cycles and revolution) की कल्पना की दृष्टि से—१४० करोड वष।

डॉक्टर होमस सब बातो को तौलने के बाद इस नतीजे पर पहुँचते ह कि पृथ्वी की उम्र १६० करोड से ३०० करोड वष के अन्दर है। जे० डब्ल्यू० एन मूलिबैन इसको २०० करोड वष के लगभग होने का अनुमान करते हैं। मोटे तौर पर पृथ्वी २०० करोड वष की बुढिया मानी जा सकती है। भूगर्भ-विद्या, ज्योतिष, गणित सबकी सम्मिलित गवाही का यही सार है।

मनुष्य जाति की उम्र

बहुत-से धर्म पृथ्वी तथा मनुष्य जाति के उद्‌भव को समसामयिक करार देते है, किन्तु यह बात बिलकुल अतर्कसिद्ध है। जब भी पृथ्वी एक स्वतन्त्र ग्रह के रूप में अस्तित्व मे आई हो, वह एक भयानक भाड़ की तरह दहकती हुई थी। जो कुछ भी पानी उसमे था, वह दिखाई नही पड सकता था, और वह गन्धक तथा धातुओ के भाप मे मिलकर विचरता होगा। ऐसी अवस्था में भला जीव-जन्तु उसमे कैसे पनप सकते थे। लाखो सालो मे वह पृथ्वी कुछ कुछ ठडी हो चली होगी, उसका बहिरावरण कडा हो चला होगा, फिर भाप बादल के रूप मे पृथ्वी पर बरसा होगा। लाखो सालो तक यह प्रक्रिया चली होगी, जैसी कि वह अब है।

फिर एक दिन की उत्पत्ति हुई, किन्तु इसका मतलब यह नही कि हजरते इनसान अस्तित्व में आय। नही, हजरते इन्सान तो अमीबा, पहली मछली समुद्री शैवाल तथा अन्य ऐसी चीजो के लाखो वर्ष बाद प्रकट हुए।

इस तरह देखा जा रहा है कि मनुष्य जाति जीवन की घुडदौड मे बहुत पीछे आई। श्री एच० जी० वेल्स इस सम्बन्ध मे लिखते है—

"पृथ्वी की उम्र की तरह ऐन्द्रिय विकासवाद का सिद्धान्त भूत काल मे प्रचण्ड वितण्डा का विषय रहा है। एक ऐसा समय था जब कि अज्ञात कारणो से समझा जाता था कि ऐन्द्रिय विकासवाद (Organic evolution) का सिद्धान्त ईसाई यहूदी तथा मुस्लिम सिद्धान्तो के साथ सामजस्यहीन है। वह समय अब चला गया और कट्टर-से-कट्टर प्रोटेस्टेंट, कैथोलिक, यहूदी या मुसलमान अब सब जीवो की एक ही उत्पत्ति-सम्बन्धी इस अभिनव प्रशस्ततर सिद्धान्त को मानने के लिए स्वाधीन है। किसी प्रकार का भी जीवन एकाएक अस्तित्व में नही आया। जीवन विकसित हुआ और हो रहा ह। युग के बाद युग में, जिसकी कल्पना करने से भी सिर घूमने लगता है, आदिम ज्वार-भाटे में एक इच मात्र के रूप में आरम्भ होकर जीवन बराबर स्वाधीन शक्ति

तथा संज्ञा की ओर हाथ-पैर मार रहा है।

"जीवन व्यष्टि में आत्मप्रकाश करता है। ये व्यष्टि या व्यक्ति निर्दिष्ट वस्तु हैं; वे लौहों या स्तूपों की तरह नहीं हैं। उनमें दो चारित्रिक विशेषताएँ हैं जो कि किसी निर्जीव पदार्थ में नहीं हैं। वे अपने में अन्य पदार्थ को जज्ब करके उसे अपना ही भाग बना सकते हैं, तथा वे प्रजनन कर सकते हैं। वे खाते हैं तथा बच्चा पैदा करते हैं। वे अन्य व्यक्तियों को जन्म-दान कर सकते हैं, ये व्यक्ति मुख्यतः उन्हीं की तरह होंगे। किन्तु फिर भी कुछ विभिन्नता रहेगी। एक व्यक्ति तथा उसकी सन्तान में एक विशेष तरह की पारिवारिक सदृशता है, साथ ही दोनों में एक वैयक्तिक विभिन्नता है। यह बात सभी योनियों के लिए तथा जीवन की प्रत्येक अवस्था के लिए लागू है।

"वैज्ञानिकगण इस बात की व्याख्या नहीं कर सकते कि सन्तान जनक के सदृश ही क्यों हो और उससे विभिन्न ही क्यों हो। किन्तु यह देखकर कि सन्तान एक ही साथ जनक के सदृश है और विभिन्न भी, सामान्य बुद्धि यही बताती है कि यदि एक प्राणी-श्रेणी (species) जिस वातावरण में पनपती थी, वह बदल जाय तो उसी के अनुसार सब प्राणी-श्रेणी में भी परिवर्त्तन होंगे। उस प्राणी-श्रेणी की किसी पुश्त को ले लीजिए और उसके अन्तर्गत व्यक्तियों पर दृष्टि डालिए, तो आपको यह मालूम होगा कि कुछ व्यक्तियों की वैयक्तिक विभिन्नता उन्हें उस प्राणी-समुदाय के दूसरे सदस्यों से जीवन-संग्राम में अधिक योग्य तथा पोढ़ा बनाती है। और मामूली तौर पर यह योग्यतर गुट अधिकतर दिन तक जीवित रहेगा, अधिक सन्तानें उत्पन्न करेगा और इस प्रकार पुश्त-दर-पुश्त वह प्राणी-श्रेणी अनुकूलतर दिशा में परिवर्तित हो जायगी। इस प्रक्रिया को, जिसको प्राकृतिक निर्वाचन कहेंगे, वैज्ञानिक सिद्धान्त कहने के बजाय प्रजनन तथा वैयक्तिक विभिन्नता से उद्भूत एक साध्य कह सकते हैं। × × × बहुत वैज्ञानिकों ने जीवन के प्रथम विकास के सम्बन्ध में आलोचना की है। इनकी यह कल्पना या आलोचना बड़ी दिलचस्प भी है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु जीवन की प्रथम हलचल के सम्बन्ध में कोई निर्दिष्ट ज्ञान यहाँ तक कि दिल में घर कर लेने वाली कोई कल्पना भी नहीं है। फिर भी सभी इस बात पर एकमत हैं कि कीचड़ में अथवा सूर्य-रश्मिमण्डित छिछले खारे पानी के बालू में ही जीवन का प्रथम उद्भव हुआ होगा, फिर उसका धीरे-धीरे प्रसार हुआ होगा।"

अनुमान किया जाता है कि कोई पचास हजार वर्ष पहले एक जीव का विकास हुआ जो कि आदमी से मिलता-जुलता था। यह विकसित

होते-होते मनुष्य बना, यह नहीं कि बन-बनाया स्वर्ग उतर आया। अध्यापक हाक्सले ने इस विषय पर यह मजेदार बात कही थी कि यदि आप विकासवाद में विश्वास नहीं करते, तो यदि सबेरे उठकर नाश्ता करते समय आप एक सर्वथा नए प्रकार का जानवर देखें तो आपको आश्चर्य नहीं होना चाहिए ।

सर आर्थर स्मिथ, उडवार्ड लिखते हैं—"जो थोड़े-बहुत प्रस्तरीभूत जन्तु-देह मिले हैं उनके आधार पर हमने साधारण तरीके पर जो सिद्धान्त कायम किया उसकी पुष्टि होती है कि आधुनिक वानर तथा नर एक ही वानर-सदृश पूर्वपुरुष से विभिन्न दिशाओं में उद्‌भूत हुए हैं।" यानी दूसरे शब्दों में वानर मनुष्य एक ही वृन्त के दो फल हैं।

पृथ्वी की उम्र को देखते हुए मनुष्य जाति की उम्र कुछ भी नहीं है। कहाँ २०० करोड़ वर्ष और कहाँ केवल ५० हजार वर्ष ? इसका मतलब यह होता है कि करोड़ों वर्ष तक यह पृथ्वी (जिस पर कि राज्य करने के लिए बताया जाता है मनुष्य जाति को ईश्वर ने भेजा) करोड़ों वर्ष तक मनुष्य जाति से शून्य होकर सूर्य की परिक्रमा करती रही। ऐसा भी मालूम होता है कि मनुष्य जाति जब उत्पन्न नहीं हुई थी तब सृष्टि का कोई खास काम अटका हुआ नहीं था। वैज्ञानिक केवल इतना ही कहकर निवृत्त नहीं होते वे तो कह रहे हैं कि एक समय आयगा जब कि पृथ्वी इतनी ठण्डी हो जायगी कि उस पर मनुष्य नहीं जी सकेगा। उसके बाद भी, यानी मनुष्य जाति के लुप्त हो जाने के बाद भी, पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती रहेगी।

उपसंहार

उपसंहार में हम कही हुई बातों को संक्षिप्त रूप से दुहरायँगे। उन बातों पर दृष्टि डालते ही सृष्टि- म में मनुष्य का स्थान मालूम हो जायगा।—वे बातें ये हैं—

(१) सूर्य लाखों नक्षत्रों में से एक साधारण नक्षत्र है।

(२) पृथ्वी सौर-जगत् की एक मामूली सदस्या है।

(३) पृथ्वी की उम्र कोई २०० करोड़ वर्ष है जो कि अनन्त काल में कोई विशेष हैसियत नहीं रखता।

(४) मनुष्य इस पृथ्वी पर ५०००० वर्ष से है। इस काल का कम-से-कम तीन चौथाई उसने निरी असभ्यता में बिता दिया है।

(५) मनुष्य लगभग सब प्राणियों के बाद आया है।

इससे स्पष्ट है कि मनुष्य का सृष्टि का राजा होना निरा गपोड़ा है। क्रम-विकास ने जैसा उसे बनाया है वह वैसा ही है, किसी ने कोई खास नक्शा

सामने रखकर उसे नहीं बनाया है। इस विश्व में ग्रहगण निरन्तर बन और बिगड़ रहे हैं, किसी भी प्रकार से मनुष्य की वे प्रतीक्षा नहीं रखते। यदि इस सृष्टि में मनुष्य में कोई विशेषता है तो यह कि वह इन बातों को समझ सकता है, किन्तु यह गौरव भी केवल उसी को अकेले प्राप्त है, यह भी वैज्ञानिकगण निश्चित रूप से नहीं कह सकते। क्योंकि यह अनुमान किया जाता है कि अन्य ग्रहों में भी प्राणी हो सकते हैं। क्या पता वे मनुष्य से कहीं अधिक बुद्धिमान् हों। फिर भी मनुष्य का एक और भी गौरव है, और यह गौरव विज्ञान का दिया हुआ है। वह यह कि मनुष्य सबसे अधिक विकसित है। इस प्रकार विज्ञान ने एक हाथ से उसका काल्पनिक गौरव छीनकर दूसरे हाथ से उसे वास्तविक गौरव प्रदान किया है।

२२

वर्तमान जगत् में समाचार-पत्र और लोकतंत्र

अभी-अभी अमेरिका के न्यूयार्क नगर का 'सन' नामक दैनिक पत्र बन्द हो गया। यह पत्र १८३० में शुरू हुआ था। तब इसमें केवल चार व्यक्ति काम करने वाले थे, और इसमें बहुत थोड़ी पूंजी लगी हुई थी। पर जिस समय यह पत्र बन्द हुआ है, उस समय इसमें बारह सौ कार्यकर्ता थे, और लाखों की पूंजी लगी हुई थी। फिर भी यह नहीं चल सका और इसे बन्द कर देना पड़ा। यदि भारत में ऐसी बात होती, तो इस पर कोई ध्यान नहीं देता, पर अमेरिका में इस पर बड़ी-बड़ी आलोचनाएँ हुई हैं, और तरह-तरह के सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक, राजनीतिक प्रश्न उठाए गए हैं।

यह बात तो भारत में भी स्पष्ट हो चुकी है कि किसी समाचार-पत्र को चलाना इस युग में पहले के युग से बिलकुल भिन्न हो चुका है। अब से पचास वर्ष पहले यह सम्भव था कि एक मामूली कम्पोजीटर चिन्तामणि घोष इंडियन प्रेस के मालिक हो गए तथा दो-चार सौ की पूंजी से कोई पत्र चलाया गया। यदि अमृतबाजार पत्रिका, हिन्दू आदि पुराने पत्रों का इतिहास देखा जाय तो वे बहुत ही मामूली आरम्भ से उत्पन्न हुए, पर इस समय कोई दैनिक यहाँ तक कि साप्ताहिक या मासिक थोड़ी पूंजी से निकालना सम्भव नहीं है। अवश्य हिन्दी में इस समय कई साप्ताहिक पत्र चल रहे हैं, जिनके पीछे बहुत ही थोड़ी पूंजी है, पर इन पत्रों को कोई महत्त्व प्राप्त नहीं है, महत्त्व से मेरा मतलब यहाँ राष्ट्रीय महत्त्व से है।

न्यूयार्क के 'सन' पत्र में चार कार्यकर्ता थे, इनमें से एक तो मालिक भी था और कार्यकर्ता भी। यह व्यक्ति एक छोटा-सा जाब प्रेस का मालिक था। दो कम्पोजीटर थे, और चौथा व्यक्ति एक रिपोर्टर था। इन चार मूर्तियों के सहयोग से अखबार चला, और खूब धड़ल्ले से चला। अखबार बेचने वाले भी केवल दो ही थे। फिर भी पहले दिन से ही अखबार सफल रहा। इसका

कारण यह था कि पहले की जनता संवादों के सम्बन्ध में इतनी सजग नहीं थी तथा उसकी माँगें बहुत कम थीं। अपने वृत्त के बाहर कुछ खबरों को जान जाना ही बहुत बड़ी बात समझी जाती थी इसके विरुद्ध आज परिस्थिति यह है कि अखबार पढ़ने वाली जनता न केवल अपने देश की ही खबरें जानना चाहती है, बल्कि वह साथ-ही-साथ सारे जगत् की खबरों को जानना चाहती है। केवल यही नहीं वह राजनैतिक के अलावा सब तरह की खबरें जानना चाहती है। साथ-ही-साथ अच्छी तस्वीरें भी हों, चुटकले भी हों, फैशन तथा खेल आदि के सम्बन्ध में भी कुछ-न-कुछ रुचिकर हो। इन बातों को कहाँ तक गिनाया जाय। आज का पाठक समाचार-पत्र ही से सब-कुछ चाहता है, और सो भी ताजा-से-ताजा। यदि किसी समाचार-पत्र ने किसी दूसरे समाचार-पत्र से पहले कोई महत्त्वपूर्ण खबर दे दी, और किसी अखबार के पाठक ने यह देख लिया कि दूसरे अखबार का पढ़ने वाला उससे पहले कोई बात जान गया, तो यह निश्चय है कि वह अपने अखबार को छोड़कर दूसरे के ग्राहक बनने की बात सोचेगा। ऐसी अवस्था में वर्तमान युग के अखबारों के परिचालकों को बहुत सजग रहना पड़ता है। सजगता का अर्थ यहाँ केवल मानसिक सजगता नहीं है, सजगता का यहाँ पर अर्थ यह है कि उसके प्रत्येक स्थान पर और प्रत्येक क्षेत्र में अधिक-से-अधिक सजग संवाददाता हों, और वे प्राप्त सम्वाद को जल्दी से जल्दी अपने अखबार को हवाई डाक, तार, टैलीफोन जिस भी तरह सम्भव हो पहुँचायें।

कहना न होगा कि इसके लिए बहुत बड़ी पूँजी की आवश्यकता है! दूसरे शब्दों में अब अखबारों का संचालन कुछ मनचले आदर्शवादियों के हाथ की बात नहीं रही कि एक ट्रेडल और चार मित्र लिये, और अखबार चला दिया। अब तो अखबार चलाना उसी प्रकार से एक व्यवसाय है, जिस प्रकार से कपड़ों की मिल या अन्य कारखानों का संचालन है। यही कारण है कि देखते-देखते हमारी आँखों के सामने पुराने जमाने के सब अखबार लुप्त या अर्द्धलुप्त हो गए या पूँजीपतियों के हाथों में बिक गए।

आज सारे भारत में विशेषकर हिन्दी के क्षत्र में बिडला, डालमिया, अग्रवाल आदि का जोर हो रहा है। इनके एक-एक नहीं, कई-कई अखबार हैं। यद्यपि विश्वमित्र-संचालक अग्रवाल स्वयं उस अर्थ में पूँजीपति नहीं हैं, जिस अर्थ में बिडला या डालमिया हैं, फिर भी अग्रवाल को कई कारणों से विभिन्न पूँजीपतियों का पृष्ठपोषण प्राप्त है।

इस प्रकार पत्रों के क्षेत्र में पूँजीपतियों की ज़ंजीरें बिछ जाने से पत्रों की

अभूतपूर्व उन्नति हुई है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है ? उदाहरणार्थ आज के किसी भी हिन्दी-पत्र—जैसे 'हिन्दुस्तान', 'नवभारत' आदि—को उठाकर पहले के जमाने के 'भारत मित्र' या अन्य किसी पत्र के साथ तुलना की जाय, तो यह ज्ञात होगा कि पत्र-संचालन-कला ने इस बीच में कितनी उन्नति की है।

पर इसके साथ ही इसके लिए जो दाम देना पड़ता है, वह भी द्रष्टव्य है। पहले जब चार आदमी एक हस्तचालित ट्रेडल के इर्द-गिर्द बैठकर एक अखबार निकालते थे, वे जो-कुछ लिखते थे, वह स्वाभाविक रूप से जनता के मत को व्यक्त करता था क्योंकि ये लोग चौबीसों घंटे जनता में में रहते थे, जनता की भाषा बोलते थे और जनता की तरह सोचते थे। इस-लिए उन समाचार-पत्रों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता था कि वे जनता के मत को प्रतिफलित करते हैं, पर क्या इन जंजीरों के अन्तर्भुक्त समाचार-पत्रों में व्यक्त मतवादों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है ? न्यूयार्क के 'सन' पत्र के बन्द हो जाने पर जो आलोचना चल पड़ी है, उसमें एक बात, जो सबसे ज्यादा पूछी जा रही है, वह यह है। बात यह है कि 'सन' पत्र के मालिक को केवल ४० डालर का फायदा रहता था, जब कि आज के समाचार-पत्रों की जंजीरों के मालिकों को प्रातिदिन ४०,००० डालर मुनाफा रहना बहुत मामूली बात है।

कहना न होगा कि ऐसी अवस्था में न तो अमेरिका में ही और न भारत में ही अखबारों को जनता के मत का प्रतिपादक या प्रचारक कहा जा सकता है। सन्देह नहीं कि हमारे सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र में यह एक क्रान्तिकारी परिवर्तन है, क्योंकि अब तक परम्परागत रूप से यही समझा जाता था और है कि समाचार-पत्र जनता के मत को व्यक्त करते हैं। अवश्य प्रत्येक भद्र किस्म के पत्र में अपनी निष्पक्षता के ढोंग को कायम रखने के लिए यदा-कदा सम्पादकीय मत के विरुद्ध पत्र भी छापे जाते हैं। पर जहाँ सम्पादकीय में पद्धति-गत रूप से संचालकों का मत व्यक्त किया जाता है, वहाँ विरुद्ध मत को केवल कहीं कोने में प्रकाशित किया जाता है। आजकल की जल्दी के जमाने में बहुधा उस तरफ लोगों की दृष्टि ही नहीं जाती।

इस प्रकार एक बहुत बड़ा प्रश्न हमारे सामने आता है। वह यह है कि यह तो स्वीकृत है कि जैसे दूध, नल का पानी, बिजली, टेलीफोन का तार आदि हमारे जीवन के अपरिहार्य अंग हो चुके हैं, उसी प्रकार से समाचारों का मिलना भी हमारे लिए अत्यावश्यक हो गया है। पर समाचार के साथ-साथ

हमारे दिमाग में समाचार-पत्रों के संचालक अपने मतों को ठूँसने की चेष्टा क्यों करते हैं ? क्या ऐसा करने का उन्हें अधिकार है ? और इससे भी बढ़-कर बात यह है कि क्या उन्हें ऐसा करने देना चाहिए ? क्या उन्हें इस प्रकार करने देना लोकतन्त्र के लिए खतरनाक नहीं है ?

इस पर बड़ी-बड़ी आलोचनाएँ हुई हैं। यह तो आज सभी पक्ष मानने के लिए बाध्य हुए हैं कि आज के समाचार-पत्र जनता के मन को उसी हद तक अभिव्यक्त करते हैं, जिस हद तक वह संचालकों या संचालक वर्ग के मत को प्रतिफलित करता है, बाकी बातों में जनता के मत के नाम से संचालक वर्ग का मत प्रचारित होता है। कहना न होगा कि यह परिस्थिति कुछ अच्छी नहीं है, पर इसे दूर कैसे किया जाय ? यह कहा जा रहा है कि यदि पूँजीपतियों को अपने मत व्यक्त करनें तथा उनका शान्तिपूर्वक प्रचार करने से रोका जाय, तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि जनता को अपने मत को व्यक्त करने का अधिकार है, वैसे ही लोकतन्त्र में पूँजीपतियों को भी अपने मत व्यक्त करनें तथा उन्हें प्रचारित करनें का अधिकार है। पर इस विन्दु को जितना भी खींचा जाय, पूँजीपतियों को यह अधिकार तो किसी भी तरह नहीं हो सकता कि वे अपने मतों को जनता के मत का जामा पहनाकर सामने रखें या उसका उस रूप में प्रचार करें। इससे तो लोकतन्त्र के नाम पर लोकतन्त्र का हनन ही होता है।

अमेरिका में इस प्रश्न को यों उठाया गया है। हमारे घरों में गैस, बिजली टेलीफोन, घर की मरम्मत आदि के सिलसिले में बिजली वाले, गैस वाले रोज आते रहते हैं। यदि ये लोग अपनी सेवाएँ देते समय हमें राजनीति के सम्बन्ध में उपदेश देना शुरू करें, याने सब बतायँ कि हमें किसे वोट देना चाहिए, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में हमें क्या सोचना चाहिए, तो इसे हम कभी बरदाश्त न करेंगे। फिर हम इस बात को बरदाश्त क्यों करेंगे कि जो खबरें हमें दी जायँ, और यह पहले ही बताया जा चुका है कि खबरें हमारे लिए उसी प्रकार की आवश्यकता की वस्तु हो गई हैं जैसे गैस, बिजली, दूध इत्यादि हैं उनके साथ-साथ हमारे दिमाग में संचालकों के विचार क्यों ठूँसे जायँ ? यह तो बहुत उचित प्रश्न हुआ, पर म्याऊँ का ठौर इस बात पर आ जाता है कि संचालकगण फिर अखबार चलाये ही क्यों ?

यह तो एक सुपरिचित बात है कि कम-से-कम भारत में समाचार-पत्र व्यवसाय उतना मुनाफा देने में समर्थ नहीं है जितना कि दूसरे व्यवसायों से मुनाफा रहता है। कई बार तो समाचार-पत्र घाटा सहकर निकाले जाते हैं।

घाटा सहकर भी ये पत्र इसी कारण निकाले जाते हैं कि इस जनयुग में जनता को साथ लेकर चलना सब का अभिप्राय है। इसी उद्देश्य से पूंजीपतियों की तरफ से अखबारों की बड़ी-बड़ी जंजीरें खरीदी और बनाई जाती हैं। यह इतना खुला खेल है कि इसमें कोई दुराव-छिपाव नहीं है। सब लोग यही दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि जो विचार उनके स्वार्थ के लिए अच्छा है, सब लोग उसी विचार का पोषण करें। जहाँ वोटों से सब बातों का निर्णय होता है, वहाँ इस प्रकार का प्रचार कार्य एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, और लोग इन उपायों से जनमत को नियन्त्रित करने में समर्थ भी हो जाते हैं। हमारा देश तो बहुत पिछड़ा हुआ है, पर जर्मनी ऐसे आगे बढ़े हुए देश में जहाँ एक से एक कलाकार और साहित्यकार यहाँ तक कि साक्षात कार्ल मार्क्स पैदा हुए थे, वहाँ हिटलर जनता के वोट के बूते पर शक्ति-आरूढ़ हुआ था। इसलिए केवल यह कहकर शुतुर्मुर्ग-वृत्ति धारण करके ऐसी तसल्ली कर लेने का कोई अर्थ नहीं होता कि अखबारों में सब तरह के मत छपते रहते हैं और जनता को अपने स्वार्थ की बात समझने में और उसके अनुसार वोट आदि देने में दिक्कत नहीं होती।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि अखबारों की इन जंजीरों से लोकतंत्र को बड़ा खतरा है। इस खतरे को दूर करने के लिए क्या करना चाहिए यह एक बड़ा भारी प्रश्न है। जैसा कि मैं लिख चुका। इस खतरे से सब लोग परिचित नहीं हैं। इसीलिए खतरा और भी बड़ा है। केवल अखबारों की इन जंजीरों से ही नहीं बल्कि जहाँ इक्के-दुक्के अखबार भी चल रहे हैं, वे भी कहाँ तक जनमत का व्यक्त कर सकते हैं इसमें सन्देह है, क्योंकि छोटे पूंजीपतियों के स्वार्थ भी आधार-भूत रूप से अखबार की जंजीर के परिचालकों से भिन्न नहीं हैं।

ऐसी अवस्था में जनता को अधिक-से-अधिक अन्य प्रकाशनों की ओर ध्यान देना पड़ेगा। साधारण समाचार-पत्र पाठक के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह सभी मत तथा दल वालों के विचार तथा पत्र पढ़े। किसी उचित राय पर पहुँचने के लिए यह एक अच्छा तरीका है। पर साथ ही यह उपाय सबके लिए सुलभ नहीं है। हिन्दी में अब भी मासिक पत्रिकाओं की ओर जंजीर वालों का ध्यान नहीं गया है, पर यह आशंका करना अनुचित न होगा कि वे जल्दी ही इस ओर भी तेजी से कदम बढ़ायेंगे। तब तक एक हद तक मासिक पत्रिकाओं पर भरोसा किया जा सकता है। जाने हुए स्वतंत्र विचार के लेखकों की पुस्तकें भी इस सम्बन्ध में काम दे सकती हैं। पर इस ओर सबसे बड़ा

कदम यह होगा कि जनता के मन में यह बात पक्के तौर पर जम जानी चाहिए कि जो कुछ छप गया, यहाँ तक कि जो कुछ खबर के रूप छपता है, वह न तो अन्तिम मत है और न अन्तिम खबर। समाचार-पत्रों को अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करने वाले लोग इस बात को जानते हैं कि झूठी खबरें देना, या खबरों का रंग बदलकर देना सबसे सरल और कारगर तरीका है। इसलिए कई बार कल्पित स्थान से कल्पित सम्वाददाता की ओर से भेजी हुई भीतर की खबरें छापी जाती हैं।

मुझे डर है कि वर्तमान रूप में जिस प्रकार से समाचार-पत्र निकाले जाते हैं, और अब उसकी जो टेकनीक हो गई है जिसमें सैंकड़ों के स्टाफ और लाखों की पूँजी लगती है, उसमें जनता के सब स्वार्थों की रक्षा कैसे हो सकती है। यह कहना कि हम फिर छोटे-छोटे स्वतंत्रपत्रों के युग में लौट जाय एक प्रतिक्रियावादी नारा होगा, इसके अलावा यह अव्यावहारिक भी होगा। जो संस्थाएँ या वस्तुएँ सामाजिक आर्थिक कारणों से मर चुकी हैं, उन्हें उसी रूप में पुनरुज्जीवित करने का स्वप्न० वर्थ है। ऐसा तो हो नहीं सकता। इस समस्या का समाधान पीछे हटकर नहीं बल्कि आगे बढ़कर ही होगा।

यह बहुत ही आम तौर से कहा जाता है कि लोकतंत्र का मूल्य यह है कि बराबर सावधान और सजग रहा जाय। हम इस सम्बन्ध में उसी की पुनरावृत्ति कर सकते हैं। सब जन-नेताओं को तथा सारी जनता को इस सम्बन्ध में एक बात को मानकर आगे चलना पड़ेगा, वह यह कि किसी भी अवस्था में हमारे समाचार-पत्रों के जनमत का प्रतिपादक या प्रतिफलक नहीं माना जा सकता। जन नेताओं को जनता के सही मत जानने के लिए इसके अतिरिक्त अन्य साधनों का उपयोग करना पड़ेगा, और जनता को अपनी आवाजों को अन्य जरियों से बुलन्द करना पड़ेगा।

२३

विद्रोही कवि काज़ी नज़रुल

बंगाल की एकता तथा अविभाज्यता तो इतिहास की कसौटी पर नहीं टिकी, माना कि यह एक सामयिक अवस्था-मात्र है, और बंगाल फिर एक होगा जैसे कि भारत फिर एक होगा, पर बंगला भाषा तो एक और अविभाज्य थी, है, और रहेगी। पाकिस्तान बनें कई साल हो चुके, पर भारतीय यूनियन की सीमा के उस पार के मुसलमानों नें यह साबित कर दिया कि अच्छे पाकिस्तानी होते हुए भी वे बंगला को ही अपनी मातृभाषा मानते हैं। इस क्षेत्र में वे बड़े-से-बड़े का हस्तक्षेप मानने के लिए तैयार नहीं है। जब पूर्वी बंगाल के लीगी नेतागण वहाँ की जनता पर उर्दू लादने में असमर्थ रहे, तब स्वयं कायदे-आज़म को वहाँ का दौरा करना पड़ा, और फिर भी कुछ काम नहीं बना। परिस्थिति यहाँ तक संगीन हो गई कि अन्त तक पाकिस्तान की सरकार को ही झुकना पड़ा, और कम-से-कम पूर्वी पाकिस्तान की भाषा के रूप में बंगला को ही स्वीकार कर लिया गया।

बंगला भाषा इस प्रकार समूचे बंगाल की भाषा है। बंगाल के हिन्दू तथा मुसलमान भले ही और बिषयों में मतभेद रखते हों, पर उनकी भाषा एक है, और वह है बंगला। बंगाल के हिन्दू तथा मुसलमान भले ही विभिन्न यूनियनों में रहें, पर वे एक ही भाषा में बोलेंगे, लिखेंगे, स्वप्न देखेंगे। यह बात उन लोगों के लिए बड़ी खतरनाक है, जो भारतवर्ष को हमेशा के लिए विभक्त देखना चाहते हैं।

बंगला भाषा की इस एकता के सबसे बड़े प्रतीक हैं सुप्रसिद्ध कवि काज़ी नज़रुल इस्लाम। उनकी कविता को किसी हिन्दू ने मुसलमानी कह कर कभी उसका अनादर नहीं किया। सच तो यह है कि उन्होंने बंगला काव्य में एक नई रूह फूँकी। वे रवीन्द्र-युग की ही उपज हैं; इस युग की उपज होते हुए अपने को एक दिग्गज के रूप में प्रतिष्ठित कर लेना यह कितनी बड़ी शक्ति का परि-

चायक है, इस बात का अनुमान किया जा सकता है।

रवीन्द्रनाथ जिस समय साहित्य-गगन में अपनी पूरी दीप्ति से प्रकाशमान थे, उस समय उस गगन के एक कोनें में अपने लिए एक स्थान बना लेना, और कुछ दिनों के लिए ही सही, अपनी तरफ लोगों का सारा ध्यान आकर्षित कर लेना, यह कम शक्ति का परिचायक नहीं था।

यहाँ मैं अपनी पुस्तक 'बंगला के आधुनिक कवि' से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करने का मोह संवरण नहीं कर सकता—

"नज़रुल की कविता ने एक जमानें में बंगला-साहित्य में बड़ा तहलका मचाया था। वे १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद एक धूमकेतु की तरह हाथों में 'अग्नि-वीणा' लेकर आये थे।"

नज़रुल इस्लाम का वैयक्तिक जीवन भी एक धूमकेतु की तरह रहा। एक धूमकेतु की ही तरह उन्होंने एकाएक साहित्य-जगत् में प्रवेश किया। वे पश्चिम बंगाल के एक बहुत गरीब घर में पैदा हुए थे। उनको ठीक-ठीक शिक्षा नहीं मिली, और उन्हें अपनी इच्छाओं का दमन करने की शिक्षा तो कभी मिली ही नहीं! वे प्रकृति के वरपुत्र के रूप में बढ़े, और इसी रूप में वे कवि भी हुए। बचपन में वे कई बार घर से भागे। भला घर का इकरस वातावरण उन्हें कैसे पसन्द आता? उनका गला अच्छा था, इस कारण कई बार वे नाट्य-मंडली में भी सम्मिलित हो गए। एक बार तो वे भागकर पूर्व बंगाल के एक गाँव में पहुँचे, और एक सज्जन के यहाँ नौकर हो गए। बाद को वे एक डबल रोटी वाले के यहाँ भी नौकर रहे।

जब १९१४ की लड़ाई छिड़ी, तो वे उसमें भरती हो गए, और अन्त तक हवलदार हो गए। लड़ाई से लौटकर उन्होंनें 'धूमकेतु' नाम का एक पत्र निकाला, जो अधिक नहीं चला, पर बंगला-साहित्य में उन्हें एक स्थान अवश्य देता गया। यदि कोई बंगला कवि यह कह सकता है कि वह एक दिन सवेरे जागा तो उसने देखा कि वह मशहूर है, तो वह नज़रुल ही है। रवीन्द्रनाथ की ख्याति तो धीरे-धीरे बढ़ी। हाँ, नज़रुल के एक समसामयिक बंगला-लेखक को भी इसी प्रकार रातों-रात ख्याति प्राप्त हुई, वह हैं श्री शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय।

नज़रुल के लिखने का यह हाल था कि कभी तो लिखते ही रहते, और इसी में रातें निकल जातीं। फिर हफ़्तों हो जाते, और वे कलम के पास तक नहीं फटकते। ऐसी हालतों में कई बार ऐसा हुआ कि उनके सम्पादक मित्रगण उन्हें एक कमरे में बन्द कर देते, और उन्हें कागज, कलम, चाय दे देते। फिर

घंटे-दो घंटे में उन्हें एक सुन्दर कविता मिल ही जाती।

जिस युग में नज़रुल ने साहित्य में प्रवेश किया, वह विद्रोह का युग था। यों तो क्रान्तिकारी गुट तथा व्यक्ति सन् १८५७ के विद्रोह की असफलता के बाद से ही क्रियाशील थे। बंग-भंग में बंगाल की जनता भी जग चुकी थी, पर अखिल भारतीय रूप में इस महादेश की जनता ने इसी समय अँगड़ाई ली। देखते-देखते वह उठ बैठी, और जय-यात्रा पर चल पड़ी। इसी समय काज़ी नज़रुल ने ललकारकर कहा—

'आमि दुर्वार
आमि भेङ्गे कोरि सब चुरमार,
आमि अनियम उच्छृङ्खल,
आमि दले जाई जतो वन्धोन
जतो नियम-कानून शृंखल।'

'मैं दुर्वार हूँ, मुझे कोई रोक नहीं सकता। मैं सबको तोड़-तोड़कर चकनाचूर करके रख देता हूँ। मैं अनियम हूँ, मैं उच्छृङ्खल हूँ; जितनें भी बन्धन हैं, नियम, कानून तथा शृंखला हैं, मैं उन्हें पैरों तले रौंदकर आगे बढ़ जाता हूँ।'

'विप्लव आनि विद्रोह कोरि,
नेचे नेचे गोंफे दिइ ताव'

'मैं क्रान्ति को बुला लाता हूँ, मैं विद्रोह करता हूँ, मैं नाच-नाच कर मूँछों पर ताव देता हूँ।'

'आमि धृष्ट,
आमि दाँत दिया छिड़ि विश्व-मायेर अंचल'

'मैं ढीठ हूँ, मैं दाँतों से विश्व माता के आँचल को फाड़ डालता हूँ।'

'आमि विद्रोही भृगु
आमि भगवान् बुके एँके देबो पदचिह्न
आमि सृष्टि-सूदन
शोक-ताप-हाना खेयाली विधिर
बक्खो कोरिब छिन्न।'

'मैं विद्रोही भृगु हूँ, मैं ईश्वर के सीने पर अपनें चरणों का चिह्न अंकित कर दूँगा। मैं संहारक हूँ, शोक, ताप आदि के प्रति एक तरह से उदासीन विधाता के सीने को फाड़ डालूँगा।'

नज़रुल की इस कविता में बम, माइन, डिनामिट की भरमार है। इस

समय तो हम स्वतन्त्र हो गए हैं और बम, माइन डिनामिट हमारे लिए मामूली चीज़ें हो गई हैं। पर उस युग में इन चीजों को कविता में लाना एक विशेष तरह की गुदगुदी पैदा करता था, जिसका अनुमान करना भी अब कठिन है। एक तो ऐसी शब्दावली, और दूसरे विद्रोही विचार। इन्होंने मिलकर उस युग के बंगाली नौजवानों के हृदयों को एकदम अपनें कब्जे में कर लिया।

काजी नज़रुल अपरिहार्य रूप से विद्रोही कवि थे। उनकी टेकनीक भी बहुत कुछ निजी ही थी। यद्यपि जैसा कि अनुमान करना कठिन न होगा, वे रवीन्द्रनाथ की छाप से मुक्त नहीं थे। इस बात को वे स्वयं भी समझते थे। तभी तो रवीन्द्र के जन्म-दिवस पर उन्होंने कहा था—

'हे रसशेखर कवि, तव जन्मदिनें
आमि कोये जाबो मोर नव जन्म-कथा
आनन्द सुन्दर तवो मधुर परशे
अग्निगिरि गिरि-मल्लिकार फूले-फूले
छेये गेछे।'

'हे रसशेखर कवि, तुम्हारे जन्मदिन पर मैं अपनी नई जन्म-कथा कह जाऊँगा। तुम्हारे आनन्द से सुन्दर मधुर स्पर्श से पहाड़ों की मल्लिका के हर फूल में ज्वालामुखी छा-सी गई है।'

फूलों में ज्वालामुखी की पैदा होने की कल्पना कितनी सुन्दर है?

काजी नज़रुल का विद्रोह अक्सर तो विद्रोह के लिए विद्रोह रूप लिये हुए था। यह भी एक सोपान है। जिस समय जर्जर सड़ी-गली पद्धति के विरुद्ध विद्रोह अनिवार्य हो जाता है, पर विद्रोहियों के मन में आगामी समाज-पद्धति का नक्शा स्पष्ट नहीं होता, उस समय विद्रोह को कोई उद्देश्यमूलकता का रंग प्राप्त नहीं होता। उस समय केवल विद्रोह करना और तोड़फोड़ मचाना, जो पद्धति मौजूद है, उसे जहाँ से भी हो विध्वस्त करना, अच्छा मालूम होता है, विद्रोह के बाद की अवस्था का स्पष्टीकरण उस समय आवश्यक नहीं ज्ञात होता। उस समय विद्रोह करना ही चरम लक्ष्य होता है।

काजी नज़रुल की कविता में उक्त प्रकार का विद्रोह ही अधिक दृष्टिगोचर होता है। इसमें सोद्देश्यता तथा बुद्धि से बढ़कर है स्वतः स्फूर्तता। ओजमय शब्दों के प्रवाह में वे हमें ऐसे बहा ले जाते हैं कि उसकी अन्तर्गत वस्तु का अभाव हमें बिलकुल नहीं खटकता। जब कानों के पास लड़ाई का बाजा बज रहा हो, और हमारा खून उबल रहा हो, उस समय कौन मथितार्थ की दन्त-कटाकटी में

पड़ता है ! बस हम भी सैनिकों की पंक्ति में खड़े होकर 'बायें-दायें, बायें-दायें' करते हुए चल पड़ते हैं।

पर नहीं, अधिकांश रूप में उनकी कविता निरे विद्रोह के लिए विद्रोह होने पर भी, और इस दृष्टि से अपने युग का प्रतीक होने पर भी काजी के मन में स्पष्ट उद्देश्य थे—

'महाविद्रोही रणक्लान्त
आमि सेइदिन हबो शान्त
जबे उत्पीड़ितेर क्रन्दन-रोल आकाशे बातासे ध्वनिबे ना
अत्याचारीर खड्ग-कृपाण भीम रणभूमे रणिबे ना
विद्रोही रणक्लान्त
आमि सेइ दिन हबो शान्त'

'मैं महाविद्रोही रणक्लान्त होकर उसी दिन शान्त हूँगा जिस दिन न तो उत्पीड़ित की क्रन्दन-ध्वनि आकाश में गूँजेगी, और अत्याचारी का खड्ग तथा कृपाण भयंकर होकर रणभूमि में नहीं दिखाई देगा। मैं विद्रोही रण-क्लान्त होकर उसी दिन शान्त हूँगा।'

इस प्रकार यह तो सत्य हो जाता है कि काज़ी नज़रुल के विद्रोह का उद्देश्य अत्याचार का अन्त कर देना था, पर अभी लक्ष्य बहुत दूर था, इस कारण उस पर जोर नहीं डाला जा रहा था। अभी तो विद्रोह पर ही जोर था। विद्रोह की चंडी जग तो जाय, फिर देखा जायगा। विद्रोह के लिए विद्रोह के भ्रम का और भी एक कारण था। वह यह कि जिधर देखो उधर सड़ी-गली पद्धतियाँ थीं, राजनीति में गुलामी थी, समाज में रूढ़ि तथा गतानुगतिकता का बोल-बाला था। स्वयं ईश्वर जो था, वह भी था धनियों के इशारे पर नाचने वाला !

यहाँ मैं एक बार फिर अपनी पुस्तक 'बंगला के आधुनिक कवि' से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करूँगा। "काज़ी नज़रुल भाषा पर जबरदस्त अधिकार रखते हैं, उनकी कविता की विशेषता ओजगुण है। उनके पहले के बंगला कवियों में द्विजेन्द्रलाल राय में ही शायद उनसे ज्यादा ओज है, किन्तु द्विजेन्द्रलाल का ओज भाव-प्रधान है, और काजी नज़रुल का भाषा-प्रधान।"

उनकी कविता में भाषागत चमत्कार इतना अधिक है कि कुछ लोगों का यहाँ तक कहना है कि उनसे भावों की गहराई की आशा करना व्यर्थ है। जर्मन महाकवि गेटे ने बायरन के विषय में कहा था कि जब तक बायरन सोचते नहीं हैं, तभी तक ठीक है, पर जिस घड़ी सोचने लगते हैं, उनका बचकानापन

खुल जाता है। श्री बुद्धदेव बसु का कहना है कि यही बात काज़ी नज़रुल पर भी लागू होती है। उनके अनुसार नज़रुल तथा बायरन में और भी समता है। 'उन्हीं की तरह नज़रुल की प्रतिभा ऐश्वर्यशालिनी है, पर उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता, न मालूम यह कब धोखा दे जाय। उनमें वही लट्ठमारपन है, वही रुक-रुक कर चलने वाला करीब-करीब स्वाभाविक प्रवाह है, बिना परिश्रम की अनायास प्राप्त कारीगरी है, अनायास प्राप्त और लापरवाह। सर्वोपरि विचारों की वही शीर्णता है।' पच्चीस साल तक वे प्रतिभा के वरपुत्र की तरह साहित्य-गगन पर चमके, पर उनमें प्रौढ़ता नहीं आई। उनकी रचनाओं के क्रम में विकास का कोई क्रम दृष्टिगोचर नहीं होता। उन्होंनें बीस साल की उम्र में जो लिखा, ३५ साल की उम्र में भी उसमें कोई फर्क नहीं आया।

उनकी किसी-किसी कविता में इज़राइल, इसराफ़ील, सर, कयामत आदि इस्लामी पुराण के व्यक्तियों, वस्तुओं तथा घटनाओं का उल्लेख है, किन्तु इससे उनकी कविताओं का खस्तापन बढ़ा है, न कि घटा। वे ऐसी उपमा, उपमेयों को लाकर बंगला में खपा देते हैं, और वे कुछ पृथक् ज्ञात नहीं होते। उनकी सौ में निन्यानवें कविताओं में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे यह मालूम हो कि वे मुसलमान कुलोत्पन्न भी है। उनकी कविता की जाति साम्प्रदायिक शब्दों में वर्णनीय नहीं है। यदि उसकी कोई जाति है, तो वह है आधुनिक तथा विद्रोही।

पर काज़ी नज़रुल को केवल विद्रोह का कवि कहना ठीक नहीं होगा। यद्यपि उन्होंने लिखा है—

'के बाजावे बांशी ?
कोथा पाबो अनिन्दित सुन्दरेर हाँसि ?
आजो शुधु आगमनी गाहिछे शानाई,
ओ केनो काँदिछे शुधु नाइ, नाइ, नाइ।'

'कौन बाँसुरी बजाये ? मैं कहाँ से अनिन्दित सुन्दर की हँसी लाऊँ ? आज भी शहनाई केवल आगमनी ही गा रही है मानो उसनें इसी की रट लगाई हो—नहीं है, नहीं है, नहीं।'

काज़ी नज़रुल ने प्रेम और विरह पर भी अनेक गीत लिखे हैं, और उनकी संख्या हज़ारों तक पहुँचती है। उनका गला अच्छा था, और वे संगीत के विशेषज्ञ थे। ग्रामोफोन कम्पनियों ने उनके गीतों से लाखों रुपये कमाये। झुमुर, भाटियाली, बाउल, गज़ल, ठुमरी, ख्याल, ध्रुपद, कीर्तन, श्यामा-संगीत तथा आधुनिक संगीत किसी शैली को भी उन्होंने अछूता नहीं छोड़ा। 'लीलायित

चंचल, अंचल परशने', 'शून्य ए बुके पाखी मोर फिरे आय' ये दो ख्याल की शैली पर गानें तथा दरबारी कनाड़ा का 'बाजे मृदंग बाजे', 'कि सुखे गृह रबो' कीर्तन प्रत्येक व्यक्ति की जबान पर चढ़ गए। केवल प्रचलित रागों पर ही नहीं, कई लुप्त सुरों का भी उन्होंने पुनरुद्धार किया। कौशिकी सुर में लिखित 'श्मशान जागिछे श्यामा, अन्तिम सन्ताने कोले दिते स्थान' तथा, शिबरंजनी सुर में 'हे पार्थ-सारथी, साजाओ-बाजाओ पांचजन्य शंखे' बहुत जनप्रिय हुए। गीतों के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ के बाद नजरूल का ही स्थान है। ग्रामोफोन-कम्पनियों के चक्कर में पड़कर उन्होंने कई ऐसी चीज लिखीं जिनका मूल्य संदिग्ध है, फिर भी वे अक्सर एक मानदंड के नीचे नहीं गये। कुछ विशेषज्ञों का यह कहना है कि जहाँ तक गीतों की संख्या का ताल्लुक है, वे दुनिया के किसी भी कवि से बाज़ी मार ले गए हैं। रवीन्द्रनाथ ने २००० गीत लिखे, पर नज़रुल ने अपेक्षाकृत कम समय में उनसे कहीं अधिक गीत लिखे। रेकार्ड के गानें में तो नज़रुल सबको बहुत पीछे छोड़ जाते हैं।

प्रेम की कविताओं में नज़रुल अपने युग के वातावरण से ऊपर न उठ सके, यानें रोमांचवाद में ही रह गए। फिर भी उनका रोमांचवाद उच्च कोटि का है। उनमें कीट्स की Pictorial quality (चित्ररूप), बायरन का Passion (आवेग) तो है, पर रवीन्द्रनाथ की गहराई का अभाव है।

रवीन्द्र-काव्य बंगला-साहित्य का सबसे बड़ा सम्पद है, पर काज़ी नज़रूल का महत्त्व एक दृष्टि से उनसे भी अधिक है। वह यह कि वे संयुक्त बंगाल के पुनरुद्धार में सबसे बड़ी शक्ति हैं। शुद्ध काव्य विचार में भले ही यह बड़ी बात न समझी जाय, पर जीवन, संस्कृति, इतिहास भी बड़ी चीजें हैं।

पाठकों को यह जानकर अपार दुःख होगा कि संयुक्त बंगाल का यह श्रेष्ठतम सांस्कृतिक प्रतीक कई वर्षों से मस्तिष्क-विकृति का शिकार हैं। इस मस्तिष्क-विकृति की कहानी भी एक कहानी है। मुसलमान होते हुए भी काज़ी नज़रूल ने एक हिन्दू महिला से विवाह किया था। उस समय कुछ लोगों नें इस विवाह की निन्दा की थी। पर काज़ी नज़रुल केवल नाम से ही मुसलमान थे। उनका यह विवाह बहुत सुखी रहा बाद को श्रीमती नज़रुल को पक्षाघात हो गया। इस पर काज़ी नज़रुल ने सारी चिकित्सा-पद्धतियों को आजमाया। पर अन्त में कुछ न होता देखकर गंडा-ताबीज़ और फिर यंत्र-मंत्र करने लगे। इन्हीं के चक्कर में उनका मस्तिष्क विकृत हो गया, और अब भी विकृत है। क्या कविवर की यह बीमारी देश की परिस्थिति को देखते हुए है ? जिस समय भाई-भाई का गला काट चुका हो, यहाँ तक कि देश के दो टुकड़े हो चुके हों, उस समय काज़ी नज़रुल क्या कह सकते हैं ?

२४

ताराशंकर के उपन्यास और कहानियाँ

ताराशंकर वन्द्योपाध्याय बंगाल के उज्ज्वलतम ज्योतिष्कों में हैं। वे सत्य को इस सुन्दर तरीके से कहते हैं कि असर पैदा होता है, पर वे वास्तविकता से बहुत दूर नहीं जाते। वे बुद्धिवादी से कहीं अधिक भावुक हैं। अपने विषय पर वे उस प्रकार से उज्ज्वल रोशनी नहीं डालते कि आँखें चकाचौंध हो जायँ, बल्कि उसके पास उसी प्रकार से पहुँचते हैं जैसे एक रहस्यवादी या पूजक अपने देवता के पास पहुँचता है। उनके साहित्य का आकार विराट है, फिर भी यह स्पष्ट झलक जाता है कि वे जितना लिखते हैं, उससे कहीं अधिक अनुभव करते हैं। वे अपनी सर्वश्रेष्ठ कृतियों में ही भावुकता से ऊपर उठ पाते हैं, पर वहाँ भी अपनी बातों को एक उच्चतर भावुकता से मंडित करके ही पेश कर पाते हैं। ताराशंकर बड़ी-बड़ी आँखें निकालकर जगत् को घूरते नहीं, वे आविष्कार करते हैं। वे व्याख्या नहीं करते, सृजन करते हैं।

ताराशंकर एक सफल कहानी-लेखक तथा उपन्यासकार हैं। उनकी उच्च कला अपने राजनैतिक सिद्धान्तों को चिल्ला-चिल्लाकर घोषित किये बगैर ही अपना कर्तव्य कर सकती है। वे वास्तविकता को बहुत स्पष्ट रूप से देखते हैं। उसके किसी भी उपन्यास को लीजिए, उसमें एक से अधिक पुश्त तथा वर्ग को लेकर कहानी का ताना-बाना बनाया गया है। 'कालिन्दी', 'धात्रीदेवता', 'पंचग्राम', और 'गणदेवता' ये हैं ताराशंकर के उपन्यास, जिनमें वर्ग-संघर्ष का अत्यन्त स्पष्ट चित्रण है, जिससे ज्ञात होता है कि वे समाज के इस पहलू को कितनी अच्छी तरह से समझते हैं।

वे अक्सर देहात की पृष्ठभूमि को लेकर चलते हैं, और सालों के दौरान में वहाँ क्या सामाजिक परिवर्तन होते हैं, उसे देखते हैं। दोनों शिविरों के चरित्र सामने आते हैं, और कलाकार दोनों के प्रति सहानुभूति का प्रदर्शन करते हैं। ह्रासशील सामन्तवादी आभिजात्य उनके हाथों गौरव के साथ

भरता है। ग्राम्य समाज की कथित निम्न श्रेणी के पात्र अपने वर्ग के प्रतिनिधि होते हुए भी ऐसे सामने आते हैं कि उनका अलग-अलग अस्तित्व तथा इतिहास है। उनके चरित्रों की वैयक्तिकता बिलकुल स्पष्ट रहती है, क्योंकि वे सब-के-सब मानवीय हैं। उनकी रचनाओं में सर्वत्र पूँजीवादी पद्धति का खूँख्वारपन दृष्टिगोचर होता है, और जनता को चुपचाप कष्ट उठाने वाला दिखाया गया है।

'धात्री देवता' में उन्होंने ह्रासशील सामन्तवाद, जागरूक देहाती जनता और मध्यम वर्ग से उत्पन्न क्रान्तिकारी बुद्धि की बात दिखाई है। वर्गों के विभिन्न संघर्ष के अन्दर से ऐतिहासिक विकास के फलस्वरूप नेता पैदा होते हैं। साहित्य में इस प्रकार का सृजन न केवल कला की दृष्टि से महान् है, बल्कि प्रगतिशील बंगला साहित्य में एक नए दौर की सूचना देता है।

'गणदेवता' और 'पंचग्राम' में भी लेखक करीब-करीब इसी विषय-वस्तु को लेकर चलते हैं, और समाज में विकास के सूत्र को उसी प्रकार से उधेड़कर दिखाते हैं। 'मन्वन्तर' अगस्त क्रान्ति की पृष्ठभूमि तथा शहरी वातावरण में १९४३ के विकराल दुर्भिक्ष को लेकर लिखा गया है। इससे पता चलता है कि ताराशंकर मुलायम भावुकता से छुट्टी कर चुके हैं, और उनमें एक कड़वापन भरा अधैर्य दृष्टिगोचर होता है। दुर्भिक्ष का नग्न-से-नग्न चित्र दिखाया जाता है, पिता अपनी पुत्री को बेच रहा है, पति अपनी पत्नी को। चक्रवर्ती-परिवार हजारों को तबाह करके एक मुट्ठी दान देकर दानी होने का यश प्राप्त करता है। दुर्भिक्ष गरीबों के लिए एक चिरंतन वस्तु है, और खरीद-फरोख्त चला जा रहा है।

इधर ताराशंकर में जो महान् परिवर्तन हुआ है, उससे उनके पाठक अपरिचित नहीं हैं। मुलायम भावुकता छोड़कर उन्हें कड़वापन अपनाना पड़ा है। पहले वे अपनी रचनाओं में किसी गम्भीर सत्य की दूर की झलक दिखाते थे, पर अब तो वे अनभ्यस्त आँखों के सामने भयंकर मुँह बाये हुए घाव को रख देते हैं, जिसे देखकर देखने वाला अकस्मात् घबरा जाता है।

'हाँसुली बाँकेर उपकथा' हाल में लिखा हुआ उपन्यास है। इसमें एक संग्रामशील तबके की याने बहिष्कृतों की दयनीय कहानी दी गई है। उन्हें न मरकर शान्ति है, न जीकर। कहार गाँव में इस कारण बसाये गए थे कि डोली-पालकी ढोने की जरूरत थी, पर जब इस काम की गुँजाइश नहीं रही तो कहारों ने चोरी और डकैती अख्तियार की। इससे जेलखाने की नौबत आने लगी, तो इन लोगों ने किसनई अख्तियार की। महायुद्ध के साथ-ही-साथ

उन पर दुर्भिक्ष का वार हुआ, और वे फिर एक बार अव्यवस्थित हालत में होकर उखड़ गए। इस उपन्यास में ताराशंकर का वह आशावाद जो 'धात्री-देवता' तथा 'गणदेवता' में दृष्टिगोचर था, बिलकुल नहीं मिलता। इसमें एक अजीब निराशावाद का बोल-बाला है। अन्त तक उपन्यासकार इसी शैली पर चलता है, और प्रगतिशील साहित्यिक के लिए बहुत ही दुर्लभ निराशापूर्ण वातावरण चित्रित करता है—

जल फेलित नाई रे भाई
जल फेलिते नाई
विधाता बुडिर खेला देखे जा रे भाई !
—'आँसू न बहा रे भाई
आंसू न बहा
विधाता बुढ़िया का खेल देखे जा रे भाई !'

यह कथन निराशा में पड़े हुए तकलीफ उठाने वालों के लिए कोई सान्त्वना नहीं है। एक अस्पष्ट आशावाद किसी को कहाँ तक खड़ा रखे ?

ताराशंकर की कृतियों में 'आगुन' एक प्रधान उपन्यास है। यह उनकी प्रथम रचनाओं में हैं। ताना-बाना तथा सौंदर्य की दृष्टि से यह उपन्यास बहुत सफल है। इस की पृष्ठभूमि में प्रेम और सौंदर्य के रोमांस से मंडित एक लड़की है। यह झिलमिल दुर्बल कन्या असफलता की मार खाई हुई आधुनिक बौद्धिकता की शिकार हो जाती है। इस प्रकार की सुकुमार प्रकृति उदासीनता की लहरों तथा प्रति लहरों के बीच में पड़कर टूट जाती है, यद्यपि उसकी गति का मंडल कोई वहुत विशाल नहीं है। इसका स्वाभाविक नतीजा यह होता है कि अन्त में हम एक पगली लड़की को आंसूओं के अन्दर से नाचती हुई पाते हैं। नायक चन्द्रनाथ बिजली की गति से काम करता है, पर वह अंत तक अन्ध भाग्य के हाथों में पकड़ा जाता है।

ताराशंकर की कहानियाँ अपने विषयों की विविधता, वस्तुवादी चित्रण, तथा सूक्ष्म कलामयता के लिए प्रसिद्ध हैं। उनकी अधिकांश कहानियों में अन्तप्रेरणा और भावुकता का कलामय सम्मिश्रण है। उनकी 'बेदेनी' या 'बद्नी' नामक कहानी एक ऐसी लड़की की कहानी है जो मध्यवित्त श्रेणी की इकरसता से कोसों दूर है। उसकी प्रकृति बिलकुल जंगली है, पर वह भी मानवीयता के दायरे में ही घूमती है। वन्यता के कारण लड़की की मानवीयता और भी प्रिय हो गई है।

'रांगाबीदी' या खूबसूरत दीदी कहानी एक सुन्दर नौजवान लड़की की

कहानी है, जिसकी शादी एक बूढ़े से कर दी गई है। यह लड़की विद्रोहिनी है—समाज के अन्याय की प्रतिक्रिया का मूर्त रूप। वह अपनी अतृप्त वासनाओं की शिकार हो जाती है। गाँव के अपने प्रेमियों को निराश करके शहर में जाकर वह अपनी वासना को बे-लगाम छोड़ देती है। 'काँटा' एक विधवा दीदी की कहानी है जिसे कहीं कोई नहीं चाहता। यह हिन्दू-समाज की विधवा की चिरंतन कहानी है।

विकृत मस्तिष्क लोगों को लेकर ताराशंकर ने भी कुछ छोटी कहानियाँ लिखी हैं। इनमें से दो बहुत अच्छी हैं। एक तो 'टैरा' याने कैंचा और दूसरा 'तिन शून्य' याने तीन सिफर। 'कैंचा' एक कैंचा और लँगड़े अनाथ बच्चे की कहानी है, जिसका व्यवहार बड़ा ही असभ्य है। पर इस असभ्यता के बावजूद उसके मन में एक बूढ़े फकीर के लिए अगाध प्रेम है। जब यह बूढ़ा फकीर मर गया, तो जीवन के प्रति उसका कोई प्रेम नहीं रहा और वह जंगल में चला गया। दूसरी तरफ तीन सिफर कहानी में जिस लँगड़े की कहानी है, उसमें निष्ठुर प्रकृति का बदला दिखाया गया है। दुर्भिक्ष के दिनों में एक भूखी औरत को एक बच्चा पैदा हुआ, यह बच्चा लँगड़ा तो था ही, साथ ही वह बीमारियों का घर था। माँ तो मर गई, पर बच्चा समाज पर बदला लेने और उसे आघात देनें के लिए रह गया। कलाकार के कड़वे हृदय से निकला हुआ यह एक क्रुद्ध चाबुक है।

ताराशंकर ने हास्य रस की कहानियाँ कम लिखी हैं, पर जो भी लिखी हैं, उनमें निर्मल हास्य रस है। वे व्यंग्य कहीं करते, केवल दिल खोलकर हँसते हैं। 'माछेर काँटा' में भौजाई के साथ लड़ाई दिखलाई गई है, जो बहुत मामूली कारण से शुरू होती है। पहले मछली के काँटे पर दो भाइयों की स्त्रियों में झगड़ा हुआ, फिर भाइयों में झगड़ा हुआ। जब भाई अच्छी तरह झगड़कर बाहर चले गए, तो भाइयों की स्त्रियों को यह डर हुआ कि कहीं ये लोग जो लड़कर गये हैं बाहर खून-खराबी न कर बैठें। इस पर वे आपस में सुलह कर लेती हैं, और फिर अपने पतियों से कहती हैं कि खैर हम लोग लड़ गईं, हम तो विभिन्न घरानों से आई स्त्रियाँ हैं। तुम लोग क्यों लड़े? तुम लोग तो भाई-भाई थे, फिर इतनी छोटी बात पर क्यों लड़े? इसे पढ़ते समय शरत् बाबू की प्रसिद्ध कहानी 'रामेर सुमति' की याद आ जाती है।

'ईस्ट बंगाल बनाम मोहनबगान' ताराशंकर की विख्यात कहानियों में है। लगी लगाई शादी फुटबाल की पार्टीबाजी के कारण टूट जाती है। 'दिल्ली का लड्डू' में यह दिखाया गया है कि विधुर के द्वितीय विवाह पर जनमत कैसे

चलता है। पर जब स्वार्थ की बात आती है तो लोग कैसे बदलते हैं, यह भी दिखलाया जाता है। एक बड़ी बहन की बात दिखलाई जाती है जो एक विधुर की दूसरी शादी का विरोध करती है, पर जब यह कहा जाता है उसी की बहन से उसकी शादी होगी, तो उसकी राय बदल जाती है। 'पंचरुद्र' नामक कहानी में भक्तों की आपसी होड़ का चित्रण है। ईश्वर की मूर्तियों के साथ ऐसा विषम व्यवहार होता है कि यदि वे पत्थर के बजाय रक्त-मांस की बनी होतीं तो वे विद्रोह करतीं, और भक्तों के सामने रहने में लज्जा का अनुभव करतीं।

ताराशंकर का उदय 'कल्लोल' नामक मासिक पत्रिका के इर्द-गिर्द एकत्र एक लेखक के रूप में हुआ। और तभी से ज्ञात हो गया कि उनका भविष्य उज्ज्वल है।

उपन्यासकार के रूप में ताराशंकर वीरभूमि जिले को लेकर चलते हैं। एक दूसरे बंगला-उपन्यासकार शैलजानन्द का भी क्षेत्र यही है, पर उनके यहाँ मजदूरों, कुलियों की भरमार रहती है। ताराशंकर के यहाँ किसानों; जमी-दारों की भी। इस दृष्टि से ताराशंकर प्रेमचन्द के समीप हैं। गाँव के सभी तरह के पात्र उनके उपन्यासों में चित्रित हैं। प्राचीन और नवीन का संग्राम उनके उपन्यासों के प्रत्येक पृष्ठ में है। उनके बहुत से उपन्यास आवारों की कहानियों से पूर्ण है, ऐसे-ऐसे आवारे, जिनकी कहानी बड़ी रोचक है।

यह कहना तो गलती होगी कि ताराशंकर ने जैसे साहित्य की सृष्टि की है, उस वस्तु को लेकर उससे अच्छा नहीं हो सकता, पर मैं श्री बुद्धदेव वसु के इस कथन से सहमत नहीं हूँ कि ताराशंकर अपनी विषय-वस्तु के साथ न्याय नहीं कर सके।

श्री बुद्धदेव बसु और ताराशंकर का झगड़ा बंगला-साहित्य में पुराना है। यह वैयक्तिक झगड़ा नहीं, बल्कि दो मतवादों का झगड़ा है। दोनों शक्तिशाली लेखक हैं, पर ताराशंकर सामाजिक अन्तर्गत वस्तु की दृष्टि से बुद्धदेव से कहीं श्रेष्ठ है।

श्री बुद्धदेव वसु लिखते हैं :—

"यदि ताराशंकर चाहते तो इन्हीं मसालों से बहुत अच्छे उपन्यासों की रचना कर सकते, पर उनको तो दो-एक उपन्यासों पर परिश्रम करने के बजाय ढेरों रचना की पड़ी रहती है। उनके द्वारा चित्रित प्राचीन बंगाल प्रिस्टले के प्राचीन इंग्लड की तरह इसी में नया है कि उससे लोग अपरिचित हैं, नहीं तो यह नैतिक रूप से गतानुगतिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दरिद्र है। उनके

द्वारा चित्रित वीरभूमि केवल काल और पात्र मे है, वह हार्डी के एसेक्स की तरह चिर तन मे नही ह । उनके उपन्यास उसी प्रकार से ऐडी बडी गति वाले है जिस प्रकार से उनके पात्र-पात्रिया है । वे शिथिल ह, पर चित्रकारी के गुणो से समन्वित है, ऐसा मालूम होता है कि वे लेखक की नोट बुक के नोट हे, न कि उसके द्वारा तैयार की हुई सु दर रचना। उनकी रचनाओ मे कथावस्तु की प्रचुरता तथा ऐश्वय देखकर विस्मय होता है, पर इससे भी अधिक क्षोभ होता है कि इस ऐश्वय का यह अपव्यय हुआ। उनकी रचनाओ को उप यास के लिए वस्तु कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। प्रबोधकुमार के बिलकुल विपरीत ताराशकर के पास लिखने का मसाला काफी है, पर वे लिखना नही जानते। बात यह है कि ... ह कीट्स भी जिसकी कल्पना नही कर सकते थे, विचारो के बनिस्बत ऐसी सनसनी पसन्द है। उनके पास तथ्यो का बडा भारी पिटारा है, पर जूलियेट की नस की तरह वे देखते ह पर किसी नतीजे पर नही पहुँच पाते, वे चीजो के पीछे तो देख पाते है, पर आगे नही देख पाते।

"उनकी शब्दावली कम ह, और उनमे एक इलाके की बू आती है। वे बहुत सी ज्ञात बातो को, जो करीब-करीब कहावत के रूप मे हो चुकी है, बहुत व्यवहार करते हे।"

—'An Acre of Green Grass'

हाँ यह बात तो सत्य है कि ताराशकर के उपन्यास खूब अच्छी तरह योजनाबद्ध नही ह पर दुनिया के श्रेष्ठ उपन्यासकारो मे थकरे, डिकेन्स, प्रेमचन्द की यही हालत है। इस कारण इसे शिथिलता न कहकर उपन्यास की एक शैली कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

विरुद्ध समालोचना करने पर भी श्री बुद्धदेव वसु यह मानने पर मजबूर होते है कि ताराशकर की कहानिया सुग्रथित है, पर इसके लिए वे ताराशकर की प्रशसा न करके कहानी कला को श्रेय देते हे कि इसके कारण ताराशकर बहक न सके। बुद्धदव को इस बात का दुख ह कि ताराशकर कहानियो के बजाय दीर्घ उप यास लिखने मे ही अधिक रुचि दिखलाते हे पर इसका कारण क्या है इस पर वे नही जाते। ताराशकर जीवन के किसी एक अश पर रोशनी को झलक डालने के बजाय कई पुश्तो के विकास पर उज्ज्वल सर्चलाइट डालना पसन्द करते ह। ताराशकर के सम्बन्ध मे बुद्धदेव का यह कहना कि वे पाठक को ले जाकर एक ऐसे रगमच के सामने दिन के समय खडा कर देते है, जहा सूय की रोशनी प्रचुर मात्रा मे है, और जहाँ रिहर्सल चल रहा है, बिलकुल अत्युक्ति है। असली बात तो यह है कि वे सत्य को

अत्यन्त नग्न रूप में दिखाते हैं, घाव को बिलकुल खोलकर सामने रख देते हैं।

बुद्धदेव की एक शिकायत यह भी है कि ताराशंकर की पुस्तकों में श्रृङ्गार रस नहीं है। यह बात सच है कि वे बुद्धदेव आदि उपन्यासकारों की तरह श्रृङ्गारात्मक कथावस्तु को ही उपन्यासकार का एक-मात्र उपजीव्य नहीं मानते, पर वे उसे एकदम प्रधानता नहीं देते यह बात गलत है। 'आगुन' में ताराशंकर नें तरुण प्रेम का वर्णन किया है। अन्य उपन्यासों में भी इसका पुट है, पर वे इसी में अपनी कला की इति श्री नहीं करते। यह दोष नहीं गुण है। जहाँ उपन्यास कहानी का अर्थ है बे-सिर-पैर की अवास्तविक प्रेम-कहानी, वहाँ ताराशंकर-ऐसे उपन्यासकार की बहुत आवश्यकता है जो हमारी दृष्टि को सिनेमा के अस्वाभाविक प्रेम से हटाकर जीवन के गंभीर पहलुओं पर ले जाय।

हिन्दी में ताराशंकर के उपन्यासों और कहानियों का अधिक प्रकाशन नहीं हो पाया। एक दिन हिन्दी में ताराशंकर बहुत लोकप्रिय होंगे, यह बात अभी से कही जा सकती है।

२५

उदयशंकर की 'कल्पना'

उदयशंकर-रचित तथा अब कह सकता हूँ उदयशंकर से ओत-प्रोत इस नृत्य-चित्र की चर्चा बहुत दिनों से थी। यह चित्र तीन वर्षों के परिश्रम से और कोई २५ लाख रुपयों के खर्च से बना। एक तो भारत के सबसे बड़े नृत्य-कलाकार की परिचालना, क्योंकि उदयशंकर भारतीय नृत्य के क्षेत्र में वही स्थान रखते हैं जो साहित्य के क्षेत्र में कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ को प्राप्त था और है, फिर इतना समय लगा, इतने रुपये खर्च हुए, और प्रथम श्रेणी के इतने कलाकारों का सहयोग प्राप्त हुआ, इसलिए जनता के सामने आने के पहले ही इस चित्र का रौब यों ही छाया हुआ था।

प्रचार तथा प्रसार की दृष्टि से इस परिस्थिति का भले ही स्वागत किया जाय, पर समालोचक की दृष्टि से यह परिस्थिति विशेष सुखकर इस कारण नहीं थी कि प्रचार के रौब में आकर कसौटी के दूषित होने का भय कुछ कम नहीं था। नृत्य-कलाकार के रूप में उदयशंकर की प्रतिभा सर्वजन स्वीकृत होने पर भी, उनके लिए बोलपट एक नया क्षेत्र था, और इसमें उनका कृतित्व मान नहीं लिया जा सकता था। ये बातें इस कारण कही जा रही हैं कि यह स्पष्ट हो जाय कि किस प्रकार की निस्पृह भावना लेकर हम इसकी समालोचना में प्रवृत्त हुए हैं।

इस चित्र के सम्बन्ध में सबसे पहली बात तो यह है कि अब तक इस क्षेत्र में भारतवर्ष में जो कुछ भी बना है, उनसे यह श्रेणीगत रूप से बिलकुल अलग है, क्योंकि इसमें बातचीत होते हुए भी वह न तो इसका मुख्य माध्यम है न उपजीव्य। इसका एक-मात्र माध्यम नृत्य तथा गीत है, और उनमें भी नृत्य अधिक और गीत कम। उदयशंकर इसके निर्माता हैं, इस दृष्टि से यह स्वाभाविक है कि नृत्य को इसमें प्रधानता प्राप्त हुई। इसके नृत्य तथा गीत में अच्छे-से-अच्छे कलाकारों ने सहयोग किया है, पर जैसा कि कल्पनीय है

उदयशकर ही इन कल।कारो मे सवश्रेष्ठ हे ।

जो लोग उदयशकर के जीवन से परिचित है, वे जानते है कि उदयशकर की यह 'कल्पना' केवन कल्पना-विलास ही नही। इसकी पृष्ठभूमि मे उदयशकर का धडकता हुग्रा हृदय तथा गतिमय जीवन है। यो तो प्रत्यक सफल कलाकार की कलाकृति के पीछे ग्र।त्मानुभूति, ग्राप-बीती होती ही हैं। कहा जाता है कि महाकवि गेटे के प्रत्येक काव्य के पीछे एक वास्तविक जगत् की सुन्दरी रहती थी। गेटे कभी वृद्ध हुए ही नही। सत्तर साल की उम्र मे भी उनके जीवन मे वस त का ग्ररुण राग बना हुग्रा था। इसी प्रकार 'कल्पना' की पृष्ठभूमि मे उदय के रूप मे हम उदयशकर को देखते है तथा नायिकाग्रो के रूप मे जिन्हे देखते है वे वास्तविक जगत् की स्त्रियाँ है। सक्षेप मे सारी कथा का सम्बन्ध उदयशकर के जीवन से है। ग्रवश्य इस चित्र मे ऐसे भी हिस्मे ह जो काल्पनिक है, पर हम उन्हे ग्रासानी से पहचान सकते हैं। ऐसे स्थानो पर क न क कुछ पतला हो गया है ग्रौर उसकी गति ग्रपेक्षाकृत शिथिल है।

इस नत्य चित्र मे विषय की दृष्टि से इतने उपादान है कि इन्हे एकत्र करके दिखाने के कारण चित्र इतना भारग्रस्त हो गया है कि दृश्यमान रूप से क्रम का सूत्र टूट सा जाना है, ग्रौर ग्रन्त मे भी कोई denouement या गाँठ खुलनी हुई ज्ञात नही होती। पर हममे से प्रत्येक जीवन भी तो ऐसा ही है। एक परिष्कृत उपन्यास, नाटक या कथा म क्रम भी होता है, ग्रौर ग्रन्त में एक गाँठ भी खुलती है, पर जीवन मे ऐसा कहाँ होता है। फिर भी उसमे एक क्रम होता है इसे कौन ग्रस्वीकार कर सकना है? रहा गाँठ का खुलना, सो मृत्यु जहा भी ग्रा जाती है एक पूरा विराम तो होता है। कुछ लोग शायद मृत्यु को ग्रन्तिम ग्रक मानने मे ग्रसमथ रहकर ही मृत्यु से परे भी एक जीवन की कल्पना करते है कि इस प्रकार सारा मिलकर एक क्रमबद्ध ग्रथिमोचनयुक्त कथा हो जाय। यदि 'कल्पना' का क्रम कुछ शिथिल है, तथा उसमें कोई ग्रथि-मोचन दिखाई नही देता, तो हम यही कह सकते है कि उदयशकर की 'कल्पना' जीवन की तरह ही ग्रसुसम्बद्ध है।

'कल्पना' मे हम भारतवष की सारी नृत्य-कला को समाविष्ट पाते है। सब तरह के शास्त्रीय नृत्यो के साथ साथ प्रत्येक प्रा त का लोक नृत्य भी इसमे दिखाया गया है। केवल यही नही इन सबका निखरा से-निखरा रूप हमे देखने को मिलता है। ग्रौर किसी कारण से नही तो केवल भारतीय नृत्य-कला के इस विपुल समावेश के कारण ही यह चित्र ग्रमर रहने के लिए बाध्य है।

इसके नृत्य वाले हिस्सों को अलग काट लेने पर वह नृत्य के छात्रों तथा छात्राओं के लिए एक-उत्कृष्ट referenee work या कोष का काम दे सकता है। स्मरण रहे कोप शब्द अर्थ भांडार है। इस नृत्य-चित्र में कथक, कथाकलि, संथाली, नागा, मणिपुरी, पंजाबी, राजपूत, सिंहली, यव और बलि-द्वीप के नृत्य के उत्कृष्ट नमूने पिरोये हुए हैं। हमारी आँखों के लिए यह चित्र एक भोज के रूप में है, पर इसका आवेदन केवल आँखों तक सीमित नहीं, यह आँख से होकर सीधे हमारे मर्मस्थल पर पहुँचता है, और ऐश्वर्य-शाली भूत काल के साथ हमारा साक्षात्कार कराता है।

ऐसे सब पहलुओं को छूना सम्भव नहीं। इस कारण हम केवल उन्हीं पहलुओं पर दो-एक शब्द कहेंगे, जिन पर 'कल्पना' के किसी समालोचक की दृष्टि नहीं गई। एक कलाकार उदयन के इर्द-गिर्द 'कल्पना' दौड़ती है। यद्यपि यह कलाकार कला में इतने बूढ़े हुए हैं कि उन्हें अपने पुरुषत्व के सम्बन्ध में सज्ञानता कम है, पर उनकी चारों तरफ उनकी कला के मधु से पागल स्त्रियाँ एकत्र हो जाती है। ऐसी स्त्रियों में उमा, कामिनी आदि हैं। पर कला के लिये यह प्रशंसा, कलाकार के लिए प्रशंसा और प्रेम में परिणत हो जाती है। कला-केन्द्र की सब छात्राओं के कमरों में उदयन की तसवीर है। सब छात्राएँ मन में उदयन के लिए प्रेम की भावना रखने लगती हैं, और फिर तो ईर्ष्या आदि आनुसंगिक भावनाएँ आ जाती हैं। हद तो यह है कि हत्या और आत्म-हत्या की नौबत आती हैं।

एक निस्पृह कलाकार को इस बात से बड़ा आश्चर्य होगा कि कला के जगत् में ईर्ष्या और आत्म-हत्या का स्थान कहाँ है, पर यही जीवन है। उदय-शंकर का यह आत्मानुभूति लब्ध सत्य है कि स्त्रियाँ-स्त्रियाँ ही रहेंगी, वे कला से शुरू करके कलाकार से प्रेम करने लगती हैं, और इस कारण कला-केन्द्र ऐसे स्थान का वातावरण वह नहीं रहता जो होना चाहिए। कला अपने को हाथी के दाँतों से बने हुए मीनार में बन्द कर लेना चाहती है, पर जीवन वहाँ घुस पड़ता है। फलस्वरूप ऐसी समस्याएँ और गुत्थियाँ पैदा हो जाती हैं जिनसे काल्पनिक कला का कोई सम्बन्ध ही नहीं है, और कला-केन्द्र ऐसी संस्था के टूटने की ही नौबत आती है।

उदयशंकर नारी-हृदय के इस गहरे रहस्य को पकड़ पाने के लिए बधाई के पात्र हैं। उदयशंकर ने जो कुछ दिखाया वह सही है। पर उन्होंने इसके दूसरे पहलू को नहीं दिखाया, इस कारण वह एकदेशीयता दोष दुष्ट हो गया है, और हम कह सकते हैं कि यह केवल पुरुष का दृष्टिकोण है। जिस प्रकार से स्त्रियाँ

कला से शुरू करके कलाकार को चाहने लगती हैं, उसी प्रकार से क्या यह सही नहीं है कि पुरुष भी किसी कलकण्ठी या अन्य कलाकार स्त्री की कला से मुग्ध होकर फिर उसके शारीरिक प्रेम की तरफ नहीं बढ़ता ? इस विषय में ब्यौरे में जाने की आवश्यकता नहीं, मनोविज्ञान की पुस्तकें ऐसी घटनाओं के टोकरियों उदाहरणों से भरी पड़ी हैं। आना पावलोवा, ग्रेटा गार्बो को जाने दिया जाय, श्रीमती विजयलक्ष्मी को अब तक प्रशंसकों की तरफ से अजीब-अजीब पत्र मिलते रहते हैं। हमें सिर्फ यही कहना है कि यदि कला-केन्द्र के शीर्षस्थान पर उदयन न होकर आना पावलोवा ऐसी कोई नटी होती, तो कोई पुरुष ही आत्महत्या करता, न कि कामिनी। उदयशंकर ने जो एकदेशीय चित्र खींचा है, वह इस कारण है कि उनका तजुर्बा ऐसा ही था। आत्मकथामूलक दृष्टिकोण की कमजोरी यही है कि मनुष्य अपनी अभिज्ञता से परे नहीं जा पाता।

दूसरी बात, जिस पर समालोचकों ने कुछ ध्यान नहीं दिया वह यह अनुभूति है कि आज के युग में कला की बहिरंग आवश्यकताएँ इतनी बढ़ गई हैं कि उसके लिए यह सम्भव नहीं है कि वह धनकुबेरों की पृष्ठपोषकता के बगैर बढ़े और यदि धनकुबेर कला में दिलचस्पी लेते हैं तो कला के लिए नहीं, बल्कि अश्लीलता तथा अन्य कारणों जैसा दिखावे के कारण लेते हैं। कहना न होगा कि एक कलाकार के लिए यह बड़ी ही मर्मभेदी बात है। हम उदयशंकर के कलाकार-हृदय की इस चीख को 'कल्पना' में मूर्त देख सकते हैं। कला-मर्मज्ञता से वंचित इन धनकुबेरों की कुत्सित पृष्ठपोषकता से बचने का एक ही उपाय है, वह यह कि जनता की सरकार कला-केन्द्रों को चलाने का बीड़ा खुद उठा ले, जैसा कि रूस में है। कला को अरसिक धनकुबेरों के पंजों से मुक्त कर उसे जनता की सरकार की छत्रछाया में लाना ही पड़ेगा।

उदयशंकर के लिए यह बड़े कृतित्व की बात है कि प्रेम और सौन्दर्य के जिस जगत् की उन्होंने 'कल्पना' की है उसमें भी वे दिखा देते हैं कि आने वाला जगत् किसका होगा। उन्होंने दिखलाया है कि वह दिन दूर नहीं है जब जगत् में मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण का अन्त हो जायगा। सारे चित्र में इस अन्तर्धारा के कारण यह चित्र एक बहुत ही प्रगतिशील चित्र बन गया है। हम इस मुकुर में स्पष्ट देख सकते हैं कि प्रतिक्रिया और प्रगति की शक्तियों में सारे जगत् के मोर्चे पर जो संग्राम चल रहा है, उसमें उदयशंकर प्रगति के पक्ष में हैं।

२६

विज्ञान में बढ़ती हुई अनास्था

आदिम मनुष्य प्रकृति के सम्मुख बिलकुल असहाय था, ठीक उसी प्रकार जैसे एक पशु होता है। पर उसने अपनी विकासमान बुद्धि तथा सतत वृद्धिशील ज्ञान-राशि के द्वारा प्रकृति पर विजय प्राप्त करना आरम्भ किया। मनुष्य इस जय-यात्रा में जितना अग्रसर हुआ, वह उतना ही सभ्य हुआ। दूसरे शब्दों में प्रकृति पर विजय की मात्रा ही सभ्यता का मानदण्ड है। मनुष्य ने यह विजय विज्ञान के सहारे प्राप्त की। लोग विज्ञान का नाम सुनते ही जिस प्रकार बड़े-बड़े यन्त्र और टर्बाईन एंजिन आदि सोचनें लगते हैं, विज्ञान केवल वही नहीं है। विज्ञान में ऐसा सारा ज्ञान आ जाता है जो प्रयोग की कसौटी पर खरा उतर सके। अध्यापक टी. हक्सले विज्ञान की परिभाषा यों करते हैं—"विज्ञान से मैं ऐसे ज्ञान को समझता हूँ जो गवाही (Evidence) तथा तर्क पर अवलम्बित है।" डॉक्टर एलेग्ज़ेण्डर हिल कहते हैं—सब बुद्धिसंगत ज्ञान-विज्ञान है।

स्वाभाविक रूप से मनुष्य ज्यों-ज्यों सभ्य हुआ, यानें मनुष्य के विज्ञान का भण्डार ज्यों-ज्यों भरने लगा, त्यों-त्यों उसमें जादू टोना और धर्म-विश्वासों का ह्रास होनें लगा। जादू टोना या उसका उन्नत रूप धर्म के साथ विज्ञान का यह विरोध कोई आकस्मिक नहीं था। जादू टोना तथा धर्म भी उसी समस्या या उन्हीं समस्याओं को सुलझानें का दावा करते थे जिन्हें विज्ञान सुलझा रहा है। मानव के सामने समस्या थी प्रकृति पर विजय प्राप्त करना, जादू टोना और धर्म भी इसका दावा करते थे। पर उनका तरीका प्रयोगात्मक न होकर मननात्मक बल्कि केवल दावामूलक था। अवश्य धर्मध्वजियों नें जहाँ-तहाँ अपने मतलब के लिए वैज्ञानिक आविष्कारों को धर्म के साथ मिलाकर काम में लगाया तथा मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का पूरा-पूरा फायदा उठाया। इस वक्तव्य का कुछ स्पष्टीकरण किया जाय।

यदि कोई आधुनिक सर्जन किसी देवता की आडम्बरपूर्ण पूजा करके आपरेशन करे, बल्कि सारे आपरेशन को ऐसे करे मानो वह पूजा के अनुष्ठान को पूरा कर रहा है तो वह जैसी वस्तु होगी, जादू टोने मे ऐसी कई प्रक्रियाएँ पाई गई है। उन्नत धर्मो मे भी धूप, दीप, विशालता, कलात्मक उपकरण, सगीत आदि से ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की जाती है कि बुद्धि सुप्त हो जाय और फिर दूसरी बातो के लिए गुजाइश पैदा हो। यहा पर मै धर्म के विश्लेषण मे बहुत गहराई तक नही जाना चाहता, पर इस बात को स्पष्ट कर दिया जाय कि जहा विज्ञान प्रयोगो तथा प्रयोगजन्य ज्ञान से प्रकृति पर विजय प्राप्त करके मनुष्य के लिए इसी लोक में स्वर्ग की सृष्टि करने का प्रयत्न करता रहा है, वहा जादू टोना और उसका अधिक वाचाल पर मौलिक रूप से एकमेवाद्वितीयम् आत्मज धर्म कल्पना तथा विश्वास के आधार पर प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का दावा करता रहा है। प्रयोगमूलक न होने के कारण उनके पास एक अस्त्र और है, वह यह कि यदि वे किसी या किन्ही बात को इस लोक मे नही करा पाते, तो वे उसे या उन्हे पहले तो यह कहकर टाल देगे कि यह कुछ नहा है, अनित्य है, पर इससे काम न चला तो ब्रह्मास्त्र के रूप मे यह कह देग कि स्वर्ग, बहिश्त, परलोक मे ये सारी बाते मिलेगी, बल्कि इनसे लाखो गुनी अधिक बाते। अपनी बनावट के कारण धर्म ऐसी समस्याओ को भी सुलझाने या सुलझाव के अभाव मे उनसे मुह फेरने का या उनके सम्बन्ध मे किसी कल्पित मतवाद को अपनाने की सिफारिश करता है। विज्ञान यह मानते हुए भी कि मृत्यु मौलिक कारणो से होती है अभी इतना ही कह सकता है कि इसका कुछ हद तक नियन्त्रण हो सकता है। वैयक्तिक क्षेत्रो मे विज्ञान मृत्यु के सम्बन्ध मे अभी बहुत कुछ असहाय होने पर भी सामूहिक क्षेत्र मे उसने मनुष्य की मृत्यु पर कुछ विजय दिलाई है। यह तो एक सुप्रतिष्ठित तथ्य है कि वैज्ञानिक उपचारो आदि के कारण प्रत्येक वैज्ञानिक रूप से अग्रसर जाति मे औसत आयु बढ गई।

विज्ञान और धर्म की यह मौलिक प्रतिद्वंद्विता केवल प्रकृति पर विजय के क्षेत्र मे ही नही याने समस्याओ को सुलझाने के तरीके पर ही नही बल्कि प्रश्नो को सुलझाने में वे किसकी सहायता लेते है, इसमे भी फैली हुई है। धर्म की चाहे कोई भी परिभाषा की जाय, उसमें अपर मे विश्वास अपरिहाय है। यदि अपर मे निर्भरता न हो तो धर्म-धर्म ही न हो। धर्म के साथ त्राण का विचार भी अपरिहार्य रूप से लगा हुआ है। यदि त्राण नही है तो धर्म भी नही है। इस त्राण मे वह बाहरी शक्ति सहायक है। उस शक्ति का नाम ईश्वर हो या न हो, इससे कुछ आता-जाता नही। बौद्ध और जैन धर्म मे ईश्वर न होते हुए

भी धर्म तथा संघ की शरण में जाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इन धर्मों में कर्म को तथा कर्म के भोग को एक रहस्यवादी रूप प्राप्त हो चुका है। बाद को बौद्ध धर्म को जो महायान रूप मिला, उसमें बुद्ध को जिस प्रकार से कल्पित किया गया, उसमें तो इस धर्म में और दूसरे इर्द-गिर्द के धर्मों में कोई फर्क नहीं रहा। इसलिए अपर में विश्वास, समस्याओं से घबराकर उनके सही समाधान की ओर न जाकर एक काल्पनिक समाधान का अन्वेषण—यह धर्म की एक विशेषता है।

इसके विपरीत विज्ञान मनुष्य को अपने ज्ञान, बुद्धि और आविष्कार पर निर्भर करने की सलाह देता है। सच तो यह है कि विज्ञान मनुष्य की आत्म-निर्भरता के ही योगफल का नाम है। विभिन्न वैज्ञानिक यन्त्र मानो मनुष्य के अवयवों तथा ज्ञानेन्द्रियों के सम्प्रसारित तथा अधिक निर्भर योग्य रूप हैं। प्रथम वैज्ञानिकों में वह व्यक्ति रहा होगा जिसने फल तोड़ने में टहनी की सहायता ली। इस प्रकार उसने बुद्धि से मानो अपने हाथों को उतना ही बढ़ा लिया। इसी प्रकार दूरवीक्षण तथा अणुवीक्षण से आँखों की शक्ति बढ़ी। जिन दूरतम तारों के सम्बन्ध में मनुष्य की आँखें कभी अनुमान भी नहीं लगा सकती थीं, वे भी मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान के दायरे में आ गए। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि यन्त्र चाहे किसी भी रूप में हों और कितने भी शक्तिशाली हों किसी-न-किसी पर्याय में जाकर उनका अन्तिम सम्बन्ध हमारी कर्मेन्द्रियों या ज्ञानेन्द्रियों से होगा। इस दृष्टि से देखने पर विज्ञान का व्यावहारिक परिणाम मनुष्य की इन्द्रियों की शक्ति का विस्तार तथा गंभीरीकरण है। कई बार इन्द्रियाँ धोखा दे जाती हैं, जैसे आपने ठंडे पानी में हाथ डाल रखा हो तो उससे कम ठंडा पानी आपको गरम जँचेगा, उतना गरम जितना कि वह वास्तविक रूप से नहीं है, पर एक तापमान यन्त्र या थर्मामीटर हमेशा सही ताप बतायगा याने यदि वह ठीक अवस्था में है तो। इस प्रकार से विज्ञान विशुद्ध ज्ञान का ही समूह है।

मनुष्य ने विज्ञान की सृष्टि की, फिर विज्ञान ने अपनी बारी में मनुष्य को बनाया, याने उसे वैसा बनाया जैसा कि अब वह है, और अब मनुष्य छोटी-छोटी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विज्ञान पर निर्भर है। पर उसकी यह निर्भरता उस श्रेणी में नहीं आती, जैसे धर्म में अपर में विश्वास किया जाता है, क्योंकि विज्ञान में विश्वास अन्तिम रूप से अपने में, अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में विश्वास ही है। विज्ञान मनुष्य से ही उद्भूत और मनुष्य के प्रयोगों पर ही निर्मित है। विज्ञान को यदि यह कहा जाय कि वह मनुष्य की

आत्मनिर्भरता की सृष्टि, साधन, फल, परिणाम है तो इसमें किसी प्रकार की अतिशयोक्ति न होगी।

जहाँ धर्म किसी वाहरी शक्ति का आवाहन करता है, और उसके जरिये सारी बातों को सुलझाने का दावा करता है, वहाँ विज्ञान अपने पैरों पर खड़े होने का, अपनी आँखों से देखने का, अपने कानों से सुनने का, अपनी बुद्धि से सोचनें का सन्देश देता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञान और धर्म का जो ऐतिहासिक विरोध हुआ, जिसके फलस्वरूप दूरवीक्षण यन्त्र से पहले-पहल निश्चित रूप से यह साबित करने वाले कि न तो पृथ्वी स्थिर है और न वह विश्व का केन्द्र है गैलिलियो को जेल म ठूँस दिया गया, ब्रूनों को जिन्दा जलाया गया, वह कोई आकस्मिक बात नहीं है। शताब्दियों तक धर्म और विज्ञान के भयंकर विरोध के जरिये सभ्यता का रथ अग्रसर हुआ। धर्मध्वजियों के हाथों में वैज्ञानिक का किस प्रकार निर्यातन किया गया, यह मानव जाति के इतिहास का बहुत ही रोमांचकारी अध्याय है। वह धर्म के लिए जितना लज्जाजनक है, विज्ञान के साधकों के लिए उतने ही गौरव की बात है। दुःख है कि हम यहाँ पर उस संघर्ष के ब्यौरे में नहीं जा सकते। बस इतना ही कहना यथेष्ट है कि यदि धर्म विज्ञान का इस प्रकार विरोध न करता तो विज्ञान की उन्नति और भी आसान होती, और सभ्यता बहुत आगे बढ़ गई होती। जो कुछ भी हो मध्ययुग के सारे इतिहास को विज्ञान और धर्म के संघर्ष का इतिहास कहा जा सकता है। जिसमें विज्ञान की विजय होती गई।

इससे घबराकर उन्नीसवीं शती में धर्म को बचाने के उद्देश्य से विज्ञान और धर्म के समन्वय की चेष्टा का प्रारम्भ हुआ, और विज्ञान के अकाट्य तथ्यों की ओर से मुँह मोड़ने के बजाय उनको धर्म के मौलिक सिद्धान्तों के साथ जोतनें की चेष्टा की जाने लगी। विज्ञान के अन्दर भी गणित में प्रतीकवाद की ओर झुकाव पैदा हुआ। प्रतीक जिन चीजों के प्रतीक हैं, उनसे वियुक्त करके उनके सम्बन्ध में उड़ान भरनें की चेष्टा की जानें लगी। हाईजेनवर्ग के अनिश्चयता-सिद्धान्त को बहुत तूल दिया गया है और कहा गया है कि प्रकृति में जितना ही हमारा ज्ञान बढ़ता जा रहा है उतना ही ऐसा मालूम होता है कि चीजें नियम के अन्दर नहीं आतीं। अध्यापक श्रेडिंगर ने एक संवाददाता के द्वारा पूछे जाने पर यह कहा था 'इन छोटी इकाइयों में से प्रत्येक के सम्बन्ध में ऐसा मालूम होता है कि वह किसी निश्चित नियम से स्वतन्त्र रूप से अपनी गति का अनुसरण करती हैं। यदि हम इस सम्बन्ध में किसी नियमितता या कानून की बात कर सकते हैं तो वह नियम केवल आँकड़ेगत नियम

(Statistical law) है। जहाँ तक बृहत् वस्तुओं की दुनिया है (Macroscopic) वहाँ तक तो यह नियम लागू है किन्तु क्षुद्रतम इकाइयाँ किसी नियम का पालन नहीं करतीं।' श्रेडिंगर ऐसा कहते हैं, किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या यह अनियमितता हमें इसलिए मालूम पड़ती है कि हमारे यन्त्र अभी त्रुटिपूर्ण हैं और अभी हम चीजों को ढंग से नाप नहीं सकते बात यह है कि पहले जो चीजें नियमित मालूम होती थीं वे धीरे-धीरे नियम के अन्दर आती गई हैं, फिर यह कहना कहाँ तक उचित होगा कि प्रकृति के निम्नतम क्षेत्रों में कोई नियम नहीं है। फिर इसी अनिश्चयता से यह कहा गया है कि स्वतन्त्र इच्छा है या नहीं, इत्यादि। केवल पेशेवर धार्मिकों ने ही इस सिद्धान्त का फायदा नहीं उठाया बल्कि इस प्रकार अपअर्थ करने में स्वयं वैज्ञानिकों ने भी हाथ बटाया है। सच तो यह है कि यह अनिश्चयता कहाँ तक दृश्यमान है और कहाँ तक यन्त्रों की न्यूनता के कारण है इत्यादि बातें कभी निर्णीत नहीं हुई। आइनस्टाइन वैज्ञानिक होने के साथ ही व्यक्तिगत जीवन में बहुत बड़े धर्मवादी हैं, उनका कहना है कि 'यह सिद्धान्त केवल सामयिक रूप से अज्ञान का शरणगृह (Temporary asylum of ignoranice) है। वे समझते हैं कि जल्दी ही विज्ञान के क्षेत्र में कार्यकरणवाद का राज्य स्थापित होगा।'

विज्ञान यह स्पष्ट रूप से मानता है कि वह अपूर्ण है, पर वह जहाँ-का-तहाँ पड़ा नहीं है, उनके ज्ञान में बराबर वृद्धि हो रही है, फिर उसके सिद्धान्तों के भी निरन्तर उन्नयन (परिवर्तन नहीं) होते रहते हैं, इन बातों का फायदा उठाकर धर्म को पुनः प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की गई, और यह मानना पड़ेगा कि वह बहुत-कुछ सफल भी रही। फिर भी आइनस्टाइन के सापेक्षवाद ने धार्मिक लोगों को बड़े चक्कर में डाला। उन लोगों ने क्रोध में आकर कहा कि यह तो सब तरह के objective सत्य की जड़ ही काट देता है, और यह तो पागलों की दुनिया हो गई जिसमें सत्य का रूप घड़ी-घड़ी बदलता है। अवश्य सापेक्षवाद से इस प्रकार जो क्षति हुई, उसकी क्षति-पूर्ति भूत सम्बन्धी सूक्ष्म धारणा से करने की चेष्टा की गई। सापेक्षवाद की भी आड़ लेकर यह कहा गया कि जब कोई असापेक्ष या अन्तिम सत्य है ही नहीं तो धर्म ने ही क्या बिगाड़ा है, यह भी सब सत्यों की तरह एक सत्य है। नतीजा यह हुआ कि विज्ञान से उद्‌भूत वस्तुओं का सार्वजनिक रूप से प्रचार होने पर भी वैज्ञानिक और प्रयोगात्मक भावना का उतना प्रचार नहीं हुआ, उसके सार्वजनिकप्रचार में बाधाएँ उत्पन्न हुईं। फिर भी शिक्षित लोगों में विशेषकर यूरोप में धर्म का खुल्लम-खुल्ला धर्मविरोध न करते हुए भी, बल्कि ऊपर से

धम को मानते हुए भी लोगा के जीवन मे धम का कोई प्रत्यक्ष या गहरा असर नही रह गया। रहा-सहा असर भी ज्ञान की ज्योति के प्रसार के साथ साथ घट रहा था।

पर इधर जब से परमाणु बम का आविष्कार हुआ है, और उसके विनाशकारी असरो के सम्बध मे लोगो को ज्ञान हुआ है, तब से विज्ञान और वैज्ञानिको के सम्बध मे एक अनास्था का वातावरण उत्पन्न हुआ है, जो मेरी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार सभ्यता के हक मे बहुत ही घातक है । इसी के सम्बन्ध मे कुछ बातो की ओर ध्यान दिलाने के लिए ही इस लेख की अवतारणा की गई है। लोग बहुत-सी बातो को समझकर भी नही समझते । आम तौर पर आधुनिक युद्धो के लिए विज्ञान तथा वज्ञानिको पर दोष मढने की प्रथा है, पर यह कहा तक सत्य है। इसमे कोई सन्देह नही कि सहार के अस्त्र वैज्ञानिको द्वारा आविष्कृत है, पर उन अस्त्रो के आविष्कार को प्रोत्साहन कौन देता है, उनका उपयोग कौन करता है, उनके कारखाने किनके ह, किनको उनके प्रयोग से लाभ है। यदि वज्ञानिको पर किसी प्रकार अस्त्रो के आविष्कार का सारा दोष मढा भी जा सके, तो क्या राष्ट्र के नेता उनका प्रयोग नही करवाते, सैनिक तथा सेनापति उनका प्रयोग नही करते, लेखक तथा पत्रकार उसके प्रयोग का वातावरण उत्पन्न नही करते, और सबसे बडी बात जनता (बहकावे मे आकर या जबरदस्ती) उनके लिए टैक्स नही देती, फिर बेचारे वैज्ञानिको को ही केवल परमाणु बम के लिए दोषी क्यो ठहराया जाय ? वैज्ञानिक होना तो एक तरह का पेशा है जैसे सैनिक होना, पत्रकार होना इत्यादि। अवश्य यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक ऐसे आविष्कार न करे तो बाकी सब लोग दुष्ट और भ्रष्ट होकर भी क्या कर लेगे ? पर यह तो वैसी ही बात हुई कि सैनिक न लडे तो परमाणु बम आविष्कृत हो जायँ भी तो क्या ? जो लोग इस प्रकार की बाते करते है, वे समाज के ढाँचे को समझते नही है, तभी वे इस प्रकार की उडाने भरते है। समाज का विषमतामूलक ढाँचा ही युद्धो के लिए उत्तरदायी है।

वैज्ञानिक यह निर्माण काय मौजूदा सामाजिक परिस्थितियो के अन्दर ही कर सकता है, अर्थात् ऐसा करने में उसे किसी-न-किसी दल को, किसी-न-किसी वग या गुट को अपनाना पडेगा। इस दृष्टिकोण से वैज्ञानिक ज्यो ही कमक्षेत्र मे उतरेगा अर्थात् ज्यो ही वह अपनी गवेषणाओ के परिणामो का उपयोग प्रकृति मे सज्ञान हस्तक्षेप की दृष्टि से करेगा त्यो ही वह मौजूदा समाज के झगडो मे फँसकर ही रहेगा, क्योकि उसकी खोज आदि के लिए साधन शासक-

वर्ग ही जुटायगा, तथा शासक-वर्ग के बाज़ार की कसौटी पर ही उसके गुणों का परिचय प्राप्त होगा। उसी के अनुसार उसकी कदर होगी। अतएव केवल वैज्ञानिक को युद्धों या परिमाणु बम के लिए दोषी बताना ठीक नहीं होगा। परमाणु शक्ति का उपयोग मरुभूमियों को सुजला-सुफला बनाने में, पहाड़ी इलाकों को समतल बनाने में, नदियों की गति बदलने में, न मालूम किन-किन बातों में हो सकता है। अभी तो हम इनकी सम्भावनाओं के प्रारम्भिक युग में है। पर इसका उपयोग इस रूप में न करके प्राणघातक रूप में करने के लिए गवेषणा जारी है, और उसमें करोड़ों रुपए खर्च हो रहे हैं, इसके लिए वैज्ञानिक का क्या दोष है। हम पहले ही बता चुके हैं कि इसके लिए वैज्ञानिक को दोषी ठहरना उसी प्रकार होगा जैसे दुर्भिक्ष में किसी से कहा जाय कि वह घटिया अनाज या जड़ों को क्यों खाता है।

इस कारण विज्ञान के प्रति यह अनास्था बिलकुल ही अप्रयोजनीय और अर्थहीन है। विज्ञान के सहारे और विज्ञान की बदौलत ही मनुष्य जाति आगे बढ़ी है, और उसकी एक-पर-एक विजय हुई है। अब जब कि दिग्विजय बहुत अग्रसर हो चुकी है, हमें दिल नहीं हार देना है। लगे हाथों विज्ञान का फायदा आम जनता को कुछ भी हुआ हो; रेल, तार, टेलीफोन, रेडियो, सिनेमा जितने भी साधन हैं उन सबका उपयोग शासकवर्ग ने अपने शासन को स्थायी बनाने में ही किया है। विज्ञान तथा वैज्ञानिक साधनों का जनवादी उपयोग उन्हीं देशों में सम्भव है जहाँ जनता की सरकारें हैं, और जनता ही उत्पादन के साधनों की स्वामिनी है। इस कारण हमें अपने असली रोग को पहचानना है। सभ्यता के ऐसे संकट काल में विज्ञान में आस्था खोकर, और चूँकि प्रकृति शून्यता को बर्दाश्त नहीं करती जादू-टोना, अदृष्टवाद या उनके कुछ परिष्कृत बल्कि प्रच्छन्न रूपों के हाथों में अपने को हाथ-पैर बाँधकर सौंप देना बहुत खतरनाक होगा और इतनी निराशा की बात ही क्या है, जैसा कि लेवी ने कहा है, अकेले पेनिसिलीन ने उससे अधिक प्राण बचाये जितने द्वितीय महायुद्ध में मारे गए। इसलिए यह स्पष्ट है कि जब विज्ञान पर से जन-विरोधी परस्पर विवदमान शासकवर्ग का नियंत्रण उठ जायगा, तब विज्ञान मेघमुक्त होकर अपने वरद हस्त को खुलकर हमारी ओर बढ़ा सकेगा।

२७

प्रगतिवाद और यौन आचार

यौन आचार के सम्बन्ध में प्रगतिवाद का क्या दृष्टिकोण है, इस सम्बन्ध में कई प्रगतिवाद के दावेदार अंधेरे में ज्ञात होते हैं। मैंने एक प्रगतिवादी लेखक को भरी सभा में यह दावा करते सुना कि पातिव्रत्य और पात्नीव्रत्य की कोई जरूरत नहीं, यह सब तो ढोंग और ढकोसला है। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि मेरे मित्र ने प्रगतिवाद को समझा नहीं। ऐसे लोग प्रगतिवाद के सबसे बड़े दुश्मन हैं, क्योंकि एक तो ये स्वयं प्रगतिवाद को समझे नहीं, दूसरा इनकी बहकी-बहकी बातों को सुनकर जो प्रगतिवाद के संभव रिक्रूट हैं, वे बिदकते हैं, और तीसरा इनकी बातों से प्रगतिवाद की तरफ ऐसे लोग खिंच आते हैं जिनका किसी भी वाद में आना उस वाद के लिए परम दुर्भाग्य है।

प्रगतिवाद के दुश्मनों ने इस परिस्थिति का पूरा-पूरा फायदा उठाया है, और चूंकि प्रगतिवाद एक वामपन्थी आन्दोलन है, इसलिए उसे वाममार्गी करके प्रमाणित करने की चेष्टा की गई है, जिसमें उन्हें कुछ सफलता भी मिली है। इसलिए इस विषय पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करना आवश्यक है।

प्रत्येक समाज-पद्धति का अपना यौन आचार होता है। अति प्राचीन समाज में मातृ-गमन और भगिनी-गमन, और इस कारण पितृ-गमन और भ्रातृ-गमन सामाजिक था। यम और यमी की सुपरिचित वैदिक अनुश्रुति के अतिरिक्त हमारे वेदों में उस प्राचीनतर समाज-पद्धति की बहुत सी गूंजें सुनाई पड़ती हैं जब उल्लिखित प्रकार के यौन आचार अथवा आचारहीनता प्रचलित थी। स्मरण रहे कि उन दिनों मनुष्य समाज में राज्य या राष्ट्र का उदय नहीं हुआ था, और न वर्गों का ही अस्तित्व था। अभी वैयक्तिक सम्पत्ति का भी उदय नहीं हुआ था।

इसके बाद उत्पादन के साधनों के विस्तार के साथ-साथ वैयक्तिक सम्पत्ति का उदय हुआ, मातृसत्ताक समाज का अन्त होकर पितृसत्ताक समाज का

उदय हुआ, वर्गों की उत्पत्ति, हुई, और वर्ग शासन के हथियार के रूप में राज्य का उदय हुआ। स्त्री की कद्र घटी। विवाह-प्रथा चली। स्त्री अब एक पुरुष की सम्पत्ति हो गई। पातिव्रत का जन्म हुआ, और पातिव्रत्य धर्म की महिमा गाई जाने लगी। स्मरण रहे यह धर्म केवल एकतरफा था। पति देवता जितनी चाहे उतनी शादियाँ कर सकते थे, इसकें अलावा दासियाँ थीं जो मालिक की सम्पत्ति थीं।

पहिये का एक और घूर्णन हुआ, सामन्तवाद का युग आया। किसी-किसी देश में पूर्ववर्णित दास और मालिक का समाज उतना स्पष्ट नहीं रहा, और सामन्त-वाद का सूत्रपात हो गया। जो कुछ भी हो इस युग में यौन आचार उसी प्रकार रहा जैसे पहले बताया गया है। पातिव्रत्य का जोर रहा, और एक पुरुष कई स्त्रियों से शादी कर सकता था।

बुर्जुआ युग या पूँजीवादी युग के प्रारंभ बल्कि बहुत पहले से ही ईसाई देशों में कानूनन एक पत्नीत्व का प्रवर्तन हुआ, पर कानून और बात है व्यवहार और। स्त्री के लिए पातिव्रत्य रहा। पर पुरुष चाहे जितनी उप-पत्नियाँ रखता। सामन्तवाद के युग में यहाँ तक यह धारणा पहुँची कि पर-कीया-गमन या अनुशीलन सारे साहित्य का केन्द्र-बिन्दु समझा गया, और इसी को आधार मानकर साहित्य-शास्त्र तैयार किया गया। देवताओं की गाथाएँ भी इसी रूप में परोसी गईं।

कहना न होगा कि यह यौन-व्यवस्था न्याय पर आधारित न होनें के कारण तथा उसमें पुरुष और स्त्री की समानता स्वीकृत न होनें के कारण किसी भी क्रान्तिकारी विचार-पद्धति के लिए स्वीकार्य नहीं हो सकती थी।

इसी कारण १८४८ में साम्यवादी घोषणा-पत्र में जहाँ आर्थिक व्यवस्था को केन्द्र बनाकर ही सारी बातें कही गईं, वहाँ यौन व्यवस्था पर भी सूत्र रूप में दो बातें कह दी गईं। उसमें लिखा गया 'पूँजीवादी अपनी स्त्री को महज़ एक उत्पादन के साधन के रूप में देखता है। उसने सुन लिया है कि उत्पादन के साधनों का सार्वजनिक उपयोग होगा, बस उसके दिमाग में यह धारणा घर कर गई कि स्त्रियों का भी इसी प्रकार सार्वजनिक उपयोग होगा।"

एक बात, जो इस घोषणा-पत्र में नहीं कही गई, पर अब प्रगतिवाद के दुश्मनों के द्वारा कही जाती है, वह यह है कि आदिम समाज में आर्थिक शोषण नहीं था, पर उसमें यौन आचारहीनता थी, तो भविष्य के शोषणहीन समाज में भी ऐसा ही होगा। सुननें में तो यह तर्क बड़ा सच्चा मालूम देता है, पर यह तर्क थोथा इस कारण है कि भविष्य का शोषण संभावनाहीन-

समाज आदिम समाज का प्रतिरूप नहीं होगा, बल्कि उसका अत्यन्त विकसित रूप होगा। बन्दर और अति आधुनिक मानव में जो फ़र्क है, वही इन दो समाजों में है यद्यपि ऐसे मानव को बन्दर का विकसित रूप कहा जायगा। इन दोनों समाजों में केवल एक ही समता है याने दोनों समाजों में शोषण नहीं है। इसके अलावा बाक़ी जो समताएँ हैं जैसे दोनों पद्धतियों में राज्य या राष्ट्र का न होना, सो वे इसी शोषण-संभावनाहीनता में ही उद्‌भूत हैं। आदिम समाज में, जहां यौन आचारहीनता ही यौन सदाचार था, भविष्य के शोषण-संभावनाहीन समाज में जो यौन सदाचार होगा वह पहले-पहल सर्वसाधारण को यह बतलायगा कि यौन सम्बन्धों की संभावनाएँ क्या हो सकती हैं। अस्तु।

१८४८ के उल्लिखित घोषणा-पत्र में यह बताया गया कि "पूंजीवादी विवाह-पद्धति वस्तुतः सार्वजनिक पत्नी बनने की प्रथा है, इस कारण साम्यवादियों के विरुद्ध जो कुछ कहा जाता है, यदि वह सत्य भी हो, तो उसका अर्थ यह है कि जहाँ पूँजीवादी ढोंगी तरीके से छिपा हुआ सार्वजनिक पत्नी मूलक समाज को लेकर चल रहे हैं, वहां हम लोग खुले तौर पर वैधकृत इसी प्रकार का समाज चाहते हैं। रहा यह तो साफ़ है कि उत्पादन की वर्तमान पद्धति का उच्छेद होते ही इस सार्वजनिक पत्नीत्व वाली पद्धति याने सार्वजनिक रूप से या छिपे-छिपे वेश्या-वृत्ति का अन्त हो जायगा।"

दूसरे शब्दों में इस घोषणा-पत्र में यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया गया था कि जो लोग शोषणमुक्त समाज-पद्धति की बातें करते हैं, या ऐसे समाज की स्थापना का स्वप्न देखते हैं जिसमें उत्पादन के सारे साधन स्वयं काम करने वालों के हाथ में आ गए हैं, वे यह नहीं समझते कि उस समाज की प्रत्येक स्त्री वेश्या होगी और प्रत्येक पुरुष वेश्यागामी।

फिर भी जैसा कि मैं बता चुका जो भी प्रगतिवादी आन्दोलन या विचार-धारा आई, उसने उस समय मौजूद यौन आचार पर आघात किये, इस कारण प्रगतिवादियों को हमेशा से व्यभिचार और उच्छृखंलता के प्रतिपादक करके दिखाने की चेष्टा की गई है। किसी ने जोश में कोई बात कह दी, या नहीं भी कही तो उसके कथन को अतिरंजित करके तथा तोड़-मरोड़कर प्रगतिवाद के दुश्मनों ने बराबर यह हौवा खड़ा करना चाहा कि देखो इनकी सुने कि तुम्हारी बहू-बेटी तुम्हारी नहीं रहेगी।

मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद के बहुत पहले से ही समाजवाद का किसी-न-किसी रूप में विकास हो रहा था।

समाजवाद के प्रवर्तक फुरियेर (१७७२–१८३७) बहुत महत्वपूर्ण हैं। उनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे यह समझते थे कि कभी समुद्र खारापन से मुक्त होकर लेमनेड का सागर हो जायगा और मनुष्यों की उम्र १४४ साल होगी जिसमें से १२० साल स्वतन्त्र प्रेम के उपभोग में व्यतीत होगा। कहना न होगा कि फुरियेर ने यदि ऐसा सोचा कि समुद्र अपना खारापन छोड़कर मीठा हो जायेगा, तो इसमें उन्होंने कोई इतना बड़ा अपराध नहीं किया। परमाणु-शक्ति ने अब यह सम्भव किया है कि ऐसी बातें हो सके। समुद्र मीठा हो या न हो, समुद्र से इतना खाद्यद्रव्य निकालने पर ही मानवता का भविष्य निर्भर है जिससे कि बढ़ती हुई जनसंख्या को खिलाया जा सके। मरुभूमियों को उपजाऊ बनाने की बात हम बहुत गम्भीरता के साथ कर ही रहे हैं, और कोई हमें पागल नहीं समझता।

रहा यह कि मनुष्य की आयु बढ़ेगी, यह फुरियेर के समय में भले ही कुछ हद तक कल्पना-विलासी रहा हो, पर गत सौ वर्ष में यह बहुत कुछ व्यावहारिक हो गया है। सभ्य तथा उन्नत देशों में लोगों की आयु बढ़ी है और यह एक तथ्य है। इसी प्रकार मनुष्य की सब तरह की उपभोग-शक्ति भी बढ़ती चली जा रही है। स्वतन्त्र प्रेम के सम्बन्ध में हम बाद को आलोचना करेंगे।

फुरियेर तो माने हुए समाजवादी नेता रहे हैं, यद्यपि उनके समाजवाद को स्वप्नवादी बताया जाता है। उन्होंने कुछ कहा, उसे इस सम्बन्ध में उद्धृत करना प्रगतिवाद के दुश्मनों के लिए क्षन्तव्य कहा जा सकता है, पर दुश्मन को नीचा दिखाने के जोश में इस सम्बन्ध में इल्लुमिनाटी सम्प्रदाय के संस्थापक वाइसहाउप्ट का नाम लिया जाता है, जिन्होंने शायद यह कहा था कि एरोटेरियन नामक एक मदनोत्सव का प्रवर्तन किया जाय जो प्रेम की देवी के सन्मान में मनाया जाय। भला बताइए वाइसहाउप्ट कौन से क्रान्तिकारी थे कि उनके मत को इस सम्बन्ध में उद्धृत किया जाता है। ऐसे कितने ही व्यक्तियों ने कितनी ही बातें ओ३म् मंडली के ढंग पर कही होंगी, पर उनके साथ क्रान्तिवाद या प्रगतिवाद का क्या सम्बन्ध है ?

उन्नीसवीं सदी में स्त्री-स्वाधीनता-आन्दोलन ने बहुत जोर पकड़ा, और उस सिलसिले में उस समय की समाज-पद्धति से उकताकर कई स्त्री-स्वतन्त्रता-आन्दोलन के नेताओं तथा नेत्रियों ने कुछ इस प्रकार के नारे दिये कि सारे खुराफात की जड़ में विवाह-प्रथा है, इसलिए इसको खतम करो। जार्ज सेण्ड ने यह कह दिया कि व्यभिचार बुरा न समझा जाय। सेण्ड के इस कथन को हम बिलकुल मूर्खतापूर्ण समझते हैं, पर जिस प्रकार की भावना से अनुप्रेरित

होकर उस व्यक्ति ने यह नारा दिया था, उसका विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि यह उक्ति उतनी मूर्खतापूर्ण नही है, जितनी प्रथम दृष्टि मे ज्ञात होती है। यदि हम इस बात को याद रखे कि उस समय के मध्यम वर्ग तथा उच्च वर्ग मे पुरुष व्यभिचारी होते थे, तो हमारी समझ मे आ जायगा कि सेण्ड ने क्या बात कही। जहाँ एकतरफा व्यभिचार जारी था, वहा सेण्ड ने निराश होकर दोतरफा व्यभिचार का समर्थन किया। इसी प्रकार कुछ अन्य लोगो ने यह नारा दिया कि बच्चो का नाम मा के नाम पर हो। इसी प्रकार की अन्य बहुत-सी बाते कही गई। ये सारी बाते निराशा या प्रतिशोध की भावना से कही गई पर इनमे क्रान्तिवाद कहा है क्योकि क्रान्तिवाद का सार यह है कि विद्रोह हो, पर पहले से अच्छा पुनर्निर्माण हो। यह उत्पादन इस प्रकार की उक्तियो मे कहाँ है। इनमे विद्रोह तो था, पर पुनर्निर्माण नही। ऐसी अवस्था मे इन्हे क्रान्ति या प्रगति के मत्थे थोपना अन्यायपूर्ण है।

फ्रास के प्रसिद्ध समाजवादी राजनीतिज्ञ मौशियेब्लम ने विवाह पर एक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक उन्होने अपनी नौजवानी मे लिखी थी पर १९३६ मे एक नई भूमिका के साथ उन्होने इसको प्रकाशित किया। यह पुस्तक स्वतन्त्र प्रेम का प्रतिपादन करती है। उसमे उन्होने कहा कि भला कोई अपने को पवित्र कुमारी क्यो रखे, क्यो न मनुष्य आकर्षण के सामने आत्म समर्पण करे। उन्होने कहा कि आज जो हम किसी की तरफ आकृष्ट होकर भी सयम किये पडे रहते है, इसका क्या कारण है। उन्होने कह दिया कि लडकियाँ अपने प्रेमियो के यहाँ से उसी प्रकार लौट आयेंगी जिस प्रकार वे स्कूल से लौटती है। उन्होने यहाँ तक लिख मारा कि वे अगम्यगमन मे क्या दोष है इसे समझ नही पाते, और यदि इस बात को छोड भी दिया जाय कि कुछ समाजो में अगम्यगमन उचित माना गया है तो भी यह स्वाभाविक ही मालूम होता है कि भाई से बहन का प्यार हो और बहन का भाई से।

कहना न होगा कि मौशियेब्लम ने जिस प्रकार की बातो का समर्थन किया है वे बिलकुल ही क्रान्तिवाद के नाम के योग्य नही है। शरत् बाबू ने 'शेष प्रश्न' मे कुछ इसी ढग की बातो का प्रतिपादन किया है, अवश्य वे बातें इस प्रकार खुले रूप मे नही कही गई है। फिर भी उनका वक्तव्य स्पष्ट है। श्री एम० एन० राय ने इस पुस्तक की बडी तारीफ की है, और इसे 'गीताजलि' से बढ-कर माना है। सडे-गले समाज पर, विशेषकर उसके यौन आचार पर चाबुक लगाना और बात है, और बन्धन-मुक्ति के नाम पर व्यभिचार को अपनाना और बात है।

शरत् बाबू ने कमल के हाथ में जो झंडा दिया है, वह क्रांति का नहीं है वह उच्छृङ्खलता का है। मैंने अपनी 'शरच्चन्द्र' नामक पुस्तक में इसकी ब्यौरे-वार आलोचना की है। उसमें से कुछ अंश यों हैं—'क्रांति का अर्थ असंगतिग्रस्त, सड़े कंठरोधकारी बंधनों की जगह पर स्वास्थ्यकर नवीन बंधनों का प्रवर्तन है। ये बंधन ऊपर से नहीं लदते, बल्कि क्रान्तिकारी इन्हें अपने ऊपर लादता है। क्रान्ति एक युक्तवाद (Synthesis) है। वह युक्तवाद पहले के बाद (Thesis) और प्रतिवाद (Antithesis) से सम्पूर्ण रूप से अलग होते हुए भी, पहले के मुकाबले में एक छलाँग होते हुए भी, इसकी उत्पत्ति हवा से या दिमाग से नहीं होती, आधारगत रूप से पहले के वाद प्रतिवाद से संयुक्त हैं। कहीं यह समालोचना अधिक गूढ़ न हो जाय इसलिए हम इतना ही कहेंगे कि कमल की यह धारणा कि सभी कर्तव्य आत्मपीड़न हैं, एक अजीब धारणा है। फिर एक बार दूसरे शब्दों में वही बात साबित होती है जो मैं पहले कह चुका हूँ कि कमल अधिकारों के लिए खूब लड़ती है, सोलहों आने सजग है, किंतु कर्तव्य को आत्मपीड़न बताती है। इसी से स्पष्ट हो जाता है कि उसके हाथ में जो झंडा है वह क्रांति का नहीं है वह सर्व बन्धन-विमुक्ति तथा मात्रा ज्ञान-हीन विद्रोह का है। विद्रोह ज्यों ही मात्रा-ज्ञान खो बैठता है त्यों ही वह विद्रोह नहीं रहता, कुछ और हो जाता है, मात्रागत परिवर्तन से गुणगत परिवर्तन हो जाता है।'

स्वतंत्र प्रेम का यदि कोई अर्थ है तो यही है कि प्रेम पर अन्य सामाजिक तथा आर्थिक रोक न हों जैसा कि हमारे विषमतामूलक समाजों में है। पर स्वतन्त्रता के नाम पर व्यभिचार का प्रचार करना बहुत ही दुर्भाग्य की बात है। जैसे कि मैं पहले ही इंगित कर चुका हूँ, क्रान्ति पुरानी मान्यताओं को तोड़कर नई मान्यताओं को स्थापित करती है। यह नहीं कि सारी मान्यताएँ समाप्त हो जायँ। यहाँ तक कि भविष्य के राष्ट्रहीन समाज में भी मान्यताएँ होंगी। सच तो यह है कि इन्हीं मान्यताओं के आधार पर वह समाज खड़ा होगा। उस समय तो राष्ट्र भी नहीं होगा, और ये ही मान्यताएँ सब-कुछ होंगी, और इन्हीं के बल पर समाज चलेगा। जैसे हमारे समय की एक सर्व-मान्य मान्यता को लीजिये। भले ही कोई राहगीर किसी स्त्री पर बुरी दृष्टि डाले, पर वह उसका मर्दन नहीं कर सकता। फौरन सब लोग एकत्र हो जायँगे और उस व्यक्ति को बुरे काम से रोकेंगे। इस प्रकार की सैकड़ों मान्यताएँ होंगी, तभी न बिना राष्ट्र के सैनिक और पुलिस का समाज चलेगा। अस्तु।

प्रत्येक नया समाज एक नये यौन आचार को लेकर आता है, इस प्रकार और इस हद तक क्रान्तिवाद पुराने यौन आचार को हटाकर उसके स्थान पर नया यौन आचार स्थापित करना चाहता है। यहाँ यह स्मरण रहे कि प्रगतिवाद या क्रान्तिवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह सर्वकाल के लिए किसी आचार का फतवा न देकर प्रगति की प्रगतिशील तथा क्रान्ति की क्रान्तिवादी परिभाषा करता है। किसी प्रकार के शाश्वत यौन आचार का प्रतिपादन हम नहीं करते। एल्डस हक्सले ने अपनी Ends and means नामक पुस्तक में यह कहा है कि "जिस मुक्ति की हम कामना करते हैं वह केवल एक आर्थिक तथा राजनैतिक पद्धति से मुक्ति नहीं है, हम प्रचलित सदाचार से भी मुक्ति चाहते हैं।" स्वाभाविक रूप से समाज के किसी भी ढाँचे में उसकी सारी विचार-धारा, चाहे वह धर्म हो चाहे साहित्य या सदाचार हो उस समाज को कायम रखने की चेष्टा करती हैं। उससे मुक्त होकर नये ढाँचे में नई विचार-धारा, नया सदा-चार होगा, यह तो स्पष्ट है।

रूस में जब नये समाजवादी समाज की स्थापना हुई, तो अच्छे-अच्छे लोगों ने पुराने सदाचार को दूर करने के पागलपन में बिलकुल उच्छृङ्खलता को अपनाया, जिस पर गोर्की को कहना पड़ा—"मैं प्रेम की बात पर कुछ न कहूँगा। फिर भी मैं इतना कहूँगा कि नई पीढ़ी ने यौन सम्बन्धों में एक दूषित अति सरलता का अवलम्बन किया है, जिसके लिए इन अपराधियों को बहुत भारी दाम चुकाना पड़ेगा। मेरी यह आन्तरिक इच्छा है कि इस प्रकार की लज्जाजनक गड़बड़ियों के लिए इन्हें जल्दी सजा मिले।" यह स्मरण रहे कि ये बचन प्रगतिवाद के अन्यतम महान् प्रतिपादक गोर्की के हैं।

रूस में इस उच्छृङ्खलता को दबाने के लिए लेनिन को आवाज उठानी पड़ी! उन्होंने इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा, वह क्लाराजेटकिन के साथ बातचीत में हमारे लिए उपलब्ध है। उन्होंने मौशियेव्लम के ढंग पर यौन आचार के सम्बन्ध में ग्लास वाले सिद्धान्त का जोरों से खंडन किया। वे बोले—"मैं ऐसा समझता हूँ कि यह ग्लास वाला सिद्धान्त जिसके अनुसार प्यास लगने पर किसी भी ग्लास से पानी पिया जा सकता है, बिलकुल समाज-विरोधी है। यौन जीवन में केवल एक ही बात नहीं देखनी है कि आपकी तबीयत क्या कहती है। इसमें यह भी देखना है कि सांस्कृतिक विशेषताएँ तथा आवश्यकताएँ क्या हैं। एंगैल्स ने 'परिवार की उत्पत्ति' नामक पुस्तक में यह दिखलाया है कि सामूहिक यौन-जीवनचर्या से किस प्रकार वैयक्तिक यौन-जीवनचर्या उन्नत

क्तियों का सम्बन्ध है । इसमें और भी बहुत-सी बातें आ जाती हैं । इन सारे सम्बन्धों को अच्छी तरह समझना पड़ेगा, और उन्हें समाज की आर्थिक नींव से मिलाते हुए देखना पड़ेगा । अवश्य ही प्यास बुझाई जानी चाहिए, पर क्या कोई सही दिमाग वाला आदमी झुककर नाली से पानी पियेगा, या ऐसे गिलास से पानी पियेगा, जिसका ऊपर वाला हिस्सा बहुत से लोगों के पीने के कारण गन्दा हो चुका है । सामाजिक पहलू सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । पानी पीना तो एक व्यक्ति का निजी कार्य है । पर प्रेम में दो व्यक्तियों का सम्बन्ध आ जाता है, और एक नये व्यक्ति का जन्म होता है । इस प्रकार यह एक वैय-क्तिक बात न रहकर सामाजिक बात हो जाती है ।"

लेनिन ने इस सम्बन्ध में बोलते हुए कहा—"यह जो प्रेम की बन्धन-मुक्ति की बात कही जाती है, यह न तो कोई नई बात है, और न साम्यवादियों का इससे कोई सम्बन्ध है । तुम्हें याद होगा कि गत शताब्दी के मध्य भाग के करीब हृदय की मुक्ति नाम से यह आन्दोलन रोमांटिक साहित्य में चल निकला था । पर पूँजीवादियों के हाथों में पड़कर यह आन्दोलन कामुकता की मुक्ति बनकर रह गया । उन दिनों इसका जिस प्रकार प्रचार-कार्य होता था वह कुछ प्रतिभापूर्ण था । रहा व्यवहार सो, मैं उनकी तुलना करने में असमर्थ हूँ । मैं यह नहीं कहता कि लोग लंगोट लगाकर संन्यासी बन जायँ । कभी नहीं । समाजवाद यतिवाद में विश्वास नहीं करता, पर जीवन का आनन्द, जीवन की शक्ति तथा पूर्ण सन्तुष्ट जीवन समाजवाद का ध्येय है । मेरा यह विचार है कि इस समय प्रचलित यौन उच्छृङ्खलता से जीवन को आनन्द तथा शक्ति प्राप्त न होकर उससे वे छिन जाते हैं । क्रान्ति के युग में यह बुरा, बहुत ही बुरा है ।"

उन्होंने कहा कि न तो वे संन्यासी ही चाहते हैं, और न डानजुआन चाहते हैं, और न इनके बीच के जर्मन फिलिस्टिनों को ही चाहते हैं । इस प्रकार गोर्की और लेनिन प्रगतिवाद या क्रान्तिवाद के दो महान् प्रतिपादकों का क्या कहना है यह सामने आ गया । रहा यह कि सर्व युग में लोग धोखा खाते रहे हैं यह भी स्पष्ट हो गया । इसलिए इसमें आश्चर्य की बात नहीं है कि प्रगति-वादी साहित्य क्या है, इस सम्बन्ध में भी बड़ी गलतफहमियाँ उत्पन्न हुई हैं । सभी विद्रोह प्रगति नहीं है । हम वर्तमान युग के सबसे बड़े अश्लील लेखक पाल सार्त्र की बात लेंगे । कुछ लोग उनके साहित्य को क्रान्तिकारी समझते हैं, पर असल में उसमें क्रान्ति का कहीं नाम भी नहीं है । वह तो बुर्जुआ सभ्यता की पतनशील अवस्था का प्रतिफलक एक कलाकार है । फिर कहीं

गलत न समझा जाऊँ इसलिए यह स्पष्ट कर दूँ कि सभी क्षेत्रों में जिसे अश्लीलता कहा जाता है, वह वर्जनीय न तो है और न हो सकता है जहाँ विषय को स्पष्ट करने के लिए लेखक थोड़े ब्यौरे में जाता है, वहाँ तो थोड़ी अश्लीलता क्षम्य कही जा सकती है, पर जिस साहित्य का उपजीव्य ही अश्लीलता हो, जिसका स्वयं ध्येय ही अश्लीलता हो, वह साहित्य किसी भी हालत में प्रगतिशील नहीं कहला सकता।

इस सम्बन्ध में एक छोटा-सा उदाहरण दिया जाय कुप्रिन का "गाड़ीवानों का कटरा" नामक पुस्तक आदि से अन्त तक वेश्यालय के सम्बन्ध में होते हुए भी तथा उसमें बराबर अश्लील प्रसंग आने पर भी वह एक प्रगतिवादी रचना कही जा सकती है। बात यह है कि उसका उद्देश्य वेश्या-वृत्ति की जघन्यता का उद्घाटन करना है। इसके विपरीत सार्त्र बिना कारण सर्वत्र अश्लील-प्रसंग लाया है सार्त्र को आधुनिक युग का लंडन-रहस्य-लेखक रेनल्डस माना जा सकता है, पर उसमें प्रगतिवाद या क्रान्तिवाद कहीं नहीं है। अवश्य उसके तथा रेनल्ड के साहित्य को भी सामाजिक कसौटी पर कसा जा सकता है, और वे, जैसा कि मैं पहले ही इंगित कर चुका हूँ, रेनल्डस के क्षेत्र में सामन्तवादी वर्ग तथा सार्त्र के क्षेत्र में पूँजीवादी वर्ग के ह्रास तथा पतन की खबर हमें देते हैं। इस हद तक यह मानना पड़ेगा कि वे प्रगतिशील हैं, पर जहाँ तक कि वे इस ह्रास तथा पतनशीलता को एक गौरवमय रूप देने की चेष्टा करते हैं तथा भ्रम उत्पन्न करते हैं कि यही अवस्था शाश्वत तथा स्वाभाविक है, वे निश्चित रूप से प्रतिक्रियावादी हैं।

जैसे जीवन में यौन वृत्तियों को कोई भी महत्व देने से इन्कार करना गलत है, उसी प्रकार से यह आशा करना भी कि साहित्य में यौन आचारों पर अधिक जोर देना या उन्हें कोई महत्त्व न देना गलत है। प्रगतिवाद-जैसे सभी क्षेत्र में एक उन्नत विचार-धारा को लेकर चलता है, वैसे ही वह यौन-आचार के क्षेत्र में भी नये यौन-आचार का प्रतिपादक होकर साहित्य में आयगा। पर वह किसी भी हालत में पानी के गिलास वाले सर्वबन्धन-मुक्ति का नारा लेकर पूँजी-वादी ढंग से स्वतन्त्र प्रेम का प्रचार नहीं करेगा। जैसा कि इंगित किया जा चुका है, प्रगतिवादी के दृष्टिकोण से स्वतन्त्र प्रेम केवल वही है जो आर्थिक शोषण तथा दबावों से मुक्त हो। पर प्रेम भी एक सामाजिक गुण है, इसलिए स्वतन्त्रता के नाम पर उसे इतना अधिकार नहीं दिया जा सकता कि वह समाज की दूसरी उदात्त भावनाओं को चोट पहुँचाकर उसके संगठन को नष्ट-भ्रष्ट कर दे।

२८

भारतीय फिल्मों में धींगा-धींगी

अभी केन्द्रीय पार्लियामेंट में हमारे यहाँ बनने वाली फिल्मों के सम्बन्ध में कुछ आलोचना हुई थी। एक सदस्य श्री महावीर त्यागी ने अपने ढंग से बनने वाले फिल्मों का यह कहकर तिरस्कार किया था कि इसमें जिस प्रकार की स्त्रियों को दिखलाया जाता है वह उचित नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि भारतवर्ष में फिल्मों के क्षेत्र में बड़ी धींगा-धींगी हो रही है।

साथ ही यह एक बहुत स्वतः सिद्ध-सी बात है कि जिस भी दृष्टि से देखा जाय फिल्म ही भारतवर्ष में सबसे बड़ा (संस्कृति का कह लीजिये या मनोरंजन का कह लीजिये) साधन हो चुका है। उच्च शिक्षित से लेकर मजदूर वर्ग तक सभी फिल्मों में जाते हैं और वह उनके लिए एक आवश्यकता की मर्यादा प्राप्त कर चुकी है। कई दृष्टियों से ऐसा होना मुझे बहुत अधिक वांछनीय नहीं ज्ञात होता। लोग अच्छे-से-अच्छे लेखक की लिखी हुई एक रु० दाम की पुस्तक नहीं खरीदेंगे, ८ आने में अत्यंत सुसम्पादित मासिक पत्रिका नहीं खरीदेंगे पर सिनेमा जायँगे। यहाँ तक कि भूखे रहकर भी सिनेमा जायँगे।

मैं कोई नीतिशास्त्र का डंडा उठाकर इसे रोकने के लिए उद्यत नहीं हूँ। मेरा वक्तव्य केवल इतना है कि जब फिल्म इतनी लोकप्रिय हो चुकी है तो क्या उन्हें साहित्यसंगीतकलाविहीन उत्पादकों पर छोड़ देना उचित होगा। इन उत्पादकों का उद्देश्य केवल पैसे पैदा करना है। यदि पैसा पैदा करते हुए वे साथ-साथ लोगों की सांस्कृतिक सतह की ओर खयाल रखते, किसी-न-किसी प्रकार से नव-निर्माण में सहायक होते तो बात और थी। पर इनका तो उद्देश्य येन-केन-प्रकारेण केवल पैसा पैदा करना है। न तो कहानी ढंग की होती है, और न संगीत ही ढंग का। जब से यह कथित निर्माता या उत्पादकगण खुद कहानी लिखने लगे, अधिकांश क्षेत्र में यह कहानी लिखना केवल दूसरों की चोरी करना या कई को मिलाकर एक बे-सिर-पैर की कहानी बनाना होता है, तब से सिनेमाओं का मान दंड और भी घटने लगा।

जो कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि राष्ट्र-निर्माण की दृष्टि से फिल्मों का नियंत्रण आवश्यक है। अवश्य मैं यहाँ बता दूँ कि नियंत्रण के नाम पर फिल्मों को नौकरशाही के लोगों की दया पर छोड़ देना अच्छा न होगा, उससे शायद फिल्मों का ही नाश हो जाय, इस कारण फिल्मों के नियंत्रण में सरकार को चाहिए कि वह इनके सुधार में विस्तृत विचार-युक्त राजनीतिज्ञों के अतिरिक्त बड़े कलाकारों तथा उपन्यासकारों आदि की सहायता ले।

इस सम्बन्ध में अमरीका में जिस प्रकार से नियंत्रण किया जा रहा है, वह बहुत दिलचस्प होगा। १९३० में 'किंग आव किंग्स' नाम एक फिल्म बन रहा था। यह फिल्म ईसा-मसीह के जीवन-चरित्र पर था। इसे बनाने के लिए फादर डनियल लार्ड नामक एक विद्वान् पादरी की सहायता ली गई। इस कार्य में उक्त पादरी साहब को कुछ अभिज्ञता हुई। उसके आधार पर उन्होंने एक हिदायतनामा-सा बनाया, जिसमें ११ बातों को छोड़ने के लिए तथा २६ बातों का चित्रण करते समय विशेष ध्यान देने के लिए कहा। पर पादरी साहब की इन बातों की सुनाई नहीं हुई। तब पादरी साहब ने इसे एक जन-आंदोलन में परिणत कर दिया और लाखों व्यक्ति उनके द्वारा परिचालित 'लिजेन आव डीसेन्सी' के सदस्य हो गए।

फादर डनियल लार्ड ने हालीवुड में बने हुए १३३ ऐसे फिल्मों की समीक्षा की जो १९३४ के जनवरी से मई तक बने थे, उन्होंने इस समीक्षा के बाद जो वक्तव्य दिया, वह बहुत ही मौके का था। उसमें उन्होंने बताया कि २६ ऐसे कथानक थे जो अनैतिक प्रेम पर अवलम्बित थे, १३ कथानकों का आधार लड़की भगाना था, १२ कथानकों का आधार असफल लड़की भगाना था, ५२ में बलात्कार के दृश्य थे। एक में अगम्य गमन का प्रयत्न था। फादर लार्ड ने यह भी बताया कि जो चरित्र दिखलाये गए थे उनमें से १८ व्यभिचारी का जीवन व्यतीत कर रहे थे, ७ इसकी तैयारी में थे, ३ फिल्मों में तो वेश्याएँ ही मुख्य नायिका के रूप में थीं। इसके अतिरिक्त २५ फिल्मों में इस प्रकार के दृश्य, नाच, गाने, बातचीत थी जो सर्वत्र कुरुचिपूर्ण मानी जायगी।

फादर लार्ड नें जब इन बातों को प्रकाशित किया तो शिक्षा-विशेषज्ञों तथा अन्य लोगों में एक तहलका-सा मच गया। हजारों नौजवानों तथा युवतियों ने जुलूस निकाला और यह माँग रखी कि वे इस प्रकार के कथानक नहीं चाहते।

अब तो फिल्म के व्यापारियों में बड़ी भगदड़ मची। वे घबराए कि कहीं ऐसा न हो कि सरकार बीच में पड़े और फिर उनका करोड़ों का रोजगार मारा जाय। इसीलिए इन लोगों नें जल्दी-से-जल्दी एक बोर्ड बना लिया, और

अपनें-आप अपनी फिल्मों को नियंत्रित करनें के लिए तैयार हो गए। इस कार्य-क्रम के अनुसार एक केन्द्रीय बोर्ड बना, जिसके सामने सब निर्माता अपने फिल्मों को पहले पेश करते हैं। यदि कोई निर्माता इस बोर्ड को बिना दिखाए तथा उसकी सम्मति प्राप्त किये बिना कोई फिल्म दिखलाता है तो उस पर प्राथमिक तौर पर २५ डालर जुर्माना होता है।

इस समय जितनी भी फिल्म अमरीका में बनती हैं, उन्हें इस बोर्ड के सामने भेजा जाता है। अवश्य जैसा कि बताया गया यह बोर्ड स्वयं निर्माताओं का है इस कारण इस बोर्ड के होते हुए भी अमरीका में उत्पन्न चित्र कला की दृष्टि से दुनिया में सबसे निकृष्ट होते हैं। अवश्य इस गिनती में भारत नहीं लिया जा रहा है, क्योंकि उसका तो फिल्म-जगत् में उत्कृष्ट निकृष्ट किसी रूप में भी स्थान नहीं है। हमारे फिल्म-निर्माता और उच्च शिक्षित फिल्म देखने वाले भी हालीवुड को अपना आदर्श समझ बैठे हैं, इसी कारण हमारे यहाँ का मानदंड इतना निकृष्ट है।

पाश्चात्य जगत् में इस सम्बन्ध में एक अच्छा खासा आंदोलन चल रहा है कि फिल्म-निर्माण पेशेवर लुटेरी प्रकृति के निर्माताओं पर न छोड़ा जायगा पर लोग इसका जो दूसरा विकल्प है, सरकारी नौकरशाही के नियन्त्रण में इसे दे देना, उससे भी बचना चाहते हैं। इस कारण इस क्षेत्र में जो कुछ होना चाहिए, वह हो नहीं पा रहा है। कोई सही मध्यम मार्ग निकाल नहीं पा रहा है। क्या यह आशा की जाय कि हमारे देश में जहाँ सारी कर्म-शक्ति को कम-से-कम कुछ वर्षों तक नव-निर्माण में लगाना है कोई ऐसी व्यवस्था निकलेगी जिससे फिल्मों के मनोरंजन तथा सौंदर्य को कायम रखते हुए बल्कि बढ़ाते हुए उन्हें लोक-शिक्षण के साधन के रूप में परिणत किया जाय। इस सम्बन्ध में जल्दी-से-जल्दी कुछ करने की आवश्यकता है, क्योंकि फिल्म वालों की धींगा-धींगी बढ़ती ही जा रही है।

२६

साहित्यकार और राजनीति

बहुत सरसरी दृष्टि डालने वाले को भी यह पता लग जायगा कि हम एक क्रान्ति की गिरफ़्त में हैं···एक ऐसी क्रान्ति, जो केवल हमारी सामाजिक राजनीतिक अट्टालिका के किनारों को खरोंचकर ही दम नहीं लेगी, बल्कि जो शायद हमारे समाज का आमूल चूल परिवर्तन करे। भू भाग तथा अन्य विषयों की दृष्टि से यह क्रान्ति बहुत सुदूर विस्तृत होगी। हम तो जैसे एक गिरि-गह्वर के मुख पर खड़े हैं, और ऐसा मालूम होता है कि इस आसन्न अग्निकांड में हमारी बहुत-सी मान्यताएँ, संस्थाएँ, विचार-धाराएँ, धर्म तथा कुसंस्कार जलकर खाक हो जायँगे। इस क्रान्तिकारी परिस्थिति में राजनीतिक कार्यकर्ता तथा साहित्यकार, जैसा जिससे बन पड़ रहा है, अपनी नाव खे रहे हैं। अवश्य सब अपनी-अपनी रोशनी, संस्कार, स्वार्थ तथा विचारों के अनुसार चल रहे हैं। यदि कोई यह कहे कि सब राजनीतिक कार्यकर्ता एक गिरोह में हैं और सब साहित्यकार दूसरे गिरोह में, तो यह सत्य का अपलाप ही होगा। ऐसे कथन से विचारों की शिथिलता ही जाहिर होती है।

इस बात को दिखाने के लिए इतिहास के हवाले देने की आवश्यकता नहीं कि राजनीतिक कार्यकर्ता और साहित्यकार बराबर एक दूसरे के विरोधी नहीं थे, बल्कि उनका काम मिल-जुल कर चलता रहा है। सभी युगों में इनमें से कुछ प्रगतिशील और बाकी प्रतिक्रियावादी राजा, अधिनायक, नेता हमेशा से यह चाहते रहे हैं कि उन्हें दार्शनिकों, कवियों, पुरोहितों और साहित्यकारों का समर्थन प्राप्त हो, और ऐसा तो नहीं सुना गया कि उन्हें कभी निराशा हुई हो। इसी के साथ सभी युगों में···विशेषकर क्रान्ति के पहले के युगों में··· एसे दार्शनिक, कवि तथा साहित्यकार थे, जो गतानुगतिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का नारा बुलंद करते रहे और यह कहने का साहस रखते थे कि ऐसा नहीं और ऐसा हो।

यद्यपि लोग भारतीय इतिहास के वैदिक युग के विषय में बहुत कम जानते हैं, फिर भी उसके सम्बन्ध में कहते फिरते हैं कि वह इतिहास का एक आदर्श सतयुग था। वर्तमान लेख में गुन्जाइश नहीं कि इस आदर्श युग वाली धारणा की पूरी छान-बीन की जाय। मैं केवल इतना ही दिखलाऊँगा कि उस आदर्श युग में भी कवि तथा दार्शनिक, जिन्हें ऋषि का दर्जा दिया गया था, धन तथा शक्ति से खरीदे जाते थे और वे अपने दाताओं का स्तुति-गान किया करते थे। ऐसा करने में वे वस्तुस्थिति से बिलकुल दूर रह जाते थे। उनकी कविता धार्मिक थी, इस कारण उसके द्वारा जनता को गुमराह करना और भी आसान था।

अब हम सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् डॉक्टर विंटरनिट्ज से उद्धृत करेंगे। वे एक आस्ट्रियन हैं और समाजवाद से शायद उतने ही दूर हैं, जितने चर्चिल। वे वैदिक कविता के सम्बन्ध में लिखते हैं "···कुछ तो विजय-गीत हैं, जिनमें इन्हीं की प्रशंसा है, क्योंकि उन्होंने राजा को शत्रुओं पर विजय पाने के लिए सहायता की है। देवता की स्तुति के साथ-साथ राजा की गौरव-गाथा को एक करके दिखाया गया है। अन्त में ऋषि अपने दाता का जय-गान करते हैं, जिसने उन्हें युद्ध की लूट से गोधन, अश्व तथा सुन्दर दासियाँ दी हैं। साथ ही कविता में कुछ भद्दे, अश्लील मजाकों में उस सुख का भी वर्णन किया गया है, जो कवि को दान में प्राप्त हो रहा है। दूसरी कविताएँ सुदीर्घ यज्ञ-सम्बन्धी गाने हैं (हमें ऐसा मालूम होता है कि कविता जितनी ही लम्बी होती थी, कवि को थैली भी ही उतनी मोटी दी जाती थी)। ये कविताएँ भी इन्हीं को सम्बोधित करके कही गई हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि किसी राजा या सेठ के अनुरोध पर किसी खास मौके पर गाए जाने के लिए ये प्रस्तुत की जाती थीं। ये यज्ञ में गाई जाती थीं। इनके अन्त की ओर यज्ञकर्ता की प्रशंसा की जाती थी, यह इस कारण कि वह कवि को मोटी रकम दे रहा है। इन दान-स्तुतियों में धर्मात्मा दाता का नाम अवश्यमेव उल्लिखित रहता है और किसी-न-न-किसी ऐतिहासिक घटना का भी उनमें जिक्र रहता है। शेषोक्त कारण से वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पर कविता के रूप में इसमें सन्देह नहीं कि ये दो कौड़ी की हैं। ये आर्डर पर मजदूर सरीखे कवियों द्वारा लिखी गई हैं, या कितना मिलेगा, इसी को ध्यान में रखकर लिखा गया है।

"दान स्तुति से सम्बद्ध न होने पर भी ऋग्वेद की कुछ अन्य ऋचाओं के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे भी समान रूप से मजदूरी करने के ढंग से लिखी गई हैं। कभी-कभी वैदिक गायक स्वयं अपनी रचना की तुलना बढ़ई के कार्य से करता है। फिर भी यह ध्यान देने योग्य है कि उन ऋचाओं

का, जिनमें कुछ कवित्व की छटा है, दान-स्तुति द्वारा अन्त नहीं किया गया है। इस पर भी ओल्डेनबर्ग साधारण रूप से सारी ऋग्वेदिक कविता के सम्बन्ध में कहते हैं···"न तो यह कविता सौन्दर्य की सेवा में अर्पित है और न यह धर्म आत्मा को ऊपर उठाता है या उसे आलोक प्रदान करता है, बल्कि इन दोनों का उद्देश्य वर्गहित की सेवा तथा अर्थोपार्जन है।"

विंटरनिट्ज ने १०।११७ (ऋक्०) का विशेषकर उल्लेख किया है। इसके सम्बन्ध में वे कहते हैं कि यह विशेष करके इस कारण उल्लेखनीय योग्य है कि इसमें एक नैतिक अन्तर्धारा है, जो ऋग्वेद के लिए अपरिचित है। वे इसी प्रसंग में कहते हैं कि 'ऋग्वेद सदाचार की पाठ्य पुस्तक के अलावा और चाहे जो कुछ भी हो है।' विंटरजिट्ज उक्त दीर्घ कविता का अनुवाद भी देते हैं। इसमें दान की महिमा गाई गई है। पर इसमें ऐसी-ऐसी पंक्तियाँ हैं, जिनकी केवल एक ही व्याख्या की जा सकती है, कि वे जनता के लिए सान्त्वना के रूप में हैं। जनता की आँखों को खोल देने के बजाय वे जनता के लिए अफ़ीम की तरह हैं। इनमें की प्रथम पंक्तियों का अनुवाद यों हैं··"देवतागण भूख का उपयोग मारने के साधन के रूप में नहीं करते, परितृप्त लोग भी समान रूप से मरते रहते हैं।' इस कविता का स्पष्ट आशय भूख से मरने वाले लोगों को सान्त्वना देना है, और वैदिक युग में ऐसे लोगों की अच्छी संख्या थी, जैसा कि वैदिक साहित्य में उनके उल्लेखों से ज्ञात होता है। इस कविता का उद्देश्य गरीबों में एक तरह के उदासीनतापूर्ण अदृष्टवाद उत्पन्न करके उन्हें जीवन के तथ्यों के प्रति अन्ध बना देना हैं।

इस दीर्घ कविता की अन्तिम पंक्तियाँ यों हैं···'यद्यपि हाथ बराबर होते हैं, पर उनके काम बराबर नहीं होते। दो बहन गाएँ कभी भी बराबर दूध नहीं देतीं, बालकों का बल असमान होता ह, रिश्तेदारों के दिये हुए उपहार भी तो बराबर नहीं होते।' इस कविता में बड़ी सफलता के साथ बहुत थोड़े में उसी बात को कहा गया है, जिसे हमारे युग के बड़े-बड़े वर्ग दार्शनिक पोथों में नहीं कह पाते। मैं यह समझता हूँ, वैदिक वर्ग दार्शनिक के कहने का ढंग बहुत परिणामोत्पादक है। क्यों न होता, क्योंकि इसमें उन उपमाओं से काम लिया गया है, जिन्हें साधारण व्यक्ति बखूबी समझते हैं। वैदिक कवि का कहना है है कि समान तो प्रकृति का नियम ही नहीं है। इसलिए यदि एक भूखों मर रहा है और दूसरा ऐश्वर्य के गद्दे पर पड़ा है: तो इसमें कोई आश्चर्य करने की बात नहीं है। यह बिलकुल स्वाभाविक है।

वैदिक युग के बाद के सारे ऐतिहासिक युगों में पुरोहितगण ही बौद्धिक नेता

दार्शनिक तथा ऋषि रहे। यद्यपि अपने आध्यात्मिक प्रवचनों में ये लोग प्राणि-मात्र की समानता का पाठ पढ़ाते थे, पर ऐहिक व्यावहारिक जगत् में वे ऐसी समानता से कोसों दूर रहते थे। इन्हीं ऋषियों ने जो नियम तथा कानून बनाए, वे ही स्मृतियों तथा संहिताओं के रूप में बन गए। पर इनमें एक ही अपराध के लिए सबके लिए एक ही सजा का विधान करने के बजाय जाति की उच्चता तथा नीचता के अनुसार सजा बताई गई है। डॉ० भूपेन्द्रनाथ दत्त लिखते हैं···"धर्मशास्त्रों में कानून तथा सजा के मामले में क्षत्रिय तथा वैश्य ब्राह्मण से बुरे रहे; पर फिर भी वे इतने बुरे नहीं रहे, जितने शूद्र रहे। द्विजों में भी क्षत्रियों तथा वैश्यों के मुकाबले में ब्राह्मणों के साथ जो भेद-भाव बरतने का विधान है, वह बहुत ही अजीब है। शास्त्रों में कैसा क्या है, इसके थोड़े से उदाहरण लीजिए······

"यदि एक क्षत्रिय या वैश्य ब्राह्मणी से गमन करे, तो वह यदि एक मास तक गो-मूत्र तथा यव पर रहे, तो वह शुद्ध होगा। (याज्ञवल्क्य संहिता, १६७)

"यदि निम्नतर जाति की स्त्री से गमन किया जाय, तो उसमें कोई दोष नहीं लगता, अन्यथा सजा भुगतनी पड़ेगी। यदि उच्चतर वर्ण की स्त्री से गमन किया जाय, तो उसके लिए मृत्यु ही दंड है। (वही २६१)

"अर्थात् वर्णों की श्रेष्ठता के अनुसार सजा मिलेगी। मनुष्य ब्राह्मण का अन्न खाकर दरिद्र होगा, क्षत्रिय का अन्न खाकर पशु होगा, वैश्य का अन्न खाकर शूद्र होगा और शूद्र का अन्न खाकर तो नरक ही होगा। (आंगिरस संहिता, ५६)

"जो पेट में ब्राह्मण का भात लेकर मरता है, उसे अमृत की आवश्यकता होती है। कायस्थ का भात खाकर मरे, तो वह अगले जन्म में दरिद्र होता है। वैश्य का भात खाकर मरे, तो उसे फिर शूद्र का भात खाना पड़ता है, (आत्रेयी संहिता, ६७)

"यदि ब्राह्मण चंडालान्न या गोमांस भोजन करे, तो वह एक गौ दान में दे, क्षत्रिय दो, वैश्य तीन और शूद्र चार दे। (पराशर संहिता, १-३)

"ब्राह्मण के अलावा अन्य कोई भी महापातक करे, तो उसे मृत्यु-दंड मिले। ब्राह्मण के लिए कोई शारीरिक दंड नहीं है। (विष्णु संहिता, ५-१।२)

"यदि क्षत्रिय ब्राह्मण की निन्दा करे, तो उस पर एक सौ पणस जुर्माना हो; वैश्य करे, तो एक सौ पचास या दो सौ हो; शूद्र करे, तो उसे शारीरिक दंड मिले (मनु संहिता, ८।२६७)

"यदि ब्राह्मण क्षत्रिय की निन्दा करे, तो उस पर ५० पणस; वैश्य की करे,

तो २५ पणस, शूद्र की करे, तो १२ पणम जुर्माना होगा।(वही, २३८)"

ऊपर दिये हुए उद्धरणो से साफ है कि उस युग के बौद्धिक नेता हमेशा गतानुगतिकता का समथन करते थे और सारी प्रतिभा लगाकर उसी का राग अलापते थे। यदि हम इससे भी आधुनिक समय के इतिहास मे आयँ, तो हमे यही धाँधली दृष्टिगोचर होगी। इसलिए जब सारे साहित्यिको की तरफ से यह दावा कोई करता है कि वे शहीद ह और उनके सिर पर काटो का ताज है तथा राजनीतिक कार्यकर्ता सब-के-सब पतित है, तो मुझे ऐसे विचार बहुत छिछोरे ज्ञात होते है।

अवश्य ही इसका एक उज्जवल पहलू भी है। वैदिक युग मे बृहस्पति ऐसे दाशनिक थे जो प्रचलित विचारो के विरुद्ध मत रखने का साहस रखते थे। दुर्भाग्य तो यह है कि हम ऐसे विद्वानो के सम्ब ध मे बहुत कम जानते है। बृहस्पति, चार्वाक तथा अन्य स्वाधीनचेता नेताओ की रचनाओ को ऐसी सफलता के साथ दबा दिया गया कि हमारे युग के हिटलर और तोजो उन दबाने वालो से कुछ सीख ही सकते थे। ये ही स्वतन्त्र दाशनिक तथा कवि हमारे यहाँ के प्रथम वैज्ञानिक थे। इन्होने साहसपूवक यह सोचा तो सही कि जगत् की उत्पत्ति भौतिक है। यहाँ पर मै यह बता दू कि गाधी जी तथा दूसरो की कल्पना के राम राज्य का इतिहास में कोई अस्तित्व नही है। जैसा कि एक सामन्तवादी समाज के लिए स्वाभाविक था, वग-भेद बहुत तीव्र थे और इन्हे कायम रखने के लिए सब कुछ किया जाता था। हमारे कुछ दाशनिक तथा अध्यात्मवादी यह प्रमाणित करने की चेष्टा करते रहे है कि मनु सहिता एक आदश कानून की किताब है। हम देख चुके है कि यह दावा बिलकुल गलत है और इसमे सत्य का कोई अश नही है।

पूँजीवाद के अभ्युदय के समय से शासक वग यानी पूजीवादी वग ने भी बडी तत्परता के साथ अपने विशेषाधिकारो की रक्षा की है, पर उनमे इतनी गैरत तो रही कि उन्होने अपने कानून की किताबो में राजा और रक को समान दिखलाया है। अवश्य व्यवहार मे यह समानता कभी भी कार्यान्वित नही होती, क्योकि गरीब और अमीर समान रूप से सब सुविधाओ का उपयोग नही कर पाते। एक ही मामले मे फँसने पर भी गरीब कोई वकील नही कर पाता, पर अमीर अच्छे-से-अच्छे वकील को नियुक्त कर सकता है। ऐसा होते हुए भी कभी-कभी शासक वर्ग को कानूनी समानता के ढोग को कायम रखने के लिए अपने वग के एक आध व्यक्ति को बलिवेदी पर चढा देना पडता है।

स्पष्ट है कि साधारणत बुद्धजीवी वर्ग ने जनता के साथ धोखा किया है।

मैं इस महान् विश्वास-घात के लिए इन बुद्धिजीवियों को विशेष दोष नहीं देना चाहता; क्योंकि यह विश्वास-घात भी वर्ग समाज का एक अंग है। अपने शासन को आराम से चलाने के लिए शासक वर्ग हमेशा दार्शनिकों, लेखकों, कवियों को खरीद लेता है। यदि यही इस समय भी हो रहा है, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर जैसा कि मैंने कई बार इंगित किया, सौभाग्य से कुछ ऐसे साहित्यकार भी मौजूद रहते हैं, जो शक्ति आरूढ़ लोगों का लगान लेने से इन्कार करते हैं और अपने ही मार्ग पर चलते जाते हैं। ये लोग बौद्धिक रूप से वृद्धिशील वर्ग के प्रतिनिधि हैं, यानी उन लोगों के प्रतीक हैं, जिनके हाथों में भविष्य है।

प्रगतिशील झुकाव वाले साहित्यिकों को यह समझना चाहिए कि वे नव निर्माण में क्या हिस्सा अदा कर सकते हैं। अवश्य ही उनका दान बहुत बड़ा हो सकता है; पर उन्हें मगरूर होकर यह नहीं सोचना चाहिए कि वे ही सब कुछ हैं, और वे दूसरों का पथ-प्रदर्शन करेंगे, या जब दूसरे गुमराह हों तो उन्हें राह में लायँगे। इस तरह का दावा निरर्थक है, और जितना शीघ्र वे इस तरह के तीसमारखाँ और हम बड़ा विचारों से मुक्त हो जायँ, उतना ही साहित्य के लिए कल्याणप्रद है। यदि हम अपने देश की मुक्ति के बिलकुल ताजे इतिहास में जायँ, तो हमें ज्ञात होगा कि साहित्यिकों का हिस्सा राज-नीतिक कार्यकर्त्ताओं के हिस्सों से काफी निकृष्ट रहा है। फिर भी साहित्यकार उनका मजाक उड़ाते हैं। अवश्य वे ऐसा सोचकर आत्म-प्रसाद पा सकते हैं कि महात्मा गांधी, पंडित नेहरू, राजेन्द्र बाबू, सुभाष बाबू ने कुछ पुस्तकें लिखीं, इस कारण वे साहित्यिक हैं और इसलिए देश की मुक्ति में साहित्यिकों का प्रधान हिस्सा है। यह सब प्रचार कार्य के तौर पर अच्छा है, आत्म प्रतारण के लिए भी अच्छा है; पर सत्य तो यह है कि कुछ पत्रकारों के हिस्से के अलावा, जिन्हें ऊँचे साहित्यकार कुछ गिनते ही नहीं, हमारे देश की मुक्ति में साहित्य-कारों का कोई विशेष हिस्सा नहीं रहा। प्रेमचन्द भी अपने कैमरे को लेकर आन्दोलन के पीछे चले, आगे नहीं।

साहित्यकारों को यह समझना चाहिए कि दूसरे क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं के साथ-साथ वे भी मनुष्य के शोषण से मुक्त समाज को लाने के लिए अपने ढंग से तथा अपने साधनों से संग्राम कर रहे हैं। उन्हें चाहिए कि वे स्पष्ट विचार रखें। उन्हें इस प्रकार के वाक्यांशों का व्यर्थ प्रयोग नहीं करना चाहिए, जैसे एक में अनेक और अनेक में एक। उन्हें चाहिए कि विचारों का सरलीकरण करें और उलझे हुए विचारों को खाहमखाह और भी उलझावें नहीं। जनता

की सच्ची सेवा में समर्थ होने के लिए साहित्यकारों को समाज यंत्र का वैज्ञानिक-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। जैसा कि बुखारिन का कहा है"...समाज केवल मनुष्यों का जमाव-मात्र नहीं है। समाज मनुष्यों का ऐसा समूह है, जिनका आपस में क्रियाशील सम्बन्ध है, साथ ही जिनकी प्रकृति के साथ सक्रिय, सामूहिक, व्यावहारिक, पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया भी है। इस प्रकार मनुष्य+मनुष्य+मनुष्य नहीं है, यह मनुष्य×मनुष्य×मनुष्य है। मनुष्यों का केन्द्रीय समूह तो है, पर इसके साथ ही उसकी वस्तुगत व्यावहारिक क्रिया-प्रतिक्रिया है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य तथा परिस्थितियाँ बराबर बदलती रहती हैं। इस कारण द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी के मत में न तो समाज को व्यक्तियों की अनेकता में खो डालना है और न व्यक्तियों की बहुलता तथा विविधता को समाज की एकता में खो डालना है।...समाज का अपना एक गतिशास्त्र है, जो एक तरफ तो प्रकृति से तथा दूसरी तरफ व्यक्ति से मिलाता है; पर वह उनसे पृथक् तथा भिन्न है। उनके साथ इनका सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक है, न कि यांत्रिक।"

कुछ साहित्यकार, जिनको समाज के गतिशास्त्र के बसंत की खबर भी नहीं है, कहते फिरते हैं कि साहित्यकार का उपजीव्य व्यक्ति है, जब कि राजनीतिक लोगों का उपजीव्य समाज है। यह वर्गीकरण सम्पूर्ण रूप से धाँधलेबाजी से भरा हुआ है और इससे साहित्य और राजनीति दोनों का अज्ञान सूचित होता है। ऐसे साहित्यिकों को, जिनको सबेरे के अखबार से राजनीति का परिचय होता है, ऐसा मालूम पड़ता है कि राजनीतिक नेतागण केवल भीड़ों से ही सम्बन्ध रखते हैं। पर ऐसा मालूम होना गलत है। लेनिन, गांधी, नेपोलियन, हिटलर या अन्य किसी भी छोटे या बड़े मनुष्यों के नेता या बहकाने वाले को लीजिए। वे अवश्य ही लाखों को चलाते हैं; पर उनके निजी कमरे में जाइए, तो आप उन्हें व्यक्तियों को समझाते-बुझाते, दर्शन देते पायँगे। वे यहाँ अपने झगड़ते हुए लैफ्टिनेण्टों के झगड़े मिटाते हैं, उनकी खाम खयालियों, उच्चाकांक्षाओं और मूर्खताओं के प्रति ऊपरी तौर पर रियायत करते हुए भी अपनी ही बात उनसे करवाने की चेष्टा करते हैं। अपने कमरे में राजनीतिक नेता प्रत्येक व्यक्ति से व्यक्ति रूप में मिलता है। कोई भी नेता तब तक महान् नेता नहीं हो सकता, जब तक उसके लेफ्टिनेण्ट महान् न हों। जो नेता अपने लेफ्टिनेण्टों से व्यक्तिगत रूप से मिल नहीं सकता, वह नेता बन ही नहीं सकता, और यदि बन जाय, तो टिक नहीं सकता। सफल राजनीतिक नेता वही है, जो जनता को और साथ ही व्यक्तियों को सही

नेतृत्व दे सकता है या उन्हें बहका सकता है। यह समझना कि राजनीतिक नेता को केवल समूह से काम पड़ता है व्यक्ति से नहीं, एक अज्ञ व्यक्ति या मूर्ख के लिए ही उपयुक्त है, जिसे कुछ पता ही नहीं है। दूसरा विचार भी समान रूप से मूर्खतापूर्ण है कि साहित्यकार, उपन्यासकार या कवि केवल व्यक्ति को लेकर चलता है। पहली बात तो यह है कि एक व्यक्ति का कोई साहित्य नहीं हो सकता। साहित्य जब होगा, तो व्यक्तियों को लेकर। यहाँ तक कि यदि कोई व्यक्ति छिपाकर अपने लिए डायरी लिखे और खुद ही पढ़े, तो भी उसमें अन्य व्यक्तियों के साथ उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया का ही वर्णन होगा। हमारे ये व्यक्ति-सर्वस्व साहित्यकार नहीं जानते कि भाषा स्वयं एक सामाजिक उपज है। भाषा अपने भाव दूसरे पर व्यक्त करने के लिए है, और भाषा के बिना कोई साहित्य नहीं हो सकता।

राबिन्सन क्रूसो करीब-करीब एक व्यक्ति का चरित्र है, फिर भी उसके लेखक ने उसे यह समझकर लिखा है कि इसे पढ़ने वाला पूरा समाज है। यह बड़े ही दुःख की बात है कि हमारे कुछ साहित्यिक यही नहीं जानते कि उन्हें क्या करना है। यह बात सही है कि उपन्यास, नाटक आदि में व्यक्तियों का वर्णन होता है, पर कैसे व्यक्ति ? ऐसे, जिनका समाज से सजीव सम्बन्ध है·· चाहे वह सम्बन्ध खुला हो या छिपा। यदि कोई सृजन करने का इच्छुक कलाकार इस ढाँचे को न समझ पाय और यह न जान पाय कि समाज में व्यक्ति का क्या स्थान है, तो वह कभी सफल नहीं होगा। अवश्य यह जरूरी नहीं कि वह अपने अनजान में ही इस विषय का ज्ञान रखता हो। पर यदि किसी को इस विषय की सज्ञान जानकारी हो, साथ ही वह कलाकार भी हो, तब तो सोने में सुहागा रहेगा।

उपन्यासकार व्यक्तियों को लेकर चलता है; पर जैसा कि शहीद कलाकार राल्फ फाक्स ने बड़े मार्मिक ढंग से लिखा है "···प्रत्येक मनुष्य के मानो दो इतिहास हैं, क्योंकि वह साथ ही एक टाइप है, यानी सामाजिक इतिहास से युक्त एक आदमी है और दूसरी तरफ व्यक्तिगत इतिहास से युक्त एक व्यक्ति है। अवश्य ये दोनों, भले ही उन दोनों में तीव्र विरोध हो, एक हैं, यानी एक इकाई के रूप में हैं, जहाँ तक कि शेषोक्त प्रथमोक्त पर निर्भर है, यद्यपि इसका अर्थ यह न तो है, न होना चाहिए कि कला में सामाजिक टाइप उस विशेष व्यक्तित्व पर हावी रहे। फालस्टाफ, डान क्विक्साट, टाम जोन्स, जूलियट सरेल, मोशिए द शार्लस···ये सभी चरित्र टाइप हैं; पर जिनमें सामाजिक विशेषताएँ बराबर व्यक्ति को उद्घाटित करती हैं तथा जिनमें सामाजिक

आशाएं भूख, प्रेम, ईर्ष्या, उच्चाकांक्षाएँ अपनी बारी में सामाजिक पृष्ठभूमि को आलोकित करती रहती हैं। उपन्यासकार तब तक व्यक्ति की कहानी नहीं लिख सकता, जब तक कि उसके मन में समग्र ही स्पष्ट धारणा न हो। उसे यह समझना चाहिए कि उसका अन्तिम परिणाम किस प्रकार उसके वैयक्तिक संघर्षों से उद्भूत होता है। साथ ही उसे यह भी समझना चाहिए कि जीवन की वे कौन-सी विविध परिस्थितियाँ हैं, जिनसे एक व्यक्ति वैसा या वैसी हुआ या हुई हैं, जैसा कि वह इस समय है। 'जो निकला, उसे किसी ने नहीं चाहा था'...एंजेल्स के ये शब्द किस प्रकार कला के प्रत्येक महान् कार्य का एक खाका सा खींच देते हैं, और कितनी अच्छी तरह यह जीवन के ढाँचे को व्यक्त करता हैं; क्योंकि प्रत्येक ऐसी घटना के पीछे, जिसे किसी ने नहीं चाहा था, एक ढाँचा तो है ही।"

यह स्वयं साहित्यकारों के ही हक में होगा कि वे समाज के विराट ढाँचे में अपने वास्तविक स्थान को समझें। साहित्यकार का काम ऐसा है कि उसे अधिक ख्याति प्राप्त होती है; पर इस कारण वह अपनी दुम को मोटी करके यह न करें कि आधी में तो उसकी लिखाई है और बाकी में सारी खुदाई है, या वही भविष्य का स्थपति है। जैसा कि पहले ही स्पष्ट दिया जा चुका है, भविष्य के स्थपतियों में होने के लिए यह जरूरी है कि साहित्यकार के विचार उदार हों। संकुचित तथा प्रतिक्रियावादी कलाकार, चाहे उसे कितनी भी सफलता मिले, भावी समाज के स्थपतियों में परिगणित नहीं हो सकता। वैज्ञानिक, शिक्षक, राजनीतिक कार्यकर्ता, भास्कर, डॉक्टर, इतिहास में सबका अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है ··इतना महत्त्वपूर्ण स्थान कि ऊँचे दर्जे का अच्छा लेखक उसी दर्जे के एक वैज्ञानिक या राजनीतिक कार्यकर्ता से बढ़कर होने का दावा नहीं कर सकता। इसलिए यह विचार कि साहित्यकार दूसरों को भटकने से बचायँगे, सरासर मूर्खतापूर्ण है। हमें ऐसे दावेदारों से कहना है कि डॉक्टर, पहले अपना इलाज तो कर लो। क्या यह बात सत्य नहीं है कि समसामयिक सारे प्रचार-कार्य पर एकाधिकार वाले लोग भी बाद में इतिहास के कूड़ेखाने में पटक दिए गए और आज उनका 'नाम लेवा पानी देवा' कोई नहीं है।

अवश्य यहाँ साहित्यकारों को फिर चेता दूँ, ऐसा राजनीतिक लोगों और साथ ही साहित्यिकों के लिए भी सत्य है। राजनीति में नकली नेता और वीर होते हैं, तो साहित्य में भी बाघ की खाल ओढ़े हुए गदहों की कमी नहीं है, जो परस्पर प्रशंसा करके भोले पाठकों को उल्लू बनाया करते हैं। मैं साहित्यकारों से यह नहीं कहता कि वे अपने हस्तीदंत-निर्मित मीनारों में कैद रहें। मैं तो

उनसे इनके विपरीत ही कह रहा हूँ। मैं तो उनसे यह कह रहा हूँ कि अपनी कला के लंगोट के प्रति सच्चा रहकर वे युग निर्माण के अखाड़े में कूद पड़ें, और यदि किसी कारण से वे समझते हैं कि उनका साधन अयथेष्ट है, तो वे लेखनी को छोड़कर और किसी अस्त्र को अपनावें। पर यह रोने के रूप में दूसरों के पथप्रदर्शक न वनें। दिल में तो ये अपनी हीनता को खूब समझते हैं, पर ऊपर से अकड़ दिखाते हैं कि आओ, हम तुम्हें शिक्षा दें। सच तो यह है कि ऐसे लोगों के पास देने को कुछ नहीं है, तभी वे देते फिरते हैं। पहले तो वे इस योग्य बनें, फिर कामना करें। बढ़-बढ़कर बातें करने से साहित्यकारों के पल्ले कुछ नहीं पड़ने का यदि वे गोर्की जैसे साहित्यकार पैदा करें, तो लेनिन-जैसे व्यक्ति सम्मान के साथ उनकी बातें सुनेगा। वे रवीन्द्र-जैसे साहित्यकार पैदा करें, तो गान्धीजी, नेहरू और पटेल उनसे पथ-प्रदर्शन, शांति तथा सत्संग की इच्छा करेंगे। बर्नार्ड शा-जैसे साहित्यकार पैदा करें, तो चर्चिल भी उनसे काँपेंगे। इसलिए मेरा यही नम्र निवेदन है कि साहित्यकार प्रवचन करते हुए मारे-मारे न फिरें। वे अच्छी चीजें लिखें। फिर उनकी कौन नहीं सुनेगा ?

३०

अतीत का मोह

अतीत तथा अतीत की वस्तुओं की तथा व्यक्तियों की पूजा कुछ लोगों में इतनी मज्जागत हो गई है कि कोई और बात उनके दिमाग में नहीं घुसती। उनके निकट कोई स्वर्णयुग या सत्ययुग है तो वह भूतकाल में ही है, वह कल्पित स्वर्णयुग उनके लिए वह कसौटी है, जिस पर कि वे वर्त्तमान, यहाँ तक कि भविष्य को भी कूतते रहते हैं।

यह बात सच है कि हम चाहें या न चाहें, एक हद तक अतीत हमारे साथ है, और हम कितना भी प्रयत्न करें, उसे संपूर्ण रूप से हटा नहीं सकते। वह तो हमारी धमनियों में रक्त के रूप में प्रवाहित है। मैं तो यहाँ तक समझता हूँ कि सब प्रकार से अतीत से छुटकारा पा लेना या उससे मुक्त हो जाना न तो हमारा ध्येय है, और न हो सकता है। मनुष्य रूप में हमारी श्रेष्ठता यही है कि हम अतीत की अभिज्ञताओं से लाभवान् हो सकते हैं, जबकि इतर प्राणी नहीं हो सकते या हो सकते हैं तो बहुत कम दर्जे तक।

हमारे ज्ञान, विज्ञान के किसी भी अंश को लिया जाय, तो हमें ज्ञात होगा कि भूतकाल के प्रयोगों, कार्यों और घटनाओं पर निर्माण करने की शक्ति में ही हमारा बड़प्पन निहित है। एक पुश्त ज्ञान के सूत्र को जहाँ छोड़ जाती है, यदि अगली पुश्त उस सूत्र को वहीं से आगे लेकर आगे जाने की सामर्थ्य नहीं रखती, तो आज हम नियाँडरथाल के मनुष्य से कुछ उन्नत न होते। इसलिए जब यह कहा जा रहा है कि हम अतीत के दास नहीं रहना चाहते, तो इसका केवल इतना ही अर्थ है कि हम अतीत को अतीत समझते हैं, और उस पर आगे चलने, प्रगति करने, उन्नति करने का हौसला रखते हैं।

जब देखो तब रामायण, महाभारत, वेद की हाँकना अच्छा नहीं मालूम होता। अवश्य ही हम इन महान् ग्रंथों की कद्र को अच्छी तरह समझते हैं। वे हमारे इतिहास के अविच्छेद्य अंग हैं। हम किसी भी प्रकार से उनके महत्त्व को अस्वीकार नहीं करते, पर जब हमें प्रकारांतर से यह समझाने की चेष्टा की जाती है कि जो कुछ भी उत्कर्ष था, वह पहले के युगों में था, और अब

हम कुछ नहीं हैं, तो हमें इस पर आपत्ति होती है। हमारा कहना यह है कि हमारे पूर्वज महान् थे, पर हममें महत्तर संभावनाएँ हैं।

यह जो विचार-शैली है, जिसमें यह समझा जाता है कि हमें किसी अतीत युग के विचारों तथा व्यवस्थाओं से परिचालित होना चाहिए, सर्वथा वर्जनीय है। महात्मा गांधी ने रामराज्य के रूप में जो आदर्श रखा है, उसके गुण-दोष के विचार का स्थल यह नहीं है, पर इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने इस प्रकार हमारे अतीत के एक युग विशेष को अनुकरणीय, माननीय तथा ध्येय के रूप में रखा है। प्रत्येक उच्च आदर्श के लिए किसी-न-किसी प्रकार के यूटोपिया की कल्पना आवश्यक समझी गई है। हमें इस तरीके से कोई झगड़ा नहीं है यानी तब तक झगड़ा नहीं है जब तक कि वह वास्तविकता से दूर न हो जाय या जब तक कि वह हमें वास्तविकता से मुँह मोड़ लेने के लिए विवश न करे।

रामराज्य गांधीवाद का यूटोपिया है। हमें दो प्रधान कारणों से इस पर आपत्ति है। पहला कारण तो यह है कि अतीत के एक ऐतिहासिक युग को हमारा ध्येय या आदर्श बताया है। दूसरे शब्दों में ऐसा आदर्श रखने का तात्पर्य यह है कि विकासवाद के सर्वमान्य सिद्धांत को इस प्रकार से मान्यता नहीं दी जा रही है। किसी भी रूप में यह कल्पना करना कि हजारों वर्ष पहले मनुष्य जाति अब से अच्छी थी या अच्छी अवस्था में थी, यह प्रकट करता है मानो इस बीच में हमारी कोई प्रगति हुई ही नहीं। अन्य वादों की तरह गांधीवाद में भी यूटोपिया हो, केवल इतने में हमें कोई आपत्तिजनक बात दिखाई नहीं देती, पर जब उसके साथ यह कहा जाता है कि किसी प्रागैतिहासिक युग में, चाहे वह रामराज्य हो चाहे मुहम्मदराज्य हो, हम सभ्यता तथा संस्कृति के उच्चतम सोपान में थे, तो हमें इस पर बहुत आपत्ति होती है।

राम और उनका रामराज्य

हमें रामराज्य के यूटोपिया पर दूसरी आपत्ति जिस कारण से है, वह बहुत ही सरल है। वह आपत्ति यह है कि जिस रूप में रामराज्य बताया जाता है, उस रूप में रामराज्य का इतिहास में कोई अस्तित्व नहीं है। भारतीय प्राचीन साहित्य का क ख ग जानने वाले इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि ऋग्वैदिक युग में ही यहाँ अच्छी तरह वर्ग समाज का उदय हो चुका था। इस कारण वर्ग समाज की जो भी विशेषताएँ थीं, उस युग में उनका उदय था। स्वयं वाल्मीकि ने रामराज्य का जो चित्र खींचा है, वह अन्य

राजाओं के मुकाबले में कुछ अधिक प्रशंसात्मक नहीं है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर कोई अधार्मिक विचारों के व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने संस्कृत साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। वह राम-चरित्र के विषय में लिखते हैं :

"युद्धकांड तक रामायण में राम का जो चरित्र दृष्टिगोचर होता है, उस में भलाइयाँ भी हैं, बुराइयाँ भी हैं, आत्मखंडन भी है, और यथेष्ट कमजोरियाँ भी हैं। यद्यपि राम प्रधान नायक है, फिर भी श्रेष्ठता के किसी काल-प्रचलित बँधे-बँधाए नियम के अनुसार उन्हें अस्वाभाविक रूप से सुसंगत करके पेश नहीं किया गया है, अर्थात् किसी एक शास्त्रीय मत के त्रुटिहीन प्रमाण के रूप में उन्हें पाठकों की अदालत में गवाह बनाकर खड़ा नहीं किया है। पितृ सत्य की रक्षा के लिए उत्साह के कारण उनके पिता का जो प्राणनाश हुआ, वह भले ही शास्त्रीय रूप से समर्थन योग्य बताया जाय, पर बालि का वध किस नीति से उचित है ? इसके बाद विशेष उपलक्ष्य पर रामचन्द्र ने सीता के सम्बन्ध में लक्ष्मण पर जिस वक्रोक्ति का प्रयोग किया था, उसमें भी श्रेष्ठता का आदर्श कायम नहीं रहा। रामायण के कवि ने किसी एक मत की संगति के तर्क को लेकर राम के चरित्र का निर्माण नहीं किया यानी वह चरित्र स्वाभाविक है, वह चरित्र साहित्य का है, पर वह चरित्र वकालत का नहीं।"

पर रामराज्य भी कल्पना में राम के चरित्र तथा राम के राज्य-शासन को एक मत विशेष की वकालत का साधन बनाने की चेष्टा की गई है, और यह गलत है।

अब हम अपने मौलिक विषय पर लौटते हैं। हमें अपने पूर्व पुरुषों पर गौरव है, हमें अपने प्राचीन साहित्य पर नाज़ है, पर इस रूप में नहीं कि हम उसी को भविष्य का एक-मात्र पाथेय बनायें। न तो हमारे पूर्व पुरुषों ने ही ऐसा किया और यदि हम प्रगति चाहते हैं, तो हम भी ऐसा नहीं कर सकते। हम रामराज्य, मुहम्मदराज्य या जो भी राज्य हो उससे सबक लेने के लिए तैयार हैं। पर उसकी बुतपरस्ती करना हमारे वश का नहीं है।

स्थिर कुछ भी नहीं

यदि हम अपने भूतकाल की तरफ जरा भी विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखें, तो हमें यह ज्ञात होगा कि हम जिन विचारों, संस्थाओं तथा रूढ़ियों को शाश्वत और चिरंतन समझते आ रहे हैं। इतिहास के एक विशेष सोपान में उनकी उत्पत्ति हुई, और इसलिए यदि इतिहास के किसी अगले सोपान में उनका विलय हो, तो हमें उस पर कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। प्रत्येक

विचार तथा संस्था का एक ऐतिहासिक तकाजा होता है, और उसके बाद उसका विलुप्त हो जाना स्वाभाविक है। जब ऐसा विलोप सामने आय तो उस पर आँसू बहा-बहाकर रोने की कोई आवश्यकता नहीं है।

एक बहुत ही शाश्वत समझे जाने वाले विचार को लिया जाय। हम नीति या सदाचार का नाम सुनते ही सेक्स या यौन सदाचार की बात सोचने लगते हैं, यद्यपि सच तो यह है कि यौन सदाचार सदाचार का एक अंग-मात्र है। इस क्षेत्र में आज जो मान्यताएँ हैं, वे हमेशा से नहीं हैं, और आज भी सब देशों में उनका रूप एक नहीं है। अति आदिम युग में विवाह-प्रथा नहीं थी। तब मातृ-गमन, पितृ-गमन, भगिनी-गमन, भ्रातृ-गमन आदि सभ्यता थी। ऋग्वैदिक युग में हम मातृ-गमन युग से आगे बढ़ चुके थे, पर ऋग्वेद में सगे भाई और सगी बहन के विवाह के बहुत से प्रमाण मौजूद हैं। अभी भी हिंदू तथा मुसलमानों में बहुपत्नीत्व-प्रथा जारी है। सुधारक उसे बंद नहीं कर पाए। हमारे पुरुष-प्रधान समाजों में अब भी स्त्रियों और पुरुषों के लिए यौन सदाचार के भिन्न-भिन्न मानदंड रखे गए हैं। इसलिए नीति तथा सदाचार की धारणा, जिसे लोग शाश्वत समझते हैं, कतई शाश्वत नही है—यह स्पष्ट है। उत्पादन-पद्धति में स्त्री के महत्व में वृद्धि या कमी के साथ-साथ यौन सदाचार का शिकंजा उस पर कड़ा या नरम किया गया है।

एक अन्य शाश्वत विचार-धारा को लिया जाय। यद्यपि सब भारतीय धर्मों में आत्मा का स्थान नहीं है, पर भारत में उत्पन्न सभी धर्मों में जन्मान्तर-वाद एक ऐसा विचार है जो सर्वमान्य है। आत्मा का अस्तित्व न मानते हुए भी किस प्रकार से बौद्ध और जैन धर्म कर्म को ही जन्मांतरवाद का कारणीभूत समझते हैं, इसकी यहाँ पर व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है।

सब यही समझते हैं कि जन्मान्तरवाद की यह धारणा बहुत ही प्राचीन, यहाँ तक कि शाश्वत है। पर ऐसी कोई बात नहीं जैसा कि विंटर नीट्ज ने तथा अन्य विद्वानों ने लिखा है। स्वयं ऋग्वेद में जन्मान्तरवाद का कोई पता नहीं है। विंटरनीट्ज का कहना है:

"आत्मा की पुनर्जन्म-प्राप्ति तथा पुनर्जन्म-सम्बन्धी जो दु:खात्मक विश्वास है, और जो विश्वास बाद की सदियों के दार्शनिक विचारों पर संपूर्ण रूप से नियंत्रण सा करता है, ऋग्वेद में उसका कहीं भी पता नहीं मिलता।" विंटरनीट्ज इससे यह उपसंहार निकालते हैं कि बाद के भारतीय साहित्य तथा अति प्राचीन वैदिक साहित्य के अन्तर्गत विचार इसीलिए बिलकुल भिन्न हैं।

हिन्दू धर्म का इतिहास तो बहुत बड़े परिवर्तनों से भरा पड़ा है। वेदों म जिस धर्म का प्रतिपादन है, उसे प्राकृतिक धर्म कहा गया है। उस युग में आर्यों को परलोक की चिंता नहीं थी। वे इहलोक के सुख, समृद्धि, युद्ध में विजय, रोग से मुक्ति, शत्रुओं का विनाश आदि के लिए विभिन्न देवताओं से प्रार्थना करते थे। इन देवताओं के साथ आर्यों का सम्बन्ध बहुत-कुछ लेन-देन-मूलक है यानी ऐसा कि मैं तुम्हें सोमरस पिलाता हूँ, तुम्हारे लिए यज्ञ में आहुति देता हूँ, तुम हमारे लिए यह करो, वह करो इत्यादि। इस समय तक जीवन में पारलौकिक दृष्टिकोण की प्रधानता नहीं हुई थी। अन्वेषणों से यह भी पता चलता है कि वैदिक युग में एकेश्वरवाद नहीं था, यद्यपि समय-समय पर वरुण, इंद्र आदि को प्रधानता हो गई।

काल-क्रम से यही वैदिक धर्म बहुत ही जटिल अनुष्ठानमूलक हो गया। इसी के विरुद्ध विद्रोह में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, जैन, बौद्ध आदि मतों की उत्पत्ति हुई। जहाँ पहले वैदिक धर्म में आत्म-तृप्ति की भावना थी, वहाँ बाद में आत्म, विलोप की भावना का प्रचार हुआ। मनुस्मृति तथा गृह्य सूत्रों का धर्म बिलकुल ही प्रतिक्रियावादी हो गया। खुल्लम-खुल्ला वर्ग पक्षपात शास्त्रीय हो गया। यह स्मृतियों तथा सूत्रों में वर्णित समाज-व्यवस्था से ज्ञात होता है। आश्चर्य होता है कि डॉक्टर भगवानदास आदि हिन्दू स्मृतियों के प्रशंसक किस प्रकार इन बातों की व्याख्या करेंगे कि इन कथित आदर्श स्मृतियों तथा सूत्रों में एक ही अपराध के लिए शूद्र और ब्राह्मण की सजाओं में आकाश-पाताल का अंतर है। उदाहरणार्थ, यदि शूद्र ब्राह्मणी पर बलात्कार करे, तो उसके लिए प्राण-दंड का विधान है, पर यदि ब्राह्मण शूद्रों पर करे, तो उसके लिए बहुत लघु दंड है।

अतीत आदर्श नहीं बन सकता

इसीलिए मेरा यह वक्तव्य है कि अतीत को हम आदर्श के रूप में नहीं रख सकते। अन्वेषणों से तो यह भी ज्ञात हुआ है कि प्रत्येक देश में जो ईश्वर के विश्वास की उत्पत्ति हुई, उसके पीछे भी वीर-पूजा की भावना थी। हमारे देश में, जहाँ राम, कृष्ण, बुद्ध आदि ऐतिहासिक व्यक्ति अवतार के रूप में मान लिए गए, इस धारणा को बहुत स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। कच्छ मच्छ, बराह आदि अवतार पशु-प्रतीक-पूजा के ही रूप हैं। कई बार दो-दो चार-चार कबीलों के देवता एक हो गए हैं, एक का मुण्ड ले लिया गया, तो दूसरे का धड़ या अन्य अंग। इसी प्रकार से गणेश आदि देवताओं की उत्पत्ति हुई। इस संबंध में जो गवेषणाएँ हुई हैं, उनसे यह पता चलता है कि प्रत्येक

जाति में वीर-पूजा का या वीर का सूक्ष्मीकरण होकर ईश्वर की उत्पत्ति हुई। वेदों के आर्य बाद में ईश्वरवादी हुए हैं। पहले सोपान में वे बहुदेवदेवीवादी थे।

अतीत के संबंध में जानकारी प्राप्त करना बहुत ही आवश्यक है। सच तो यह है कि जब तक अतीत को जान नहीं लेते, तब तक भविष्य का निर्माण नहीं कर सकते। मैक्सिम गोर्की ने अपने एक अत्यंत प्रसिद्ध लेख का नाम ही यह रखा है कि हमें भूतकाल का ज्ञान अवश्य करना चाहिए, इस लेख में उन्होंने बहुत जोरदार तरीके से इस बात को कहा है कि केवल नारों को सीख लेने से ही कोई क्रांतिकारी नहीं हो सकता। हमें अपने अतीत को जानना चाहिए, पर इसलिए नहीं कि हम उसी को प्रमाण मान लें, और उसी के अनुकरण में अपने पुरुषार्थ की इतिश्री समझें, बल्कि इसलिए कि हमें उस पर निर्माण करना है। जो स्थापित नींव को अच्छी तरह नहीं जानेगा, वह उस पर अट्टालिका का निर्माण कैसे करेगा।

परिवर्तन से घबराइए नहीं

अब हम संक्षेप में यह बतला दें कि अतीत के अध्ययन से हम किन उपसंहारों पर पहुँचते हैं। जैसा कि हम बतला चुके हैं, सबसे पहला उपसंहार तो यह है कि अमीबा के जीवन से लेकर बीसवीं सदी तक कोई भी सोपान, विचार या संस्था स्थायी नहीं रही। बराबर परिवर्तन होते रहे हैं।

दूसरा उपसंहार यह है कि यद्यपि परिवर्तन होते रहे, पर निरन्तर प्रगति होती रही है। यह प्रगति केवल बाह्य नहीं, बल्कि आभ्यंतरिक भी रही है। अमीबा के शरीर से उन्नति करते-करते जैसे हमें बीसवीं सदी के मनुष्य का शरीर प्राप्त हुआ है, उसी प्रकार से अमीबा के मन से उन्नति करते-करते हमें नियांडरथाल के मनुष्य का मन प्राप्त हुआ, और फिर उससे उन्नति करते-करते हमें आइंस्टाइन का मन प्राप्त हुआ।

इसी से तीसरा उपसंहार यह निकलता है कि प्रगति को सामने रखते हुए हमें किसी भी परिवर्तन से घबराने की जरूरत नहीं है। यह इतिहास की एक बहुत ही साधारण बात है कि एक क्रांतिकारी विचार लेकर उठता है। फिर कालांतर में जब वह विचार शोषक वर्ग के साथ एकात्मक हो जाता है, तो वही रूढ़ि हो जाता है, और उसे त्यागकर आगे बढ़ने में ही समाज का कल्याण होता है।

इन्हीं क्रांतिकारी दृष्टिकोणों को लेकर हमें अतीत की तरफ दृष्टिपात करना चाहिए, और नीर-क्षीर-विवेक से काम लेकर प्रगति के पथ पर अकुंठित

होकर आगे बढ़ना चाहिए। हमें न तो बाबा वाक्य को प्रमाण मानकर ठिठकना चाहिए, न रूढ़ियों से घबराना चाहिए। रवीन्द्रनाथ की भाषा में हमें सड़े-गलों को कुचलकर, उन्हें आघातों से जगाकर अपने पथ का निर्माण करना चाहिए।

३१

महापुरुषवाद और प्रतिभा का जन्म तथा विकास

(१)

'प्रनीक' की दिसम्बर १९५१ की सरया मे 'इतिहास की महापुरुषवादी व्याख्या और माक्सवाद' नाम से एक विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। यदि शीषक की दृष्टि से देखा जाय, तो लेख इतने पर ही खत्म हो जाना चाहिए था कि महापुरुषवाद को भौतिकवादी नही मानते। पर लेखक ने इतना दिखाकर ही सन्तोष नही किया है, और वे स्वय महापुरुषवाद को न मानते हुए भी उसके पक्ष मे कुछ तक दे जाते है। यो मै इस लेख पर कोई विशेष ध्यान न देता, किन्तु एक तो इस लेख मे मेरा उल्लेख कई बार आया है, दूसरे, विद्वान् लेखक ईमानदारी के साथ चीजो को समझने की चेष्टा करते हुए ज्ञात होते है, इस कारण मै नम्रतापूर्वक इस लेख के सम्बन्ध मे कुछ निवेदन करने का साहस करूँगा।

प्रश्न के आरम्भ से ही विचार किया जाय। लेखक यह मानते है कि "व्यक्तिवादी अथवा पौरुषवादी इतिहास सिद्धान्त का भी सबसे बडा दोष यह है कि वह समाज की निर्वैयक्तिक शक्तियो की सवथा उपेक्षा करके इतिहास के परिवतनो, क्रान्तियो का सारा श्रेय व्यक्ति-विशेषो को दे डालता है। मार्क्सीय समाजवाद ने इस रूढ किन्तु भ्रा त सिद्धान्त का खडन किया, और बतलाया कि कम प्राय सामाजिक हुआ करता है, वैयक्तिक नही।"

इतना मानने पर भी वे कहते है

"किन्तु माक्सवाद कुछ अति लिये हुए है, जिसका विवरण आगे आयगा। मार्क्स के अनुसार महापुरुष समाज के आर्थिक ढाचे की पैदावार है, मार्क्स की ही उत्पत्ति की बात लीजिए। महापुरुषवादी कहेगे कि यदि मार्क्स न हुआ होता तो आर्थिक ढाचा धरा रह जाता, और इतिहास मे कोई महत्त्व-पूर्ण परिवतन अथवा कम-से-कम वह परिवतन, जिसका श्रेय मार्क्सीय विचार-धारा को है, देखने को नही मिलता। इस पर 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' के लेखकद्वय, मन्मथनाथ गुप्त और रमेन्द्रनाथ वर्मा का उत्तर है, "माक्स के

पहले ही सारे यूरोप मे मजदूर वर्ग का उदय हो चुका था। इसी वर्ग के शोषण की नीव पर पूँजीवाद की बावन मजिल वाली अट्टालिका खडी हो रही थी। ऐसे समय मे मजदूरो की विचार-धारा के रूप मे वैज्ञानिक समाजवाद का उदय होना स्वाभाविक था " यदि मार्क्स पैदा नही होते तो कोई और व्यक्ति इसका वाहन होता। किन्तु प्रश्न यह है कि प्रथमत मार्क्स के अभाव मे इस शक्तिशाली विचार धारा का कोई न कोई वाहन होना ही, इसका क्या प्रमाण है ? क्या यदि कालिदास न होते, तो कोई अन्य व्यक्ति 'मेघदूत' जैसा काव्य रच देता ? यदि अकबर महान् का जन्म न हुआ होता तो क्या दीनइलाही अन्त साम्प्रदायिक विवाह, सर्वधर्म सम्मेलन प्रभृति क्रान्तिकारिणी प्रवृत्तियां तत्कालीन भारत में सम्भव होती ? यदि हा, तो जहाँगीर, शाहजहाँ और औरगजेब के शासन-काल मे इन प्रवृत्तियो का पता क्यो नही चलता ? जब कि इन तीनो शासन कालो मे समाज की प्रकृति मे कोई परिवर्तन मानने के लिए कोई कारण नही दीख पडता। वस्तुत व्यक्तिविशेष के अपना कार्य अधूरा छोडकर जीवन लीला समाप्त कर देने के बाद उस कार्य को पूरा करने वाला कोई अन्य महापुरुष या तो कभी प्रादुर्भूत ही नही हुआ अथवा यदि हुआ भी तो दीर्घकाल तक प्रतीक्षा कराने के बाद। अब यदि युग-विशेष महापुरुष-विशेष का आह्वान कर ही सकता है तो अकृतकार्य महापुरुष का पूरक भी वह क्यो नही पैदा कर लिया करता ? मार्क्स की ही बात लीजिए। मार्क्स अपने जीवन-काल मे अपना कार्य पूरा नही कर सका। किन्तु उसके अधूरे कार्य को तुरन्त सँभाल लेने वाला कोई व्यक्ति दिखाई नही पडा। वस्तुत युग का पूरक व्यक्तियो की उत्पत्ति मे बहुधा अकिंचित्कर सिद्ध होना मार्क्सवाद की एकांगिता का एक ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित करता है।

"तीसरे यदि हम मान भी ले कि मार्क्स के अभाव मे मार्क्स-जैसा कोई अन्य ही महापुरुष पैदा हो जाता, तो यह प्रश्न उठेगा कि परिस्थिति ने मार्क्स को ही अपना प्रतिनिधि अथवा पैगम्बर क्यो चुना ? जर्मनी नामक देश-विशेष के यहूदी नामक जाति-विशेष मे उत्पन्न मार्क्स नामक व्यक्ति-विशेष मे भला कौन सी विशेषता थी ?"

लेखक ने ऐतिहासिक भौतिकवाद पर जो आपत्तियाँ उठाई है, वे उनकी वैयक्तिक आपत्तियाँ नही है, बहुत से पढे-लिखे लोग इस प्रकार सोचते है, इसी कारण मैने कुछ ब्यौरे से लेखक को उद्धृत किया। पहले ही उनके इस कथन का उत्तर दिया जाय कि यदि मार्क्स पैदा नही होते, तो, इस विचार-धारा का कोई न कोई वाहन उत्पन्न होता, इसका क्या प्रमाण है ?

यदि लेखक मेरी 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' नामक पुस्तक को और ध्यान से पढ़ते, तो उन्हें इसका उत्तर मिल जाता। जिस पृष्ठ से उन्होंने मुझे उद्धृत किया है, उसी में ये वाक्य आते हैं—

"हम केवल यहाँ यह देखेंगे कि मार्क्स के व्यक्तित्व का इतिहास से क्या सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में एंगेल्स का कहना है : 'और भौतिकवादी द्वन्द्ववाद जो वर्षों से हमारे हाथों में सबसे अच्छा औजार और सबसे पैना हथियार रहा है, न केवल हम लोगों के द्वारा आविष्कृत हुआ, बल्कि यह बहुत मार्के की बात है कि हम लोगों से, यहाँ तक कि हेगल से भी स्वतन्त्र रूप से जर्मन मजदूर डिट्सगेन के द्वारा आविष्कृत हुआ था।' एंगेल्स के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्सवाद के नाम से जो विचार-धारा प्रचलित है वह परिस्थितियों की उपज थी। यदि मार्क्स पैदा नहीं होते तो कोई और व्यक्ति इसका वाहन होता। उस हालत में सम्भव है कि विचार-धारा उतने ज़ोरों के साथ सामने नहीं आती, किन्तु वह आती, इसमें सन्देह नहीं। यदि इस विचार-धारा में अन्तर्निहित शक्ति होती, तो उस हालत में वह मार्क्स की ही तरह किसी परम शक्तिशाली को अपने वाहन के रूप में ढूँढ लेती।"[1]

मैंने अन्यत्र इस बात को स्पष्ट किया है कि—

"यों तो कोई भी व्यक्ति कुछ भी बक सकता है, और कोई भी ऊल-जलूस सिद्धान्त पेश कर सकता है, किन्तु जब तक वह विचार या सिद्धान्त उस युग की भौतिक जरूरतों से उत्पन्न इच्छाओं के साथ अपने को ग्रथित नहीं कर पाता, तब तक वह पुस्तकों में बन्द पड़ा रहता है। एक विचार एक समय में अपनी ओर ध्यान आकर्षित क्यों नहीं कर पाता, और क्यों वही विचार दूसरे समय लोगों को पागल कर उनसे अधिक-से-अधिक कुर्बानी यहाँ तक कि क्रान्तियाँ करवा लेता है, यह इसी से समझ में आयगा कि विचारों के साथ जब सामाजिक शक्तियों का गठबन्धन हो जाता है तभी वे तगड़े हो जाते हैं।"[2]

इससे यह स्पष्ट हो गया कि जो विचार-धारा मार्क्सवाद के नाम से चली, वह मजे में डिट्सगेनवाद करके चल सकती थी। यदि मार्क्स पैदा न होते तो उसका नाम डिट्सगेनवाद पड़ता, हाँ उस हालत में वह उतने तगड़े रूप में अपने को पेश न कर पाता, याने तब तक तगड़े रूप में न होता जब तक उसे अपने

---

१. ऐतिहासिक भौतिकवाद पृष्ठ ११—मन्मथनाथ गुप्त : रमेन्द्रनाथ वर्मा

२. ऐतिहासिक भौतिकवाद पृष्ठ २३४

वाहन के रूप में एंगेल्स या लेनिन की तरह पंडित प्रतिपादक न मिलता ।

लेखक को मेरी उल्लिखित पुस्तक से इसका भी ऐतिहासिक उदाहरण मिल जाता कि जब सामाजिक शक्तियों के तर्क से किसी एक प्रकार के व्यक्ति का उत्पन्न होना अनिवार्य है, उस समय यदि वह व्यक्ति उत्पन्न हो और आकस्मिक कारण से वह मर भी जाय, तो उसका स्थान लेने वाला उत्पन्न हो जाता है। चलते हुए यह बता दिया जाय कि लेखक ने केवल कार्लाइल को ही महापुरुषवादी सिद्धान्त का प्रमुख प्रतिपादक बताया है, पर वर्तमान युग में जान गुन्थर इस सिद्धान्त के कार्लाइल से बड़े प्रतिपादक हुए हैं—

मैंने उन्हीं जान गुन्थर से अपनी उल्लिखित पुस्तक में ये वाक्य उद्धृत किये हैं—

"ऐतिहासिक आकस्मिकता के सम्बन्ध में फ्रैंको एक अव्वल दर्जे के दृष्टान्त हैं। जो योजना बनी थी, उसमें उनका कोई स्थान नहीं था, प्रधान नेता होने की बात तो दूर रही। असली नेता तो कालवो सेटलो थे, जो जुलाई में मार डाले गए थे—और सानजुरजो थे, जो लड़ाई के शुरू होते ही मारे गए थे। फ्रैंको ने न केवल उनकी जगह ले ली, बल्कि वह दूसरों से योग्यतर साबित हुए। रणनैतिक दृष्टि से भी वे बुरे नहीं रहे।"—इत्यादि।

इसलिए एक नेता के मर जाने पर यदि परिस्थिति अनुकूल हुई, तो दूसरे नेता का उत्पन्न होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। लेखक ने यह जो कहा है कि मार्क्स के मरने के बाद उनके काम को उठाने वाला कोई व्यक्ति नहीं दिखाई पड़ा, यह बात और तो और, ऐतिहासिक रूप से भी गलत है। मार्क्स के बाद बहुत दिनों तक एंगेल्स जीवित रहे। रही यह बात कि मार्क्स ने जिस क्रान्ति का नारा दिया था, वह नहीं हो सका, इसके कारण को ढूँढ़ने के लिए ऐतिहासिक शक्तियों की छान-बीन करनी पड़ेगी। क्या लेखक का यह दावा है कि क्रान्ति पचास साल पहले हो सकती थी, या उसके लिए पचास साल पहले परिस्थिति तैयार थी? यदि यह दावा नहीं है तो उनके कथन का कोई अर्थ नहीं रहता।

लेखक को ऐतिहासिक भौतिकवाद के सम्बन्ध में बहुत-सी गलत धारणाएँ हैं। ऐतिहासिक भौतिकवाद केवल सामाजिक रूप से क्रियाशील (चाहे वे प्रगतिवादी हों या प्रतिक्रियावादी हों) विचार-धाराओं को, तथा उसके सिल-सिले में काम आने वाली शक्तियों तथा व्यक्तित्वों को समझने का दावा करता है, इससे अधिक नहीं। पर लेखक महोदय उससे ऐसे प्रश्नों के उत्तर की आशा करते हैं जो सर्वथा उसके दायरे के बाहर हैं। उदाहरणार्थ लेखक यह

पूछते हैं, कि जर्मनी नामक देश-विशेष की यहूदी नामक जाति-विशेष में उत्पन्न मार्क्स नामक व्यक्ति-विशेष को ही इस विचार-धारा के प्रवर्तक होने का सौभा य क्यों मिला ? यह स्पष्ट कर दिया जाय कि ऐतिहासिक भौतिकवाद इस सम्बन्ध में भी कुछ दिशाएँ दे सकता है, पर वह सब बातों को मिला कर इस रूप में नहीं कह सकता कि इस सम्बन्ध में इतना ही है और इतना नहीं है। ऐतिहासिक भौतिकवाद का वह विस्तृत रूप, जिसमें दर्शन, अर्थशास्त्र, व्यक्तित्व का अध्ययन सभी कुछ आ सकता है, अभी इतना सम्पूर्ण नहीं हुआ है कि वह समाज के एक-एक व्यक्ति की व्याख्या करे। पर साथ ही वह इस बात को स्पष्ट किये बिना नहीं रह सकता कि किसी का व्यक्तित्व एक आकस्मिक उपज नहीं है, वह कार्य-कारण से अच्छी तरह बँधा हुआ है। दूसरे शब्दों में वह शक्तियों, परिस्थितियों तथा उन शक्तियों, परिस्थितियों के संघर्षों की उपज है।

रहा यह कि प्रत्येक क्षेत्र में, यहाँ तक कि मार्क्स ऐसे व्यक्ति के क्षेत्र में ये परिस्थितियाँ क्या थीं, उनका सम्पूर्ण रूप से सही लेखा तैयार करना या जानना बहुत-कुछ असम्भव है। इसी अर्थ में एक विशेष व्यक्ति का विशेष रूप में सामने आना आकस्मिक है।

व्यक्ति परिस्थितियों से उत्पन्न होता है। मैं यहाँ फिर अपनी पुस्तक से उद्धृत करता हूँ। एंगेल्स ने १८१४ में स्टारकन वुर्ग नामक एक मित्र को एक पत्र में लिखा था—

"एक विशेष समय में एक विशेष व्यक्ति का किसी देश में पैदा होना बिलकुल आकस्मिक घटना है। (आकस्मिक शब्द का यहाँ वही मतलब लिया जाय कि जिसकी हम पहले परिभाषा कर चुके हैं) किन्तु उस व्यक्ति को काट-कर अलग कर दीजिये तो उसके स्थल में एक दूसरे व्यक्ति की जरूरत होती है। हो सकता है कि यह स्थानाभिषिक्त या एवजी व्यक्ति उससे घटिया हो, किन्तु अन्त तक वह मिल ही जायगा। जिस समय फ्रेंच प्रजातन्त्र अपनी ही लड़ाइयों से परिश्रान्त हो गया था, उस समय जो नैपोलियन नामक एक कार्सिका वासी के लिए सामरिक अधिनायक की जगह की जरूरत हुई, यह एक आकस्मिक घटना थी। किन्तु यदि एक नैपोलियन न मिलता, तो दूसरा उसके स्थूल की पूर्ति कर लेता, इसमें सन्देह नहीं। यह इस बात से प्रमाणित होता है कि जिस समय भी नैपोलियन ऐसे व्यक्ति की जरूरत पड़ी, उस समय वह मिल गया जैसे सीजर, अगस्टस, क्रामवेल इत्यादि।" मार्क्स ने 'फ्रांस के वर्गयुद्ध' नामक अपनी पुस्तक में मानो इसी वक्तव्य को दूसरे शब्दों में यों

कहा : "प्रत्येक सामाजिक युग को महापुरुषों की जरूरत रहती है, और यदि ये न मिलें तो जैसा हेलवेसियस ने कहा, वह उनका आविष्कार कर लेता है।"[१]

मैं समझता हूँ कि लेखक ने कितने प्रश्न उठाये हैं उन सबका उत्तर आ चुका। ऐतिहासिक भौतिकवाद केवल सामाजिक परिस्थितियों को समझने-समझाने का दावा करता है। एक उदाहरण से इस बात का स्पष्टीकरण किया जाय। एक नदी एक विशेष दिशा में जा रही है, उसके सम्बन्ध में यह कहना सम्भव है कि वह अमुक दिशा में जा रही है। पर वह नदी जिन लहरों को लेकर बनी है, उनके सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव नहीं है। पर इस बात से घबराकर कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम् चेतन-सत्ता के हाथों में या और किसी रहस्यवादी शक्ति के हाथों में अपने को सौंप देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रत्येक लहर में कार्य-कारण-सम्बन्ध काम कर रहा है। कार्य-कारण से मैं भौतिक कार्य-कारण को ले रहा हूँ।

एक और उदाहरण लिया जाय। एक व्यक्ति ने एक दूसरे व्यक्ति की हत्या कर डाली। यहाँ ऐतिहासिक भौतिकवाद की चीजों को समझने के लिए बुलाना ठीक न होगा, पर जब इस विशेष प्रकार की हत्याएँ इतनी संख्या में हों कि वे सामाजिक लक्षण के रूप में हो जायँ, तो ऐतिहासिक भौतिकवाद उनकी व्याख्या करेगा। हाँ जैसा कि मैं पहले ही इंगित कर चुका हूँ, तार्किक रूप में समाज की प्रत्येक घटना ही सामाजिक लक्षण के अन्तर्गत है, पर बड़े पैमाने पर होने पर ही उनका अध्ययन सम्भव है।

लेखक ने परिस्थिति की माँग, समय की पुकार, आदि को शब्द-जालमात्र बताया है, पर यदि वे गहराई में जाते, और वे इन शब्दों को असंख्य ग्रहन-क्षत्रों से युक्त विश्व के साथ संयुक्त न करके मनुष्य समाज तक ही सीमित रखते तो इन शब्दों का अर्थ खुल जाता। लेखक ने भौतिकवाद पर यह भी आरोप लगाया है कि वह प्रतिभाओं के जन्म को समझा नहीं पाता। उन्हें यह बता दिया जाय कि भौतिकवाद इसका दावा भी नहीं करता। भौतिकवाद सिर्फ यह बताता है कि एक विशेष प्रकार की प्रतिभा एक विशेष समय में सामाजिक रूप से आदरणीय क्यों हो जाती है। प्रतिभाओं की उत्पत्ति का प्रश्न प्रयोगवादी-विज्ञान पर उसी प्रकार से छोड़ा हुआ है जैसे भूगर्भ के ज्ञान का विषय भूगर्भ-विज्ञान पर, वायु के ज्ञान का विषय वायुगति-विज्ञान पर। फिर भी यदि कहा जाय कि इन विज्ञानों के क्षेत्र में भौतिकवाद को कुछ

---

[१] ऐतिहासिक भौतिकवाद पृष्ठ २२

कहना नहीं है, तो गलत होगा। एक बात तो यह धनात्मक रूप से कही जा सकती है कि भौतिकवाद विज्ञान के क्षेत्र में रहस्यवाद-अध्यात्म आदि को किसी भी हालत में बरदाश्त न करेगा। प्रतिभाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जैसा कि लेखक का पता होगा, कुछ 'हाईपोथिसिसें' चल रही हैं, अन्तिम बात अभी कहने में बहुत देर है। जब तक कोई प्रतिभाओं की उत्पत्ति की खोज के सिलसिले में अपने को प्रयोगवादी क्षेत्र में रखेगा, वह चाहे फ्रायड, युङ्ग, एडलर, पावलोव, किसी के तरीके से हो, तब तक ऐतिहासिक भौतिकवाद की उनसे कोई लड़ाई न होगी, पर ज्यों ही वह प्रयोगवादी क्षेत्र से हटकर, उदाहरणार्थ जन्मान्तरवाद को लाकर, प्रतिभा की उत्पत्ति की व्याख्या करेगा, त्यों ही भौतिकवाद उस पर आपत्ति करेगा।

इस प्रकार हम यह देख चुके कि यद्यपि भौतिकवाद प्रतिभाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ अन्तिम बात कहने का दावा नहीं करता, फिर भी वह प्रतिभा के सम्बन्ध में एक ढाँचा पेश करता है, जिसके अन्दर रहकर इस सम्बन्ध में खोज करने वालों को काम करना पड़ेगा।

हमें यह दुःख है कि इस छोटे से लेख में मैं इससे अधिक कुछ कहने में असमर्थ हूँ। जो विषय यहाँ उठाये गए हैं, उन पर पोथे-का-पोथा लिखा जा सकता है। मैंने स्वयं ही इस पर सैकड़ों पृष्ठ लिखे हैं। यदि किसी बिन्दु-विशेष के स्पष्टीकरण या व्याख्या की माँग हुई तो मैं सहर्ष उसे करूँगा।

(२)

मार्च के प्रतीक में 'महापुरुषवाद'[1] शीर्षक से मैंने जो तर्क चलाया था, उसके सम्बन्ध में मूल लेखक के रुख को देखकर मैं उसे आगे नहीं चलाना चाहता क्योंकि इससे कोई लाभ नहीं है। मैं एक मुहूर्त के लिए यह मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि उक्त लेखक किसी नये वाद का आविष्कार कर रहे हैं। उनके संशयवाद का, जो स्वाभाविक रूप से रहस्यवाद में समाप्त होता है, मुँहतोड़ उत्तर सैंकड़ों बार दिया जा चुका है। इस अकिंचन ने भी 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' में उसका विस्तृत उत्तर दिया है। मैं यह मान लेता हूँ कि 'प्रतीक'-सम्पादक मुझे इतना स्थान न देंगे जिससे मैं ढंग से इसका उत्तर दे सकूँ।

फिर भी मैं एक बिन्दु का स्पष्टीकरण करना चाहूँगा, जिसके सम्बन्ध में मुझे डर है कि उक्त लेखक ने मेरे मत को विकृत करके पेश किया है और

---

१. इस लेख के उत्तर में मूल लेखक ने एक लेख लिखा, जिसके उत्तर में मैंने यह दूसरा भाग लिखा, जिसे श्री वात्स्यायन ने छापने से इन्कार किया।

जिसमें शायद उन्हें कुछ सफलता मिली है। वह बिन्दु है भौतिकवाद का प्रतिभाओं के जन्म पर क्या दृष्टिकोण है। उन्होंने ऐसे मेरे मत को पेश किया है मानो भौतिकवाद प्रतिभाओं के जन्म को सम्पूर्ण रूप से आकस्मिक समझता हो। यह बिलकुल गलत है, और मेरे मत का अपप्रतिनिधित्व है ! मार्च के 'प्रतीक' में 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' से जो उद्धरण प्रकाशित हुए हैं, उन्हीं से उक्त लेखक पर यह स्पष्ट हो जाना चाहिए था कि भौतिकवादी कार्य-कारण-सम्बन्ध से मुक्त होने के अर्थ में किसी वस्तु या घटना को आकस्मिक नहीं मानते, केवल इतना ही नहीं, ऐसा न मानना ही भौतिकवाद का आधार है। यदि भौतिकवाद इससे हट गया तो वह कहीं का नहीं रहेगा, फिर तो वह अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, संशयवाद कहीं भी जा सकता है।

प्रतिभाओं का जन्म इस अर्थ में याने कार्य-कारण-परम्परा से मुक्ति के अर्थ में कदापि आकस्मिक नहीं है। एंगेल्स ने स्टारकनबुर्ग को १८१४ में जो यह लिखा था कि 'एक विशेष समय में एक विशेष व्यक्ति का किसी देश में पैदा होना बिलकुल आकस्मिक घटना है, इसका अर्थ यह कदापि नहीं है (और इसे उन्होंने कोष्ठक में स्पष्ट भी कर दिया) कि किसी व्यक्ति की उत्पत्ति कार्य-कारण-परम्परा से मुक्त है।' यहाँ आकस्मिक शब्द का केवल इतना ही अर्थ है कि कार्य-कारण-परम्परा इतनी विस्तृत है कि मनुष्य जाति के ज्ञान की वर्तमान अवस्था में उसका ठीक-ठीक पता नहीं लग सकता। स्मरण रहे कि जब हम किसी विषय में ऐसा कहते हैं कि हम इसे नहीं जानते, तो उसका अर्थ साथ ही यह भी है कि हम आगे चलकर उसे जान जायँगे। विज्ञान के क्षेत्र में हाइजनवर्ग के अनिश्चियता-सिद्धान्त को लेकर अध्यात्मवादियों और संशयवादियों ने कितना शोर मचाया था, पर अज्ञान या ज्ञानाभाव और बात है, और अज्ञान की आड़ लेकर रहस्यवाद, संशयवाद या अध्यात्मवाद के हाथों में अपने को सौंप देना और बात है। आइनस्टाइन ने हाइजनवर्ग के अनिश्चयता-सिद्धान्त पर जो कुछ कहा था वह प्रतिभाओं के जन्म के सम्बन्ध में हमारे वर्तमान ज्ञानाभाव पर लागू होता है। उन्होंने कहा था कि यह सिद्धान्त केवल सामयिक रूप से अज्ञान का शरण-गृह है, उनका कहना था कि ज्ञान की उन्नति के साथ-साथ विज्ञान में कार्यकारणवाद का राज्य स्थापित होगा। प्रतिभाओं के जन्म के सम्बन्ध में आकस्मिकता का यही अर्थ है। जो अभी आकस्मिक है, ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ वह साधारण ज्ञात होगा, बल्कि हम तो यह आशा करते हैं कि उस समय आर्डर पर प्रतिभाओं को उत्पन्न कर सकेंगे जैसे हम आज इंजीनियर, शिक्षक आदि उत्पन्न करते हैं।

उक्त लेखक प्रतिभाओं के जन्म पर कोई नवीन सिद्धान्त पेश नहीं करते, फिर भी वे संशयवादी तरीके से यह कहते हैं कि समय या आर्थिक सामाजिक शक्तियों के साथ वीरों, महापुरुषों की उत्पत्ति का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह उनकी ज्यादती ही कही जा सकती है। किसी वीर महापुरुष या लीडर (हम इसमें मिसलीडर को भी लेते हैं) के जन्म या उदय को हम अभी भले ही सामाजिक आर्थिक परिस्थिति से संयुक्त न कर सके, पर एक दिये हुए समय में उसकी सफलता या विफलता आर्थिक सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर होती है, इस बात को बड़े भारी संशयवादी को भी मानना पड़ेगा।

महात्मा गांधी को ही लिया जाय, क्या उनके व्यक्तित्व का विकास सम्पूर्ण रूप से उस समय की परिस्थितियों पर निर्भर नहीं था? क्या उनकी विचार-सरणी में और उस सरणी की जाज्वल्यमान असंगतियों में हम उस वर्ग को, जिसके वह अन्ततोगत्वा प्रतिनिधि थे, प्रतिफलित नहीं पाते? यदि भारत एक निरस्त्र, आध्यात्मिकताग्रस्त देश न होता, तो उनकी अहिंसा को कोई कौड़ी भर भी सम्मान न देता? क्या उनकी अहिंसा में और साथ-ही-साथ कांग्रेस द्वारा शासित स्वतंत्र भारत के सशस्त्र राष्ट्र के रूप में सामने आने में जो असंगति है, वह सम्पूर्ण रूप से उनकी परिस्थितियों से सम्बद्ध नहीं है?

मैं तो समझता हूँ कि राजनैतिक तथा सामाजिक नेताओं तथा अपनेताओं को, जैसे क्रामवेल, लूथर, कबीर, नेपोलियन, लैनिन, स्टालिन, हिटलर, माओ, गांधी सबके व्यक्तित्व, प्रतिभा या अपप्रतिभा की विश्लेषणात्मक दृष्टि से छान-बीन करने पर यह ज्ञात होगा कि उनकी सभी सफलताओं तथा विफलताओं को आर्थिक सामाजिक परिस्थितियों, वर्गों के आपसी सम्बन्धों तथा उनकी तुलनात्मक शक्ति, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति, प्रोद्यौगिक उन्नति का सोपान आदि बातों से संयुक्त करके अच्छी तरह दिखाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में इनका बड़प्पन (बुरा और भला दोनों अर्थों में) ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण ही विकसित हो सका। भौतिकवाद का यही कहना है।

फिर भी एक बात का समाधान ही रह जाता है। वह यह कि परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर हमेशा महापुरुष उत्पन्न होते हैं या नहीं। इसके सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि परिस्थितियाँ यथेष्ट प्रबल हों तो वे अपना काम कर ही लेती हैं, चाहे ऐसा मामूली पुरुषों के द्वारा हो या महापुरुषों के द्वारा हो। इसका एक बहुत सुन्दर उदाहरण यह है कि भारत में गांधीजी पैदा हुए, गांधीवादियों के अनुसार इस कारण भारत स्वतंत्र हुआ, पर बर्मा में उनके पाये का कोई व्यक्ति उत्पन्न नहीं हुआ, बर्मा फिर भी भारत

से कम स्वतन्त्र नहीं है। इस उदाहरण में हम सिंहल को भी खींच सकते हैं। मैं यहाँ सूत्र रूप से ही बातों को कह रहा हूँ, नहीं तो ऐसे बहुत उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें स्वीकृति प्राप्त वीरों या महापुरुषों की उत्पत्ति के बिना ही वे कार्य सिद्ध हुए जो अन्य देशों में महापुरुषों के द्वारा हुए ऐसा ज्ञात होता है।

(३)

अब हम स्वाभाविक रूप से एक अन्धी गली में फँसते दृष्टिगोचर होते हैं। क्या मामूली पुरुषों के द्वारा बड़े कार्य या अपकार्य होने पर वे ही महा-पुरुष नहीं हो जाते ? हिटलर एक मामूली कारपोरल था, उसने आम तौर पर वर्साई-सन्धि के प्रति जर्मन जाति की प्रतिक्रिया और खास तौर पर जर्मन पूँजीवादी वर्ग की अपने को बचाने की उन्मत्त चेष्टा को रूप दिया, तभी न वह या अपनेता हो गया। नेपोलियन का भी इतिहास यही है। हिटलर और नेपोलियन के जीवनों में तो हम यह भी देखते हैं कि उनके पक्ष की परिस्थिति कमजोर पड़ते ही वे पुनर्मूषकवत् अत्यन्त साधारण व्यक्ति के स्तर पर पहुँच गये।

अन्धी गली से हम निकलते इस प्रकार हैं कि जब कोई साधारण व्यक्ति के हाथ से लगातार बहुत से महान् कार्य या अपकार्य होते हैं, तब वह महा-पुरुष तथा प्रतिभा के रूप में स्वीकृत होता है। यदि महात्मा गांधी जलियान वाला बाग के विरुद्ध बयान देकर ही लुप्त हो जाते, यदि हिटलर हिन्डेनबर्ग के नीचे संवैधानिक रूप से कार्य करना स्वीकार कर लेता इत्यादि, तो हमें वे मामूली व्यक्ति ही मालूम होते।

हम यहाँ पर केवल कुछ सुझाव दे रह हैं, महापुरुष की कोई 'हार्ड एंड फास्ट' कड़ी परिभाषा का फतवा नहीं दे रहे हैं। मेरे वक्तव्य का आशय यह है कि जब एक ही व्यक्ति बार-बार परिस्थितियों के द्रुतीकरण या शिथिली-करण को मूर्त करता है, तो वह महापुरुष हो जाता है, पर जब प्रत्येक परि-स्थिति में नये व्यक्ति के द्वारा कार्य सिद्ध होता है, तो वह साधारण व्यक्ति या साधारण से कुछ उठकर एक व्यक्ति भर ही रह जाता है।

मैं समझता हूँ कि इस बात को हम कला, साहित्य, संगीत आदि सभी क्षेत्रों में ले जा सकते हैं। प्रत्येक अच्छा कलाकार कोई-न-कोई बहुत सुन्दर कला-कृति बनाता है, प्रत्येक अच्छा साहित्यकार दस-बीस पैरे इतने अच्छे लिखता है कि वह विश्व-साहित्य की वस्तु जँच जाय, प्रत्येक गायक का कोई-न-कोई गाना ऐसा उतरता है कि वह स्वर्गीय स्वर-लहरी ज्ञात होता है, पर जब किसी

चित्रकार के अधिकतर चित्र, किसी रचयिता की अधिकतर रचनाएँ, किसी गायक के अधिकतर गाने अत्युच्च कोटि के हों, तो वह अपने क्षेत्र में प्रतिभा-वान माना जाता है। चित्र कब क्यों अच्छे लगेंगे, रचना कब क्यों ऊँची समझी जायगी, गाने कब क्यों मर्मस्पर्शी होंगे, इस पर हम एक साथ सैकड़ों प्रश्नों पर पहुँच जाते हैं, जिनकी जड़ें उस समय की परिस्थितियों में हैं जिनमें उस समय का सांस्कृतिक-मानसिक उत्कर्ष है। यह नहीं कि इन प्रश्नों का अनुसरण असाध्य है, पर उनमें प्रत्येक में इतनी शाखें फूटती गई हैं कि मानव जाति के ज्ञान के वर्तमान सोपान में उनके सम्बन्ध में पूरी बात नहीं जानी जा सकती है, पर इसी साँस में कह दूँ कि आगे उनको जानना संभव होगा।

इस पर कोई चाहे तो प्रतिभाओं के जन्म के सम्बन्ध में ऐतिहासिक भौतिकवाद को अज्ञ बताकर खुश हों, तो हो, पर परिस्थिति यह है। यहाँ गलत-फहमी न हो कि हम व्यक्ति या वीर का महत्त्व ही नहीं मानते, इसलिए थोड़े में यह भी स्पष्ट कर द कि व्यक्ति का महत्त्व कितना है।

हमने अब तक जो कुछ लिखा है, उसका सारांश यह जरूर है कि इतिहास व्यक्ति को बनाता है, किन्तु दूसरी तरफ उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति उत्पन्न हो जाने के बाद इतिहास को एक हद तक बना या बिगाड़ सकता है। यह बात ठीक है कि व्यक्ति को सामाजिक आर्थिक शक्तियाँ पैदा करती हैं, बनाती हैं, या बिगाड़ती हैं, सफल बनाकर करोड़ों लोगों के भाग्य-विधाता के रूप में पेश करती हैं, अथवा उसको सड़क पर भिखारियों के साथ टुकड़े बाँटकर खाने में या जेल की कोठरियों में तिल-तिलकर अज्ञात अवस्था में मरने के लिए बाध्य करती हैं, किन्तु व्यक्ति जब व्यक्तित्व हो जाता है, तो उस समय वह सामाजिक शक्तियों का विरोध भी कर सकता है। इस पर कोई यह पूछ सकता है कि यदि व्यक्ति को सामाजिक शक्तियाँ बनाती हैं, तो यह कैसे सम्भव है कि वह उनका विरुद्धाचरण कर सके। किन्तु जो कुछ हमने कहा है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा किस प्रकार सम्भव होता है। यहीं पर मनुष्य की स्वतन्त्रता का प्रश्न आता है। व्यक्ति विशेष चाहे तो किसी एक ऐतिहासिक धारा का विरोध या समर्थन कर सकता है। लेकिन इस कथन से यह न समझा जाय कि इस प्रकार विरोध और समर्थन का कोई नियम नहीं है। उसके भी नियम हैं। यहाँ केवल इतना ही जानना यथेष्ट है कि व्यक्ति ऐसा कर सकता है, और करता है। अक्सर ऐसा हुआ है कि जो कल के क्रान्तिकारी थे, वे आज के प्रतिक्रियावादी हैं। उसका कारण यह है कि व्यक्ति जब सामाजिक शक्तियों से सम्पूर्ण स्वतंत्र रूप से बल्कि उसके विरोध में चलने

लगता है, तभी ऐसी ट्रेजेडी होती है। किन्तु इसी से यह भी प्रमाणित होता कि व्यक्ति केवल इतिहास का मोहरा-मात्र नहीं है, और है तो उसमें इस बात की स्वतंत्रता है कि वह विरोधी मोहरा हो या अनुकूल। यदि व्यक्ति का इतिहास के निर्माण में कोई भाग न होता, और वह केवल घटना-चक्र के हाथों में एक खिलौना-मात्र होता, और परिस्थितियों की हवा जिधर चाहे उधर उसे उड़ा ले जा सकती, तो उस हालत में मनुष्य जाति एक प्रकार के अदृष्ट का शिकार-मात्र होती—चाहे वह अदृष्ट कितना ही मनोरम क्यों न हो, क्योंकि जैसा कि लिण्डसे ने लिखा है "जहाँ मनुष्य की इच्छा छुट्टी ले लेती है, वहाँ भौतिक अवस्थाओं का अखंड राज्य शुरू हो जाता है।" भौतिक अवस्थाओं के अखंड राज्य में मनुष्य के लिए कुछ करने-धरने, सोचने-समझने की जरूरत नहीं रहती। फिर तो समाज की शक्तियों के विश्लेषण का कोई अर्थ ही नहीं होता, क्योंकि यदि हम एक मुहूर्त के लिए भी यह मान लें कि हम तो अज्ञात शक्तियों के हाथ में क्रीड़नक-मात्र हैं, तो उस हालत में न तो कुछ करने का उत्साह ही रह जाता है, और न शायद उसकी जरूरत ही रह जाती है। हम समाज में व्यक्ति के महत्त्व को और उसके चरित्र के प्रभाव को अस्वीकार नहीं करते, हम केवल यह चाहते हैं कि वह अपने सही परिप्रेक्षित में समझा जाय।

मार्क्स ने अधिकारारूढ़ व्यक्ति के चरित्र की गणना आकस्मिक घटनाओं में की है। वे लिखते हैं, "विकास की आम क्रिया में इन आकस्मिक घटनाओं का एक स्थान होता है, और अन्य इस प्रकार की आकस्मिक घटनाओं से उनका प्रतिषेध भी होता रहता है, किन्तु फिर भी यह बात सत्य है कि बहुत कुछ हद तक इन आकस्मिक घटनाओं पर किसी घटना का विलम्बीकरण या द्रुतीकरण निर्भर रहता है। इन आकस्मिक घटनाओं में ऐसी बातें भी आ जाती हैं, जैसे आन्दोलन के शीर्ष स्थान पर रहने वाले व्यक्तियों का चरित्र।"

अब हम फिर प्रतिभाओं के जन्म पर लौटते हैं। यदि हम भौतिकवादी इस समय प्रतिभाओं के जन्म पर कुछ निश्चित कह नहीं सकते, और जैसा कि विज्ञान के लिए जरूरी है उसे इच्छानुसार उत्पन्न नहीं कर सकते, तो बुर्जुवा विद्वानों की हालत इससे कहीं गिरी हुई है। 'लन्दन टाइम्स' के 'लिटरेरी सप्लिमेण्ट' में १९५१ के २१ दिसम्बर अंक के में जार्ज बुखनेर के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

"More often than not, to speak of 'genius' is the last resort of a critic defeated by his subject, if the

word has a meaning at all, 'genius' is a quality which can be discerned, but not defined, weighed but not located, a sort of phlogiston whose existence in human minds and their products disprove. Vague as it is, the attribute is useful, only if applied with the utmost discretion:its very vagueness should protect it against abuse. To apply it is admit the limitations of criticism; but such an admission may well be preferable to the arrogant assumption that works of art can be analysed and assessed with a degree of accuracy comparable to that obtained in a chemical experiment"

"अपने विषय से हारे हुए आलोचक के लिए प्रतिभा की बात कहना अक्सर एक अन्तिम उपाय-मात्र होता है। यदि इस शब्द का कतई कोई अर्थ है, तो प्रतिभा एक गुण है जिसे पहचाना तो जा सकता है, पर उसकी परिभाषा नहीं हो सकती, जिसे तोला तो जा सकता है पर उसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता, वह अमुक जगह है, यह एक तरह का फ्लोजिस्टन है जिसका अस्तित्व मनुष्यों के मनों तथा उनकी कृतियों से सिद्ध नहीं होता है। यद्यपि यह अस्पष्ट है, फिर भी यह गुणवाचक शब्द उपयोगी है, हाँ यदि बड़ी साव-धानी और बुद्धिमत्ता से इसका प्रयोग किया जाय। इस शब्द की अस्पष्टता ही इसके दुरुपयोग से बचा सकती है। इस शब्द को उपयोग में लाने का अर्थ आलोचना की सीमा को स्वीकार करना है, और इस प्रकार की स्वीकारोक्ति उस उद्धत दावे से अच्छा है कि कलाकृतियों को रासायनिक प्रयोगों में प्रचलित स्पष्टता की मात्रा के साथ विश्लेषित और मूल्यावधारित किया जा सकता है।'

इससे प्रतिभा के सम्बन्ध में खोज की परिस्थिति सामने आ जाती है। ऐतिहासिक भौतिकवादी भी इसको स्वीकार करता है, पर वह प्रतिभा के वर-पुत्रों को देखकर आश्चर्य में इतना बह जाना नहीं चाहता कि वह जाकर अपनी नाव को संशयवाद के दलदलमय किनारे पर लगावे या अध्यात्मवाद की मरीचिका में कूद पड़े, वह बल्कि इसके लिए प्रतीक्षा करना पसन्द करेगा कि मनुष्य के ज्ञान की अग्रगति के साथ सत्य की पौ फटे, और उसके निकट सारी बातें स्पष्ट हो जायँ। उसकी यह आशा दुराशा तो नहीं है, क्योंकि बराबर उसकी आँख पर से पर्दा हटता गया है, और उसे सत्य का साक्षात्कार होता गया है।

३२

टालस्टाय का क्रायटसेर सोनाटा

टालस्टाय के उपन्यासों में 'क्रायटसेर सोनाटा' शायद सबसे अधिक वाद-विवादपूर्ण ग्रन्थ है। यों तो टालस्टाय की सभी पुस्तकें प्रचार-कार्य से ओत-प्रोत हैं, किन्तु यह पुस्तक तो मालूम होता है केवल प्रचार-कार्य के ही लिए लिखी गई है। इस पुस्तक में टालस्टाय स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी अपने सब विचारों का पुलिन्दा लेकर हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। पुस्तक का कथा भाग तो केवल एक उपलक्ष्य-मात्र है, इस सूक्ष्म कथा के चारों ओर टालस्टाय ने अपने विचारों का तानाबाना फैलाकर अद्भुत गल्प की सृष्टि की है। टालस्टाय यद्यपि इस पुस्तक में अपना प्रचार-कार्य करते नज़र आते हैं, किन्तु फिर भी वे कोई इतने मामूली कलाकार नहीं हैं कि झट से आत्मप्रकाश कर दें। बड़े घुमाव, सुरुचि तथा कला के साथ वे अपने प्रचार-कार्य की नैया को खेते दृष्टिगोचर होते हैं। सुप्रसिद्ध रूसी लेखक एण्टोन चैखोफ ने बिना विचारे ही टालस्टाय को कला का 'कोलोसस' नहीं कहा था। आरंभ में सोवियट रूस में टालस्टाय की गणना प्रतिक्रियावादी लेखकों में की जाती थी, किन्तु फिर भी सोवियट सरकार ने उनके उपन्यासों का बहुत सस्ता संस्करण प्रकाशित किया है। उनका शायद कहना यह है कि हम टालस्टाय की विचार-धारा को भले ही भुला दें, किन्तु उनके उपन्यासों को पढ़ें।

वर्तमान लेख में हम इस पुस्तक की साहित्यिक समालोचना नहीं करेंगे, हम केवल टालस्टाय के स्त्री-पुरुष सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करेंगे, और फिर उन पर सूत्र रूप से कुछ कहेंगे। कहना न होगा कि यह प्रश्न बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, देश की आर्थिक और राजनैतिक अवस्था के बाद ही कदाचित् इस प्रश्न का नम्बर है। कुछ लोग शायद इसे उनसे भी अधिक महत्त्व दें। इसमें तो सन्देह नहीं कि आज दिन बहुत से लोग जेलखानों में तथा पागल-खानों में सड़ रहे हैं, और इनके बाहर भी केवल इस कारण दुःख पा रहे हैं कि उनके अथवा उनके पिता-माता के जीवन में यह सम्बन्ध सुलझ नहीं पाया

है या नहीं पाया था। बहुत से क्षेत्रों में तो यह कारण स्पष्ट दिखाई देगा, किन्तु बहुत से क्षेत्रों में यह छिपा रहकर मृदु-विष की तरह उनकी शारीरिक तथा मानसिक गति पर प्रभाव डालता रहता है।

इस उपन्यास का आरम्भ इस प्रकार होता है कि कुछ लोग गाड़ी म सफर कर रहे हैं। वे पहिले तो चीजों के 'भाव' पर तथा व्यापार पर बात-चीत करते हैं, फिर असली बात छिड़ती है। थोड़ी ही देर में एक कहता हुआ सुनाई देता है "फिर उस औरत ने अपने पति से साफ-साफ कहा कि वह उसके साथ न तो रह सकती है, और न रहना चाहती है।" इसके बाद कुछ देर तक चिल्लाहट की वजह से सुनाई नहीं पड़ता। हल्ला कम होने पर फिर सुनाई पड़ता है "फिर झगड़े शुरू होते हैं, रुपये-पैसे की कठिनाई भी आ धमकती है, दोनों ओर से झाँय-झाँय लगा ही रहता है, नतीजा यह होता है कि पति-पत्नी अलग हो जाते हैं। पहले के जमाने में ऐसी बात नहीं हो सकती थी वह जमाने ही और थे, क्यों महाशय है न यही बात?"

बातों-ही-बातों में एक महिला-यात्री कहती हैं—"क्या यह अधिक अच्छा होता कि हमारे विवाह उस जमाने के ढंग पर होते रहते, जब कि विवाह के क्षण तक वर-वधू एक दूसरे को देखते ही नहीं थे? स्त्री बेचारी को यह भी पता नहीं होता था कि जहाँ वह जा रही है वहाँ उसकी कैसी आवभगत होगी? वह किसी को प्यार करेगी या उसे कोई प्यार करेगा या नहीं? उनकी शादी ऐसी समझिये जैसे किसी ने प्रथम आगन्तुक के साथ भौंरी डाल ली। बाद का इसका जो परिणाम होना है, वही होता है, यानी आमरण दुःख उठाना। तो आपकी राय में यह अच्छा है? × × × ऐसे लोगों का गठबन्धन कर देना कैसे अच्छा हो सकता है जो कि एक दूसरे को प्यार न करते हों?

बूढ़े ने कहा—पहले लोग इस बात को इस निगाह से नहीं देखा करते थे। अभी हाल की सभ्यता है कि लोग इस दृष्टिकोण से इस मामले को देख रहे हैं। जरा सी बात हुई कि औरत ने कहना शुरू किया कि 'मैं यहाँ नहीं रहना चाहती, मैं तुम्हें छोड़ जा रही हूँ।' यहाँ तक कि किसानों में भी यह सभ्यता फैल रही है। किसान औरत भी कह देती है 'लो यह तुम्हारा कपड़ा-लत्ता लो; अब मैं 'वासका' के साथ जाती हूँ।' इसलिए मैं कहता हूँ स्त्रियों के साथ बर्ताव का पहला नियम जो होना चाहिए वह है ताड़ना?

औरत ने मुँह बनाकर कहा—'ताड़ना कैसी?'

"ताड़ना ऐसी कि स्त्री अपने पति से डरे, यही ताड़ना और क्या?'

"महाशय वे दिन लद गए जब···।"

"नहीं महाशया वे दिन जा नहीं सकते···"

"हाँ, आप पुरुषगण ऐसा ही सोचते हैं। आप अपने लिए तो स्वाधीनता चाहते हैं, किन्तु हमारे लिए 'हरम' है। क्यों महाशय पुरुषों के लिए तो सभी जायज है ? क्यों ?" औरत ने कहा।

"पुरुष की बात और है !"

"तो आपकी राय में पुरुष के लिए सभी बातें जायज हैं ?"

"यह बात नहीं, बात यह है कि पुरुष यदि कोई गड़बड़ करे तो उससे परिवार का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, किन्तु औरत, औरत, वह तो एक कच्चा घड़ा है।"

"हाँ, हो सकता है, किन्तु आपको मानना पड़ेगा कि स्त्री भी एक प्राणी है, तथा उसके हृदय में भी वही उमंगें उठती हैं जो कि उसके पति के दिल में। आप ही बतायें कि यदि वह अपने पति को प्यार न करे तो क्या हो ?"

"अपने पति को प्यार न करे हः हः हः हः, यदि वह प्यार न करे तो कराया जायगा ?"

"किन्तु नहीं, इस बात में जबर्दस्ती चल नहीं सकती। जहाँ प्रेम नहीं है वहाँ कभी मार-मार कर प्यार कराया नहीं जा सकता" औरत ने कहा।

यात्रियों में से एक वकील ने कहा—"यदि वह अपने को धोखा दे, उस हालत में क्या किया जाय ?"

बुड्ढे ने कहा—"यह हो ही नहीं सकता, उस पर आँख रखनी चाहिए।"

"यदि फिर भी ऐसा हो ? आप अवश्य मानते होंगे कि ऐसा हो सकता है ?"

बुड्ढे ने कहा—"यह बड़े आदमियों में हो सकता होगा, यह हम लोगों में सम्भव नहीं। यदि ऐसा कोई आँख का अन्धा गाँठ का पूरा पति हो जो कि अपनी स्त्री को भी वश में न रख सके, तो मैं कहूँगा कि वह इसी लायक है। किन्तु जो कुछ भी हो कोई इज्जत में बट्टा लगने वाली बात न हो। प्यार करो या न करो गृहस्थी में गड़बड़ी की सृष्टि मत करो। प्रत्येक पति अपनी स्त्री को वश में रख सकता है, इसका उसे हक है। केवल काठ के उल्लू पति ही इस हक का उपयोग नहीं कर सकते।"

फिर बातचीत चलते-चलते वह महिला कहती है—"सबसे आवश्यक बात यह है, जिसको ऐसे लोग नहीं समझते कि केवल प्रेम ही से विवाह में पवित्रता आती है, और सच्चा विवाह है भी वही जिसमें कि प्रेम हो।"

एक नये महाशय ने बात में उतरते हुए कहा—"अजी यह प्रेम है क्या बला ?"

"प्रेम क्या बला है ? साधारण दाम्पत्य-प्रेम"—महिला ने कहा।

"साधारण प्रेम विवाह को पवित्र कैसे करता है ?"

"कैसे ? बहुत ही सरलता से।"

"हर्गिज सरलता से नहीं।"—नये महाशय ने कहा।

दकील सज्जन ने इस पर बीच में बोलते हुए कहा—"महाशया कह रही हैं कि विवाह अनुराग, या यों कह सकते हैं, प्रेम के परिणाम स्वरूप हो, और जिस क्षेत्र में प्रेम है वहीं विवाह पवित्रता-मण्डित तथा सार्थक है। यानी जिस विवाह की नींव स्वाभाविक प्रेम पर नहीं है, उसमें कोई नैतिक बाध्यता नहीं है। महाशया, यही है न आपका कहना ?"

बुड्ढे ने अधैर्य के साथ कहा—"हाँ महाशय, किन्तु क्या यह जानने में कुछ हानि है कि उस प्रेम का क्या स्वरूप है जो कि विवाह को पवित्र बना देता है।"

महिला ने कहा—"सभी जानते हैं कि यह प्रेम क्या है।"

"सब जानते हों, मैं नहीं जानता, मैं जानना चाहूँगा आप कैसे इसकी परिभाषा करती हैं।"

"क्या ? यह बहुत ही आसान बात है!" इतना कहकर वह सोचने लगी। फिर बोली—"दूसरों की तुलना में किसी खास व्यक्ति को एक-मात्र रूप से तरजीह देना यही प्रेम है।"

"बहुत अच्छी बात है, किन्तु कितने दिन के लिए तरजीह ? एक मास के लिए दो दिन लिए, आध घण्टे के लिए ?"

"आप विषय छोड़कर बात कर रहे हैं।"

"जी नहीं मैं उसी विषय में बोल रहा हूँ, मैं खास करके तरजीह देने के ही विषय में बोल रहा हूँ, किन्तु मैं पूछता हूँ यह तरजीह कितने दिन के लिए ?"

"कितने दिन के लिए ? बहुत दिन के लिए, अक्सर समग्र जीवन के लिए।"

"किन्तु महाशया ये बातें तो केवल उपन्यासों में होती हैं, जीवन में कभी नहीं। जीवन में यह एक को दूसरे के ऊपर तरजीह देना क्वचित् ही कई साल से अधिक टिकता है। अक्सर तो ऐसा होता है कि इसकी आयु केवल कुछ मास, कई सप्ताह, कई दिन या कई घण्टे ही होती है।"

"ओह, आप तो भयंकर बातें कह रहे हैं, मनुष्य में अवश्य ही प्रेम नाम का एक पदार्थ है।"

"हाँ-हाँ, यह केवल मूर्खतापूर्ण उपन्यासों में ही होता है कि 'आओ हम एक-दूसरे को समग्र जीवन प्यार करें।" केवल दुध-मुँहे बच्चे ही ऐसी बातों पर एतबार कर सकते हैं। किसी को समग्र जीवन प्यार करेंगे, यह बात कहना ऐसा ही हुआ जैसे कि कोई कहे कि वह एक मोम-बत्ती को अनन्त काल तक जलायगा।"

"किन्तु आप तो केवल शारीरिक प्रेम की ही बात करते हैं, क्या आप उस प्रेम को नहीं समझ सकते जिसकी नींव आदर्शों के ऐक्य पर है—जो कि एक आत्मिक लगाव पर ही प्रतिष्ठित है ?"

"क्यों नहीं ? किन्तु इस हालत में प्रजनन की कोई आवश्यकता नहीं है, और यह आदर्श का ऐक्य केवल सुन्दर तथा अधेड़ उम्र के लोगों में ही प्राप्त होता है। इसीलिए मेरा दावा है कि यह प्रेम जो कि बताया जा रहा है कि विवाह को पवित्र करता है, दरअसल उसका सर्वनाश करता है।"

वकील ने बात काटकर कहा—"महाशय माफ कीजिये; घटनाएँ कुछ और ही बात कह रही हैं। हम देखते हैं कि विवाह-पद्धति कायम है और समस्त मानव-जाति—कम-से-कम उसमें से अधिकतर भाग दम्पत्य-जीवन ग्रहण करता है, और अधिकतर दम्पति बहुत समय तक सुखपूर्ण जीवन व्य-तीत करते हैं।"

"अच्छा ? आप कहते हैं कि विवाह की नींव प्रेम पर है, और जब मैं कहता हूँ कि कामुकतामय प्रेम के अतिरिक्त किसी और तरह का प्रेम नहीं है, तो आप उसका अस्तित्व विवाह के प्रचलन से साबित कर रहे हैं। किन्तु जनाब असली बात तो यह है कि विवाह एक जबर्दस्ती और झूठ के सिवा कुछ नहीं है।"

इस प्रकार बात चलती जाती है, मुसाफिरों में से एक सज्जन कहते हैं—"देखिये पोस्निशेफ (Posdnicheff) ने कैसे अपनी स्त्री को ईर्ष्या के कारण मार डाला।" जब बात-चीत यहाँ तक पहुँचती है तो मालूम होता है कि पोस्निशेफ मुसाफिरों में स्वयं मौजूद हैं। फिर क्या था, पोस्निशेफ अपनी राम-कहानी कहने लग जाता है। पोस्निशेफ इन शब्दों से अपनी राम-कहानी आरम्भ करता है—"प्रेम, विवाह, परिवार ये सभी बातें झूठी हैं, झूठी ? झूठी !"

"मैं शुरू से ही आरम्भ करूँ। यह कहना आवश्यक है कि कैसे और क्यों मेरा विवाह हुआ और उसके पहले मैं कैसा था। मैंने तीस वर्ष की उम्र में विवाह किया। इसके पहले मैं व्यभिचार में दिन-रात डूबा रहता था, और

ऐसा करते हुए भी समझता था कि मेरा नैतिक चरित्र निष्कलंक है। जिस परिवार में मैं पैदा हुआ था वहाँ व्यभिचार का नाम नहीं था, इसलिए मैं दाम्पत्य-जीवन के सम्बन्ध में एक कवित्वपूर्ण धारणा रखता था। इस धारणा के अनुसार मेरी स्त्री एक सर्वगुणयुक्त साध्वी होने वाली थी, हम लोगों का पारस्परिक प्रेम भी अतुलनीय होने वाला था। मैं अपने को एक आदर्श ब्रह्मचारी समझता था, क्योंकि मैं किसी औरत को बरगलाता नहीं था, मुझमें कोई अप्राकृतिक बात भी नहीं थी।

"ऐसा रहते हुए भी अपने को एक भलामानुस समझता था। हाँ इस प्रकार मैंने दस साल घोर अनैतिकता में बिताये, किन्तु बराबर उस कवित्वमय समुन्नत प्रेम का स्वप्न देखता रहा। सोलह साल की उम्र के पहले ही मैंने कुमार्ग में कदम रखा था। लोगों ने इसके पहले मुझे बिगाड़ दिया था। स्त्रियों के सम्बन्ध में मेरी धारणा बड़ी कवित्व मंडित थी। मेरे इस पतन से ऐसे व्यक्ति जिन्हें कि मैं सम्मान करता था खुशी ही थे, वे कहते थे कि गाहे-बगाहे यह बात तन्दुरुस्ती के लिए अच्छी होती है। रही कोई घृणित बीमारी की बात, सो उसके लिए तो सरकार बड़ी सरगर्मी रखती है। नियमित रूप से वेश्याओं का निरीक्षण किया जाता है, इत्यादि। सरकार व्यभिचारियों के स्वास्थ्य का बड़ा ख्याल रखती है। डाक्टर भी, चूँकि उन्हें टका मिलता है कहते हैं कि एक दृष्टि से व्यभिचार में भलाई है। मैं ऐसी कुछ माताओं को जानता हूँ जो कि इस सम्बन्ध में अपने लड़कों के स्वास्थ्य पर देख-रेख रखती थीं। मजा तो यह है कि विज्ञान भी लोगों को वेश्यालय में भेजता है।"

"विज्ञान कैसे?"—एक मुसाफिर ने पूछा।

"तो ये डॉक्टर विज्ञान के पण्डों के सिवा क्या हैं? नवयुवकों को ऐसी बातें कहकर कौन बहकाता है? स्त्रियों का सिर कौन लोग यह कहकर फिरा देते हैं कि ऐसे उपाय हैं कि बच्चे न हों? कौन लोग ऐसे कुकर्मियों को जब प्रकृति से सजा मिलती है तो उनका इलाज करते हैं?"

"तो रोग का इलाज क्यों न किया जाय?"

"इसलिए महाशय कि रोग को आराम करने का अर्थ है व्यभिचारी का दिल बढ़ाना,—यतीमखानों का भी यही मतलब है।"

"हाँ, लेकिन ··"

"लेकिन-वेकिन कुछ नहीं, यदि जितनी चेष्टा रोग आराम करने में लगाई जाती है, उसका सौवाँ हिस्सा व्यभिचार को दूर करने में लगाया जाता तो यह रोग कब का दूर हो गया होता, किन्तु अब जो रहा है वह तो केवल रोग को

आराध्य करने के लिए हो रहा है जिसका अर्थ है व्यभिचार को उत्साहित करना। खैर तो इसका नतीजा यह हुआ कि मैं दिन-ब-दिन व्यभिचार के गड्ढे में गिरने लगा। मैं कामुक हो गया। एक कामुक भी उतना ही अप्राकृतिक जीव है जैसा कि अफीमची या शराबी। चाहे वह कितनी भी चेष्टा करे, किन्तु वह एक युवती की ओर कभी भी भाई की दृष्टि से नहीं देख सकेगा। उसकी दृष्टि से ही यह बात खुल जायगी।"

"मैं जब अपने अपराधों का स्मरण करता हूँ तो मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। फिर भी दिल्लगी यह है कि मेरे मिलने वाले मेरी अत्यधिक सिधाई के लिए मेरी खिल्ली उड़ाते थे। मैं फिर भी विवाह के बारे में स्वप्न देखता जाता था, इस उद्देश्य से मैं कुमारियों को देखा करता था। मैं स्वयं तो पंक में आकण्ठ मग्न था, किन्तु ऐसी पवित्र कुमारियों की तलाश में रहता था जो कि मेरे योग्य होतीं! उनमें से बहुतों को तो मैंने मन-ही-मन अलग भी कर दिया। फिर भी मैंने एक को पा लिया जो कि मेरी ऊँचाई तक पहुँचती थी। इसका पिता एक जमाने में धनी था। यदि मैं सच बात कहूँ तो, मेरी पीछा किया गया तथा उसकी माँ ने मुझे फाँस ही लिया। एक दिन मैं उसके साथ चाँदनी रात में टहल रहा था। उसके सौन्दर्य से मेरे दिल पर जैसे साँप लोट रहा था। एकाएक मैंने निश्चय किया कि यह कुमारी वही है जिसके लिए प्रतीक्षा थी। दूसरे दिन मैंने प्रस्ताव किया।

"जब वाग्दान हो गया तो मैंने अपने जीवन का कुछ-कुछ हाल उसे बताया। बात यह है कि मेरा आखिरी किस्सा अभी ताजा था, वह उसे जान ही जाती। कुमारियाँ इस प्रकार की आबोहवा में पाली जाती हैं कि वे समझती हैं कि युवकगण भी दूध के धुले हुए होते हैं। मेरी स्त्री ऐसी ही कुमारी थी। नतीजा यह हुआ कि जब उसने मेरी बात सुनीं और समझीं तो उस पर आतंक छा गया। दाम्पत्य-जीवन का अच्छा श्रीगणेश रहा।"

"विवाह होने के बाद ही जो 'मधु-चन्द्रमा' होता है उसी के दौरान म मुझ में तथा मेरी स्त्री में झगड़े हो गए। पहली बार झगड़ा हुआ तो मैं आश्चर्य से अवाक् रह गया। दूसरी बार हुआ तो मैं झिझका। हर बार झगड़े के बाद जब शांति होती थी, तब कामुकता की एक बाढ़ आ जाती थी। धीरे-धीरे मैं इन झगड़ों को रोजमर्रा की बात समझने लगा। पहले ही सप्ताह से मैं यह समझने लगा कि मैं फाँसा गया, बड़ी गलती हुई, किन्तु सब की तरह मैंने इसे मानने से इन्कार किया। मैं अब भी इसे नहीं मानता यदि वह घटना न होती।"

"पहले ही महीने में मेरी स्त्री गर्भवती हो गई, किन्तु मैं कामुकता से बाज़ नहीं आया। कहते हैं कि स्त्री तथा तथा दूसरे का आनन्द-विधान करते हैं। मैं नहीं जानता बात क्या है। मैं जानता हूँ शराब, स्त्रियाँ और गाने। मुसलमानों में जो बहु-विवाह है उसमें तो सचाई है, किन्तु हमारे यूरोपीय बहु-विवाह में तो झूठ ही है। हमारे यहाँ स्त्री-शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य यह है कि किस तरह पुरुष को बहकाया जाय।"

"मेरी स्त्री के प्रति में ईर्ष्या का अनुभव करने लगा। वह ऐसे कि मैं देख रहा हूँ कि कोई युवक मेरी स्त्री से बात कर रहा है, बात करते-करते वह मेरी स्त्री को देखता जाता है, और मुझे मालूम पड़ता है कि वह उसके शरीर की परीक्षा कर रहा है। भला उसे क्यों इतनी हिम्मत होती कि वह उसको इस प्रकार देखे, शायद वह सोच रहा हो कि मेरी स्त्री के साथ एक 'रोमांस' हो तो कैसा रहे। और मेरी स्त्री इस बात को देख कर भी उसे सहन कर रही थी, यह देख कर मैं हैरान था। केवल वह उसे सहन कर रही थी यह बात नहीं, मुझे तो यह मालूम हो रहा था कि इस बात से उसके दिल में मधु घुल रहा था। इस बात से मुझे दुःख हुआ, मेरी स्त्री ने मेरी ओर देखा, और मुझे देखकर और भी खुश हो गई, और प्रफुल्लता से बातें करने लगी। मैं ऐसी ही बातों से सन्देह करता था, छिप कर बातें सुनता था इत्यादि।"

"लड़के उत्पन्न होने से होना तो चाहिए कि पुरुष और स्त्री में अधिक मेल हो जाय, तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध में गंभीरता आ जाय, किन्तु होता है बिल्कुल विपरीत। बल्कि वे तो झगड़े के एक और कारण हो जाते हैं। लड़के भी दलबन्दी में आ जाते हैं, कोई माँ का प्यारा होता है तो कोई बाप का। मेरे परिवार में भी ऐसा हुआ, एक लड़की तो मेरी दुलारी हुई, और बड़ा लड़का मेरी स्त्री का दुलारा हुआ। मैं इस बड़े लड़के की जब-तब खबर लेता था।"

"मुझे यह बात दुःख देती थी कि मैं पुरुष हूँ फिर भी घर में हुकूमत उसकी है। बच्चों के बल पर ही उसका यह आधिपत्य था। इसके अतिरिक्त वह मुझसे नैतिक रूप से श्रेष्ठ थी, जैसा कि हरेक दुलहिन अपने दुलहे से होती है। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि हमारी स्त्रियाँ बहुत मामूली होती हैं, उनका स्टैण्डर्ड पुरुषों की तरह ही होता है। किन्तु हमारी कुमारियाँ बड़ी उच्च होती हैं। तो क्या वजह है कि विवाह होते ही वे बिगड़ जाती हैं? इसकी वजह हम पतिदेवतागण हैं, हम उसे अपनी निचाई तक उतार कर ही

बन लेते हैं। फिर तो वे भी बकवाद करने वाली, सिद्धांतहीन, गर्विता तथा बुरी हो जाती हैं।"

"मेरी स्त्री किसी ज़मीन में पिआनो बजाती थी, अब उसने फिर एकाएक पिआनो शुरू किया। यहाँ से उस पुरुष का आना-जाना शुरू होता है जिससे कि मुझ पर यह दुर्भाग्य आया। यह आदमी बहुत ही ख़राब था, मैं इसलिए यह बात नहीं कहता कि उसी की वजह से मुझ पर यह दुर्भाग्य आया। वह संगीतज्ञ था। संगीत में उसकी गति अप्रतिहत थी। यों तो देखने से उसके चेहरे पर गुंडई झलकती थी, किन्तु जब यह वायोलिन बजाने लगता था तो उसका चेहरा उदात्त प्रशांत हो जाता था, जैसे वह और ही आदमी हो जाता था। इस संगीत के सूत्र से ही इस व्यक्ति में तथा मेरी स्त्री में घनिष्ठता बढ़ने लगी। मैंने देख लिया कि यद्यपि वे दिखा रहे थे कि केवल संगीत ही में उसकी दिलचस्पी है, पर बात कुछ और ही थी। यदि मैं पवित्र होता तो इन बातों को समझ नहीं पाता, किन्तु मैं तो सब किये हुए था, इसलिये समझ गया और जलने लगा। इसके अतिरिक्त मैं यह भी जानता था कि मेरे प्रति मेरी स्त्री के मन में एक बूंद भी प्रेम या सद्भाव नहीं है। इससे मेरे बदन में और भी आग लग गई।"

"ऊपर से मैं दोनों के प्रति भद्र रहता था। यह दिखाव कदाचित् मैं इस-लिये करता था कि मैं अपनी स्त्री को दिखाना चाहता था कि मैं उससे नहीं डरता। मैं उस व्यक्ति को निमन्त्रण देकर खिलाता था, और संगीत का प्रदर्शन करने के लिए बुलाता था। एक दफे मैं घर आया तो मैंने जान लिया कि वह मेरे घर पर है। मेरे सारे बदन में आग लग गई। मैंने सोचा अब मामला यहाँ तक पहुँचा है, क्या पता? सीना धक से हो गया। मैं कमरे में जाके घुस गया, तो मेरी स्त्री पर जैसे बिजली गिर गई। किन्तु वह हिली-डुली नहीं, बनावटी हँसी हँस कर कहने लगी—बहुत अच्छा हुआ तुम आ गए, अगले रविवार के लिए हम क्या संगीत रखें इसको हम अभी तक तय नहीं कर सके।"

"मैंने चुपचाप उस व्यक्ति से हाथ मिलाया। वह भी कहने लगा कि संगीत के सम्बन्ध में बड़ी उधेड़-बुन में पड़ा है, कोई राय नहीं मिलती। बातचीत होने लगी, किन्तु वह मुझको ध्यान से देखता जा रहा था। बातों का मैं भी उचित उत्तर देता जाता था, किन्तु मेरे मन में यह पूर्ण विश्वास था कि यह सब मुझे झाँसा दिया जा रहा है, असली बात कुछ और ही हो रही थी। मेरे आने से अवश्य ही उनको दुःख हुआ था, क्योंकि बड़ी देर तक वे कुछ बोले नहीं। मुझे इच्छा हो रही थी कि इस व्यक्ति को मारकर निकाल दूं, यह

आदमी जो कि मेरी स्त्री को गुमराह कर रहा है, तथा मेरे परिवार में आग धधका रहा है, किन्तु समाज के नियमों से मैं विवश था, मैं हँसने लगा। मैंने कहा कि मुझे उसकी सुरुचि के सम्बन्ध में सम्पूर्ण विश्वास है, और मैंने अपनी स्त्री को सलाह दी कि वह उसके चयन का अनुसरण करे।

"उस दिन मैं अपनी स्त्री से बोल नहीं सका। मैं बोल ही नहीं सकता था, उसकी निकटता से मुझे डर लगता था कि न मालूम मैं क्या कर डालूँ। खाते समय उसने बच्चों के सामने मुझसे पूछा कि मैं कब बाहर जा रहा हूँ। मैंने तारीख़ बतलाई, तो उसने पूछा कि मुझे मुसाफ़िरी के लिए किसी चीज़ की आवश्यकता तो नहीं है। मैंने उत्तर नहीं दिया और मैं मुँह बनाकर अपने कमरे में चला गया। मेरे कमरे में वह ऐसे समय कभी नहीं आती थी किन्तु आज आई। मैं समझ गया कि उसने एक अपराध किया, उसी को छिपाने के लिए यह असमय आगमन है। मुझे और क्रोध आया, और मैं सिगरेट पीने लगा।"

उसने कहा—मैं तो बात करने आई हूँ और तुम सिगरेट पी रहे हो।

वह मेरे पास बैठ गई, मैं जरा बच कर बैठा। वह बोली—मैं देख रही हूँ कि मैं रविवार को संगीत में शामिल हूँगी इससे तुम नाख़ुश हो।

मैंने कहा—हर्गिज़ नहीं, मैं इससे क्यों नाराज़ होने लगा ?

"बातचीत होते-होते मैंने कहा—यदि तुम्हारे लिए परिवार का सन्मान कुछ नहीं है तो याद रखना कम-से-कम मेरे लिए उसका मूल्य है। जाओ—किन्तु वह गई नहीं। वह तो ऐसी बन गई कि कुछ समझी नहीं। वह गुस्से में आ गई। वह मेरे ऊपर नाराज़ होने लगी। मेरा भी क्रोध बढ़ने लगा, एक बार तो मेरी इच्छा हुई कि अपनी घृणा को भाषा में ही न व्यक्त कर हाथा-पाई द्वारा व्यक्त करूँ। मैं उठा और हाथ पकड़कर उसे कमरे से निकालना चाहा, किन्तु वह फिर भी गई नहीं। वह बोली—'होश में आओ'। अन्त में मैंने अपने को सँभाल लिया। वह देर तक बैठकर चली गई, घंटा भर बाद बूढ़ी नौकरानी से मालूम हुआ कि उसे मूर्छा आ गई। मैं देखने गया। सवेरे तक वह 'प्रेम' के प्रभाव से शान्त हो गई।

"जिस रविवार को मेरे घर पर संगीत-सम्मेलन होने वाला था वह आ गया। इसमें त्रुखाचेवस्कि भी आने को था। बल्कि वह और मेरी स्त्री ही इस सम्मेलन के कर्णधार थे। मैं इस मौके के लिए बहुत सी चीज़ें खरीद लाया। बात यह थी कि मैं दिखाना चाहता था कि मैं ईर्ष्या नहीं करता। इतना होते हुए भी मे स्वाभाविक व्यवहार नहीं कर रहा था। मैं बराबर अपनी स्त्री की

चितवन तथा त्रुखाचेवस्कि के ऊपर कड़ी निगाह रख रहा था। वह वायोलिन तथा मेरी स्त्री पिआनो बजाने वाली थी। कैसे उसने वायोलिन का बक्स खोला, कैसे उसका सुर मिलाने लगा ये ज़रा-ज़रा सी बातें भी मुझे स्मरण हैं। वे एक दूसरे की ओर कई क्षण तक देखते रहे, फिर वे एक दूसरे से बोले, फिर उन्होंने जनसमूह के ऊपर दृष्टिपात किया। वे बिठोफेन का Sonate a Kreutzer बजा रहे थे।

"मजलिस खतम होने के बाद त्रुखाचेवस्कि मुझसे पूछने लगा मैं कब बाहर जाऊँगा, और कब लौटूँगा। खैर मेरे पहले वह स्वयं शहर के बाहर जाने वाला था। फिर क्या था हम लोगों ने एक दूसरे से विदा माँगी। पहले ही समय मैंने उससे ऐसे खुले दिल से हाथ मिलाया।

"मैं अपने काम से यथा समय जिले में गया। दो दिन बाद मुझे पत्र मिला कि त्रुखाचेवस्कि आया था तथा उसने सगीत के लिए प्रस्ताव किया था, किन्तु मेरी स्त्री ने स्वीकार नहीं किया। मेरे बदन में आग लग गई। कुछ दाल में काला मालूम देता था। फिर मैं सोचता था एक संगीत-व्यवसायी के लिए तो यह स्वाभाविक ही है कि पराई बहू-बेटी ताकता फिरे किन्तु मेरी स्त्री, लड़कों की माँ, नहीं-नहीं-नहीं—यह हो नहीं सकता। फिर मैं और बातों को सोचता तो मुझे जान पड़ता कि कौन सी बात उसे रोकेगी ? रात भर इसी उधेड़-बुन में कटी। मैं काम छोड़कर घर चल दिया। गाड़ी में मेरा समय बड़ी कठिनता से बीता, मैं तो पागल हो रहा था और चाहता था कि तुरन्त पहुँच जाऊँ। मुझे मालूम देता था कि गाड़ी चल नहीं रही है। खैर जैसे-तैसे स्टेशन पर पहुँचा। वहाँ से घर पहुँचने के लिए मैं इतना अधैर्य हो रहा था कि अपना सामान ही भूल गया, रास्ते में यह बात याद आई किन्तु मैं लौटा नहीं। मकान में घुसा तो पहली चीज जो देखी वह एक ओवरकोट था। इसको देखकर मुझे आश्चर्य नहीं हुआ, बल्कि मैंने कहा यह तो मैं जानता ही था। बच्चों के सामने ही ? किन्तु बच्चे तो बड़ी देर से सो रहे हैं, यही खैरियत है। मुझको तो रुलाई सी आने लगी, किन्तु मैंने अपनी इस भावुकता को दबा दिया, और तत्पर होकर काम में लगा। मैंने नौकर को तो सामान लाने के बहाने टरका दिया, और स्वयं कार्य के लिए उद्यत हुआ। इसमें तो कोई सन्देह नहीं रहा कि स्त्री ने मुझे धोखा दिया था, कोई बहाने की गुञ्जाइश ही न थी। मैं सीधे रास्ते को छोड़कर दूसरे रास्ते से चलने लगा, मैं सोचता जाता था—मैंने इसे कभी धोखा नहीं दिया और यह पाँच बच्चों की माँ होकर इस प्रकार का आचरण कर रही······। यह स्त्री नहीं बल्कि घृणित

कुतिया है। मेरे दिमाग़ में केवल एक ही धुन थी कि कुछ करूँ। निष्क्रियता मुझे असह्य हो रही थी। मैंने अपने जूते उतार दिए, एक छुरा निकाला और धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा।

"मुझे उसके उस वक्त के चेहरे याद हैं जब कि मैं किवाड़ खोलकर भीतर घुसा। मुझे एक विषादपूर्ण आनन्द हुआ। उसके चेहरे पर आतंक सा छा गया। वह तो शायद मेज़ पर था, भय से उसका मुँह सूख गया, और वह पीछे हटने लगा। मेरी स्त्री के चेहरे पर भी भय था, तथा यह अनुभूति थी कि मेरा आना इस सुख की घड़ी में बहुत बुरा हुआ। मेरे हाथ में छुरा छिपा था। फ़ौरन ही वह सँभल गया, और अजीब तरीके से हँसकर बोला—हम लोग संगीतानुशीलन कर रहे थे।

मेरी स्त्री ने कहा—मुझे तुम्हारे आने की आशा नहीं थी।

"मैं स्त्री पर टूट पड़ा और मैंने छुरा उसकी छाती में भोंक दिया।"

संक्षेप में टालस्टाय का उपन्यास यही है। अप्रासंगिक होने पर भी यहाँ कह देना आवश्यक है कि मेरे दिये हुए इस संक्षिप्त विवरण से जो कि कहीं अनुवाद है, कहीं छायानुवाद, कहीं सूत्र रूप से अनुवाद, पाठकगण टालस्टाय की कला को कूतने की चेष्टा न करें। मैंने जिस संस्करण से इस गल्प का अनुसरण किया है, वह फ्रेंच में है, और उसमें दो सौ से अधिक पन्ने हैं। मेरे इस छोटे लेख में भला इस ग्रन्थ की कला कैसे आ सकती थी।

इस उपन्यास में स्त्री और पुरुष के सम्बंध पर जो दिशा ली गई है, उसमें उस समय के रूस के उच्चवर्ग की ह्रासशीलता सामने आ जाती है। हमारे देश के उच्चवर्ग के सम्बध में यह चित्र बहुत कुछ सत्य है।

३३

त्याग की झूठी धारणा

हमारे ऋषि-मुनि सर्वदा एक विशेष प्रकार के त्याग का उपदेश देते आए हैं। "अर्थमनर्थम् भावय नित्यम्" । "मा कुरु धनजनयौवनगर्वं, हरति निमेषात् कालः सर्वं"; कबीर साहब की भाषा में "रूखा सूखा खाइकै ठंडा पानी पीव" तथा परमहंस राम-कृष्ण की भाषा में "कामिनी-कांचन त्याग करो" यही हमारे ऋषि-मुनियों की शिक्षा थी। कम-से-कम लोग ऐसा ही समझते हैं, और तदनुरूप आचरण करने की चेष्टा करते हैं। यह धारणा हमारे देश में इतनी प्रबल है, और उससे इतनी भारी हानि हो रही है कि शीघ्र-से-शीघ्र इसका मूलोच्छेद कर डालना चाहिए। "ग़रीबी कोई पाप नहीं है" यह बात सच्ची हो सकती है; किन्तु इस प्रकार दरिद्रता, दासता तथा अकर्मण्यता को पुण्य क़रार देना नितान्त हानिकर सिद्ध हो रहा है। यह बात नहीं कि भारतवर्ष में ही कृच्छ्र-साधन की ऐसी धारणाएँ रही हैं, ईसाई तथा मुसलमानों में भी ऐसी धारणाएँ प्रचलित थीं, उनके इतिहास को खोजने से इसके सैकड़ों उदाहरण मिलेंगे। किन्तु भारतवर्ष में यह धारणा जिस हद तक ले जाई गई है, उतनी हद तक कहीं नहीं ले जाई गई। भारतवर्ष में ऐसी विचार-धारा की प्रबलता होने के कारण ही भारतवर्ष का पतन हुआ, या भारतवर्ष का पतन होने के ही फलस्वरूप तसल्ली के तौर पर ऐसे विचारों का तथा दर्शन शास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ, इस प्रश्न को हम अन्य मौके के लिए छोड़ देंगे। किन्तु हम इतना कह सकते हैं कि जब तक त्याग की ऐसी कायरतापूर्ण तथा पुरुषार्थहीन धारणा रहेगी, तब तक भारत का पुनरुत्थान असम्भव है। हम एक झूठे त्याग की धारणा के वशवर्ती होकर असली त्याग से मुँह मोड़कर शक्ति का अपव्यय करेंगे।

त्याग का आदर्श एक महान् आदर्श है। सच बात तो यह है कि मैं त्याग को प्रेम का ही दूसरा नाम समझता हूँ। किन्तु जहाँ त्याग नहीं है, है अकर्मण्यता, ग़ुलामी, परवशता, वहाँ त्याग का आरोप करके अपनी अवनति से सन्तुष्ट

रहना बड़ी निंदनीय बात है। जब कोई बात हो ही नहीं सकती, तो कह दिया कि हम इसे चाहते ही नहीं; यही हमारे त्याग की पोल है। जब "अर्थ" हो ही नहीं सकता, चूल्हा कभी सुलगा ही नहीं, घर में भूजी भाँग भी नहीं, अँतड़ियाँ सूख गईं, हमेशा फ़ाक़े-मस्ती का सामना हुआ, और भविष्य में भी उससे छुटकारे की उन्हें कोई आशा नहीं थी, तो वे क्यों न अर्थ को अनर्थ सोचते। अब उनके दुश्मनों के हिस्से में सब ज़र्दा-पुलाव पड़ गया, तो वे रूखा-सूखा खाकर ठंडा पानी न पीते तो क्या झख मारते? परमहंस रामकृष्ण के कामिनी-कांचन-त्याग का भी यही रहस्य है। जिस जाति के लोगों में आधे आदमी भरपेट कभी नहीं खाते, जहाँ की मध्यवित्त श्रेणी बही खाता लिखते-लिखते अन्धी हो रही है, वहाँ ऐसे मत पैदा हुए तो कोई आश्चर्य नहीं है। आखिर जितनी भी विचार-सरणियाँ हैं, वे मुक्त तो हैं नहीं, वे Socially conditioned हैं। होते-होते लोगों ने अपनी दुर्बलता को ढकने के लिए इस विषय पर एक दर्शन-शास्त्र खड़ा कर दिया। कालान्तर में जाकर यदि उसे भारतीय दर्शन का स्वरूप प्राप्त हो गया तथा यह विचार उसकी चाभी बन गया हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। अवनत तथा ग़ुलाम जातियों में भारतवर्ष का ही नम्बर सबसे ऊँचा रहा। शायद तभी इस देश के रहने वालों में पारलौकिकता का सितारा भी सबसे बुलन्द रहा। जिनका यह लोक छिन गया है, जिनकी धन-राशि लुट गई, जिनकी स्त्रियाँ हर ली गईं, वे यदि कामिनी-कांचन त्यागकर परलोक के सम्बन्ध में खयाल-आराइयाँ न करते तो क्या करते? हमारी त्याग-सम्बन्धी यह विचार-धारा पिछली ग़ुलामी तथा हर क्षेत्र में पंगुता की एक अनिवार्य उपज है।

बजाय इसके कि हम अपने रहन-सहन की मात्रा को क्रमशः बढ़ावें—अवश्य रहन-सहन की वृद्धि आम होनी चाहिए—कुछ लोग यह प्रचार करते देख पड़ रहे हैं कि कम-से-कम वस्तु से ही संतोष रखें। अवश्य केवल वैयक्तिक रहन-सहन की वृद्धि का हम समर्थन नहीं कर सकते, किन्तु सार्वजनिक रहन-सहन की वृद्धि हरेक राष्ट्र का ध्येय होना चाहिए। बल्कि इसी में उसकी सफलता तथा सार्थकता है। जो लोग हमें रूखा-सूखा खाकर ठंडा पानी पीने के लिए कहते हैं, हम उनसे पूछते हैं, "क्यों? क्यों हम ऐसा करें?" इसका सबसे अच्छा उत्तर जो दिया जाता है, वह यह है कि खाने-पीने की हद करके देखा जा चुका है कि कभी तृप्ति नहीं होती। मानना पड़ेगा कि इस तर्क में कुछ जान है, किन्तु हमारी माँग यह थोड़े ही है कि हम गुलाबजल में नाव खेवें, दूध के कुल्ले करें, नोट जलाकर तम्बाकू पियें। हम तो सुरुचिपूर्ण

तथा स्वास्थ्यकर हद तक ही जाना चाहते हैं। मान लीजिए, डॉक्टर हमें यह बताते हैं कि प्रत्येक आदमी के शरीर को स्वस्थ रखने के निमित्त आधी छटाँक घी की, आध सेर दूध की तथा एक अंडे की कम-से-कम आवश्यकता है, तो जो धर्म, सदाचार या पैग़म्बर हमें इससे कम में सन्तुष्ट रहने को कहेगा, हम उस धर्म को गुमराह तथा पैग़म्बर को नासमझ क़रार देंगे। ऐसा ही हर एक बात में समझ लिया जाय।

त्याग की इस झूठी धारणा की वजह से हमारी सभ्यता, संस्कृति तथा दृष्टिकोण सभी एकांगी हो गए हैं। बनते-बनते यह धारणा हमारे स्वभाव का एक अंग हो गई है, और अब हम इस प्रकार उसके शिकंजे में जकड़ गए हैं कि दूसरे तरीक़े से सोच ही नहीं सकते। जहाँ त्याग नहीं है, वहाँ हम त्याग का आरोप करते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि हमें जहाँ त्याग की आवश्यकता है, वहाँ हम खीसें निकालकर रह जाते हैं। हम यहाँ पर राजनीतिक त्याग का ज़िक्र नहीं कर रहे हैं। उसम तो देखा जा चुका है कि कुछ योग्य रहनुमाओं के रहते हुए भी हम आवश्यक परिमाण में त्याग नहीं कर पाये। हम गौरीशंकर या कांचन गंगा के अभियानों की बात को ही लें। ये दोनों स्थान हमारे देश में हैं। किन्तु इन पर आकर अभियान करें जर्मन और अन्यान्य लोग हमारे देश की युवक-शक्ति के लिए कितनी लज्जा की बात है? हमारे देश की भाषाओं की पैमाइश करें ग्रियर्सन साहब, हमारे इतिहास पुरातत्त्व तथा मुद्राओं पर गवेषणा करें अन्य देश के लोग। और हम, हम तो त्यागी ही ठहरे। इसलिए हम तो केवल "ठंडा पानी पीव"। ऐसे दर्शनशास्त्र के होने का लाभ सिर्फ इतना ही हो गया है कि हम ग़रीब और ग़ुलाम तो थे ही, अब ढोंगी भी हो गए।

एक मात्रा तक इन्द्रिय-निरोध बहुत अच्छा है, बल्कि अवश्य कर्तव्य है, सभ्यता की यही माँग है। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य सर्वथा इन्द्रियों के वश में रहता था। जब जैसा जी में आया, तब वैसा किया। यदि उसकी इच्छा में कोई बाधा थी, तो प्रकृति थी, या औरों के मुक़ाबले में उसकी दुर्बलता। इन्द्रियों का अनुगमन असभ्यता थी, इसलिए कुछ लोगों की दृष्टि में इन्द्रिय-निरोध ही चरम सभ्यता हुई। संयम अच्छा है, संयम की शिक्षा की भी आवश्यकता है। किन्तु उपभोग-मात्र को घृणा की दृष्टि से देखना कोई स्वास्थ्यकर मनोवृत्ति नहीं है। इसमें कहीं-न-कहीं रोगी मनोवृत्ति है। या तो इसका मतलब यह है कि हम उसे पा नहीं सकते, या पायें भी तो उपभोग नहीं कर सकते, इसका नतीजा बाद को जाकर बुरा होता है। हम उपभोग करते भी हैं तो

डरते-डरते। नतीजा यह होता है कि उपभोग का पूरा मज़ा हम उठा नहीं पाते। इसके अतिरिक्त उपभोग के बाद हम हमेशा एक दुविधा में पड़ जाते हैं। जाने हमने अच्छा किया या नहीं, न करते तो अच्छा होता। इस प्रकार हमारी सारी मानसिक काठी ही एक विषादपूर्ण रँग में रंग जाती है। हम संयम तथा उपभोग, दोनों में अक्षम हो जाते हैं। हम एक नाम-हीन परिभाषा-हीन यन्त्र (Mechanism) में परिणत हो जाते हैं, जो कि केवल ग़ुलामी के पहियों के द्वारा ही चल सकता है। संयम की अति करने की चेष्टा में हमारा पतन बड़े ज़ोर से होता है। फिर तो हम कहीं रुकते ही नहीं। हम समझते हैं कि जितना ही हम इन्द्रिय-निग्रह करेंगे, उतना ही भला है। किन्तु साथ ही यह देखते हैं कि पूर्ण इन्द्रिय-निग्रह असम्भव है। अतः हमारा मन एक कुरुक्षेत्र हो जाता है जहाँ यह कुरु-पांडव-युद्ध बड़े तुमुल वेग से हुआ करता है। हम उस सतत युद्ध का कोई स्वाभाविक तथा मानवीय निपटारा कर नहीं पाते। परिणाम यह होता है कि हम ऊपर से तो उसी दिखावे को जारी रखते हैं, और बँगला में जैसा कहते हैं, भीतर-भीतर डूबकर पानी पीते हैं, और पीते हैं बहुत गँदला पानी।

यौन (Sexual) तथा अन्य बातों में लोग जो विपरीत मार्ग (Perverse) का अवलम्बन करते हैं, उसके मूल में एक तरफ तो अत्यन्त संयम तथा दूसरी ओर इंद्रियानुगमन है, जब प्राकृतिक मार्ग पर इंद्रियानुगमन की अति कर दी जाती है तो कुछ समय के उपरान्त उसमें सुखानुभूति जाती रहती है, या अत्यन्त निस्तेज हो जाती है। तब पात्र अप्राकृतिक मार्ग पर दौड़ता है कि देखें उसमें क्या है। ऐसे ही अतिसंयम तथा कृच्छ्र का भी मन के ऊपर बुरा असर होता है। इस विषय को लेकर बड़े-बड़े लेखकों ने बड़े-बड़े उपन्यास लिखे हैं। हम यहाँ पर आनातोल फ्रांस-लिखित 'थायस' तथा 'ग्रात्सिया देलेद्दा' लिखित 'बेचारी मा' का उल्लेख करेंगे। स्मरण रहे, इन दोनों व्यक्तियों को नोबुल पुरस्कार मिल चुका है। देलेद्दा लेखिका हैं।

'थायस' पर कुछ कहने के पहले हम आनातोल की एक अन्य पुस्तक Les opinions de M. Jerome Coiguard से कुछ उद्धृत करेंगे। सूत्र रूप से 'थायस' का प्रतिपाद्य विषय उसमें आ गया है। आनातोल लिखते हैं—"मेरे गुरुदेव ने कहा, प्रलोभन भी एक आवश्यक उपादान है। कभी-कभी प्रलुब्ध भी होना चाहिए। दुनिया में आकर प्रलुब्ध होना, यह तो मनुष्यों का तथा ईसाइयों का प्रारब्ध ही है। इससे कोई बच नहीं सकता। सबसे बड़ा जो प्रलोभन है, वह भीतर से आता है, बाहर से नहीं। अश्लील तसवीरों को

हटाने के लिए तुम इतने व्यग्र हरगिज़ नहीं होते, यदि तुमनें मरुभूमि में रहने वाले साधुओं के जीवन का विशद अध्ययन किया होता, तुम्हें मालूम होता कि भयंकर एकांतता में रहते हुए सब तरह के श्लील या अश्लील चित्रों से दूर, सतत कृच्छ्र-साधन करते हुए भी, उपवास से जर्जरित होने पर भी कंटकशय्या पर पड़े हुए भी, वे वासनाओं के द्वारा मज्जा तक ग्रस्त हो जाते थे। यत्र-तत्र तुमको जो नग्न नारी-मूर्तियाँ दिखाई पड़ती हैं, उन्हें अपनी सुनसान कुटिया में इससे कहीं हजार गुनी अधिक प्रलुब्धकारिणी स्त्रियों के चित्र का सामना करना पड़ता था। शैतान (जिसको कि असच्चरित्रगण प्रकृति कहते हैं) किसी भी चित्रकार की अपेक्षा अश्लील चित्रों का श्रेष्ठतर चित्रकार है।

'थायस' का विषय यही है। जेम्स लुइस ने इस पुस्तक के सम्बन्ध में लिखा है कि इसमें हमारी इन्द्रियवृत्तियों तथा आत्मा का चिरन्तन द्वन्द्व चित्रित किया गया है। किन्तु मैं इसमें इस प्रकार के द्वन्द्व के अतिरिक्त अति संयम का दुष्परिणाम देखता हूँ। इस पुस्तक में यान्फूस-नामक अति संयमी संसार-त्यागी का दुःखद अन्त दिखलाया गया है। यान्फूस बड़ा भारी तपस्वी है। दूर-दूर तक उसका यश परिव्याप्त है। कोई कृच्छ्र, कोई संयम, कोई उपवास ऐसा नहीं है, जो उससे बचा हो। लोग उसकी ईश्वर-भक्ति पर मुग्ध हैं। यान्फूस भी आत्मतृप्त है। कोई वासना उसके मन में धुँधुआ नहीं रही है। वह बिलकुल जितेन्द्रिय है। उनको उसने ऐसा वश में कर लिया है कि वे भग्नदंत सर्प की भाँति शांत हैं। किन्तु एकाएक उसके मन में एक पुरानी बात की स्मृति जाग उठती है। एलेक्ज़ेंड्रिया में एक लड़की है। हाँ, वह अब पाप-जीवन व्यतीत कर रही है। उसका उद्धार करना चाहिए। हज़रत ईसा-मसीह की पवित्र वाणी उस तक क्यों न पहुँचाई जाय? बस, वह इस बात पर दिन-रात विचार करता है, उपवास रखता है, और ईश्वर से प्रार्थना करता है कि उसका कर्तव्य क्या है। अन्त तक उसे विश्वास हो जाता है कि ठीक है, उसे जाना चाहिए। वह असा उठाकर ईश्वर का नाम लेकर रवाना हो जाता है। हम गल्प के सूत्र का पूर्ण रूप से अनुसरण नहीं करेंगे। सार यह है कि अन्त तक यान्फूस का पतन होता है। हमें उसके पतन से कोई आश्चर्य नहीं होता। अतिसंयम या मेरुदंड-हीन संयम का यह अनिवार्य परिणाम है।

देलेद्दा की पुस्तक का केन्द्रस्थल पाल-नामक एक युवक पादरी है। रोमन कैथोलिक पादरियों को विवाह करने का अधिकार नहीं है। पाल बहुत दिनों तक इस नियम का सचाई के साथ पालन करता रहा, किंतु बाद को वह एक युवती के प्रेम-पाश में आवद्ध होकर छटपटाने लगता है। वह अपने शृंगार आदि

करता है। पादरी के यहाँ आईना होना निषिद्ध था। पादरी को भूल जाना चाहिए कि वह शरीरधारी है। किंतु पाल इसके विपरीत आईने पर मुग्ध था। पाल की माँ, जो कि कि पुत्र के पादरीपन से बड़ी ख़ुश है, पुत्र के इस परिवर्तन को देखती है और घबराती है। वह भरसक कोशिश करती है कि उसका पुत्र इस प्रलोभन में विजयी हो। वह उसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करती है, यहाँ तक कि खुलकर पाल को स्पष्ट शब्दों में सचेत कर देती है।

पाल जिस जगह पर तैनात था, उसी जगह पर पहले एक बूढ़े पादरी का पतन हुआ था। पाल की माँ जब पुत्र के सम्बन्ध में इस उधेड़-बुन में पड़ी हुई है, उस वक़्त वह बूढ़ा पादरी स्वप्न में उसके आगे प्रकट होता है। वह कहता है "उसे उस स्त्री का परिचय पा लेने दो। नहीं तो जो बात मेरे पतन का कारण हुई, वही उसके भी पतन का कारण होगी। जब मैं बिलकुल नवयुवक था, तब मुझे किसी स्त्री के आमोद-प्रमोद से कोई प्रयोजन नहीं था। मैं केवल स्वर्ग पाने की धुन में था। पर मैंने यह नहीं जान पाया कि स्वर्ग इसी भूमण्डल पर है। जब मैंनें यह बात जान पाई, तब मैं किसी काम का न था। अवसर निकल गया था। इस प्रकार उस बुड्डे का पतन हुआ था, वह आवारों के साथ हो गया था।

माँ की दुश्चिंता के होते हुए भी पाल अपनी प्रेयसी एगनेस से मिलने जाता है। वह लौटकर प्रतिज्ञा करता है कि नहीं जाऊँगा, किन्तु घटना-चक्र उसे वहाँ ले जाकर ही मानता है। न जाने की प्रतिज्ञा करने के बाद जब वह जाता है तो पहले से अधिक खुलकर मिलता है। अब तक केवल बातें होती थीं, किन्तु इस बार पाल उसकी गोद में गिर पड़ता है दोनों एक दूसरे के भुजपाश में आबद्ध हो गए, अधरों से अधर उत्तप्त होकर मिल गए।

पाल फिर भी युद्ध करता है, किंतु प्रेम ज़ोर मारता है। वह एगनेस से कहता है—"मैं समझता हूँ, हम लोगों ने वर्षों से एक दूसरे को प्यार किया है, हम लोगों नें दूसरों के हृदयों में खटकने वाला आनन्द उठाया है, मरणांत कष्ट सहे हैं। एगनेस, मेरी आत्मा की आत्मा एगनेस, अब और बड़ी वस्तु तुम मुझ से क्या चाहती हो ? मैं तुम्हें क्या दे सकता हूँ ? आत्मा से बढ़कर मेरे पास क्या है ?"

ये आजन्म ब्रह्मचारी पाल के वचन हैं। संयम की अति का यह नतीजा अनिवार्य था :

अब मैं अपने जीवन से एक उदाहरण देकर इस बात को समाप्त करता हूँ। मैंनें जेल के बाहर कभी चौबीस घंटे का भी उपवास नहीं किया था, मुझसे

शायद होता भी नहीं, किंतु जेल में ज़िद में आकर बड़ी कठिन परिस्थिति में चालीस तथा बावन रोज़ तक का उपवास किया। एक दफ़े तो बिलकुल मौत के क़रीब पहुँच गया था। पन्द्रह-पन्द्रह दिन के उपवास तो न-मालूम कितने दफ़ा किये। इन उपवासों में मैंने एक बात का खूब अनुभव किया कि संयम की अति को भले ही कोई निभा ले जाय, किन्तु उसका असर मन पर कुछ और ही होता है। हम इधर अखंड मानसिक शक्ति तथा आदर्श के बूते पर शरीर से तो उपवास करते थे; किंतु मन हमारा बिलकुल उच्छृङ्खल हो जाता था। रात को स्वप्न में रसगुल्ले, गुलाबजामुन और तरह-तरह की मिठाइयों के दर्शन होते थे। यदि दो अनशनकारी इकट्ठे रखे ज़ाते हैं, जैसा कि कई बार होता है, तो वे आपस में खाने-पीने की चीजों के सम्बन्ध में बातचीत करते हैं। कई बार मैंने यह भी ख़याल किया कि ज़बरदस्ती यदि दूसरे विषयों में बातचीत करना चाहते हैं तो भी लुढ़कते-पुढ़कते खानें की चीज़ पर ही पहुँचते हैं। ऐसे विषय में बात करने पर भी उस समय कुछ अजीब ही तृप्ति होती है। साधारण अवस्था में जिस चीज को खाना हम इज्जत के ख़िलाफ़ समझेंगे, उस समय उसकी कल्पना से ही हमारे मुँह में पानी भर आता है। केवल इच्छा-शक्ति के प्रबल प्रयास से ही तथा आदर्श के ज़ोर पर ही हम व्रत को निभाते रहे।

इस अति संयम का फल केवल तात्कालिक ही हो, ऐसा नहीं। कई बार तो यह स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है। वे ही अनशनी, जो अनशन के काल में संयम की पराकाष्ठा दिखलाता है, अनशन टूट जाने के बाद ही इस प्रकार पेटूपन दिखलाता है, जिसको देखकर विश्वास करना मुश्किल हो जाता है कि यह वही आदमी है, जिसने सैकड़ों निर्यातनों के होते हुए भी तनिक दूध तक पीनें से इन्कार किया था। अनशन के बाद कुछ दिनों तक बड़ी सावधानी से रहना चाहिए; क्योंकि मेदा नरम होता है। किन्तु उस वक्त पेट में तो राक्षस-सा समा जाता है। कौन डॉक्टर की सुनता है। जो कुछ सामने आया—हप! इसके फलस्वरूप भयंकर पेचिश तथा अन्य पेट-सम्बन्धी रोगों का सामना होता है। यदि ये रोग स्थायी हो जायँ तो क्या ताज्जुब? एक अनशनी के बारे में तो यह देखा कि उन्होंने वर्षों से मांस-भोजन तरक कर रखा था; किन्तु २१ दिन के कठिन उपवास करते समय उनके मन में और चीज़ों के साथ-साथ माँस-भोजन की भी प्रबल इच्छा हुई। अब अनशन खुदा-खुदा करके खतम हुआ, तो माँस के लिए वे कोशिश करते रहें। मास न मिला तो वे अपने स्वभाव के विरुद्ध अपने हाथ से कबूतर मारने को फिरने लगे।

मेरा यह सुचिन्तित मत है कि खाने-पीने में इन्द्रिय-सम्बन्धी सभी बातों में एक ओर तो अतिसंयम तथा अनशन के दक्षिणमार्ग तथा दूसरी ओर सम्पूर्ण इन्द्रियानुगमन के वाममार्ग का परित्याग करना चाहिए। रहन-सहन के स्टैंडर्ड को बढ़ाने में गौरव समझना चाहिए, न कि घटाने में। अवश्य आदर्श तो यह है कि रहन-सहन की सार्वजनिक उन्नति हो, न कि केवल वैयक्तिक। यौन आदि मामलों में विपरीतता (Perversity) के प्रचार के लिए अति दक्षिणमार्गी उतने ही ज़िम्मेदार हैं, जितने कि अति वाममार्गी। सच बात तो यह है कि समाज में हम जिन्हें वाममार्गी करके जानते हैं, वे अक्सर असफल या पतित दक्षिणमार्गी हैं। हमें त्याग की झूठी धारणाओं को छोड़कर सच्चे त्याग की ओर प्रवृत्त होना चाहिए। वह त्याग, जो कि एक सही दिमाग़ तथा स्वस्थ जाति के एक सही दिमाग़ तथा स्वस्थ सदस्य के उपयुक्त है।

३४

विकासवाद और धर्म

विज्ञान-जगत् के क्षितिज में आइनस्टाइन-रूपी मार्तंड के अभ्युदय के पहले एक-मात्र डार्विन का ही बोल-बाला था। विज्ञान की जिस शाखा में देखिए डार्विनवाद या विकासवाद का अखंड साम्राज्य था, दर्शन की पुस्तकों में इसी की तूती बोलती थी। इसके सामने किसी वाद की नहीं चलती थी। यों तो वैज्ञानिक बहुत हुए हैं, किन्तु, डार्विन ने जिस मत का वैज्ञानिक प्रतिपादन किया है, वह अत्यन्त युगान्तरकारी तथा क्रांतिकारी था। वैज्ञानिक प्रतिपादन शब्द का इसलिए प्रयोग किया गया कि डार्विन के पहले गेटे तथा लामार्क ने इस सिद्धान्त का ख़ाका-सा खींच दिया था, गेटे तथा लामार्क को इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक तरह का विश्वास-सा था कि यह सिद्धान्त सत्य है। डार्विन ने दीर्घकालीन प्रयोग, भ्रमण तथा गवेषणा के बाद जिस रहस्य का उद्घाटन किया, उससे उस युग के वैज्ञानिकों के सम्मुख जो गुत्थियाँ थीं सब सुलझ जाती थीं, सब बातें एक नई रोशनी में नज़र आती थीं, इसलिए उसका इतना महत्त्व है। विकासवाद को केवल जीव-विज्ञान का एक सिद्धान्त कहना भूल होगी, यह हमारे भूतकाल पर रोशनी डालता है, वर्तमान को स्पष्ट करता है, तथा हमें बताता है कि भविष्य में 'हम किस ओर' यात्रा कर रहे हैं।

केवल उन्नीसवीं सदी के वैज्ञानिकों में ही नहीं, सर्वकाल के वैज्ञानिकों में डार्विन का स्थान प्रमुख है। यदि आइनस्टाइन पैदा नहीं होते, तो डार्विन को ही कदाचित् जगत् का सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक माना जाता। चार्ल्स डार्विन पर सैकड़ों पुस्तकें तथा पुस्तिकाएँ लिखी जा चुकी हैं जीव-विज्ञान से आरम्भ करके डार्विन के विकास-वाद ने सर्वत्र अपना जादू फैला दिया है। एक ज़माने में लोगों ने इसके विरुद्ध बड़ी क़यामत बरपा की थी। बहुत-से लोग तो विकासवाद के प्रतिपादन को सुन-कर पाजामे से बाहर हो गए थे, उन्होंने कहा—"क्या? मनुष्य दूसरे इतर प्राणियों की परिणति-मात्र है? छि:! यह कभी नहीं हो सकता।" बात यह है कि इस सिद्धान्त से धर्मवादियों के सृष्टि-तत्त्व पर हड़ताल-सी फिरी जा रही थी,

उन्होंने इसलिए हर बुरे-भले तरीक़े से विरोध किया, खूब कोशिशें कीं कि विकासवाद के पाँव उखड़ जायँ, किन्तु कुछ नहीं। डार्विन ने बड़ी मज़बूती से इसकी नींव डाली थी, इसलिए इसका बाल बाँका न हो सका। नवीन-नवीन खोजों से तथा प्रयोगों से इस सिद्धांत की और भी परिपुष्टि हुई।

अब स्थिति यह है कि कोई भी व्यक्ति, जिसकी बुद्धि अन्ध-परम्परा से कुण्ठित नहीं हो गई है तथा जिसके दिमाग़ को धर्मरूपी लकवे ने एकदम बेकार नहीं कर दिया है, वह मानने के लिए बाध्य है कि विश्व में जो कुछ भी हो रहा है वह एकदम नहीं हो रहा है, बल्कि वह युग-युगान्तर की अनवरत परिणति का ही परिणाम है।

डार्विन के जीवन-काल ही में फ़िट्ज़ मूलर तथा हेकल ने उनके सिद्धान्त का पाया और भी मज़बूत कर दिया था। हेकल स्वयं एक बड़ा मशहूर तथा भारी-भरकम वैज्ञानिक हुआ है। उसकी Weltkratsel (विश्व की पहेली) एक ऐसी पुस्तक है जिसका सभी सभ्य भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और जिसको सभी जानते हैं, किन्तु उनके वैज्ञानिक अनुसंधानों के विषय में लोग बहुत कम जानते हैं। हेकल ने अपनी Natur und mensch (प्रकृति एवं मानव) नामक पुस्तक में डार्विनवाद पर जो लिखा है उसी का कुछ उद्धरण यहाँ देंगे। यों तो यह सारी पुस्तक ही डार्विनवाद का भाष्य है, किन्तु हम केवल उनकी कुछ ही उक्तियों को यहाँ उद्धृत कर सकते हैं। हेकल लिखते हैं—

"अँगरेज़ प्रकृतितत्त्ववेत्ता चार्ल्स डार्विन ने १८६९ में Origin of species-नामक ग्रन्थ की रचना करके जिस बौद्धिक आन्दोलन को जन्म दिया, वह थोड़े ही समय में गहराई तथा विस्तार में बहुत फैल गया। है तो यह प्राकृतिक विज्ञान का एक साध्य, किन्तु विश्व के क्रम-विकास में जाकर यह ख़त्म होता है। × × × डार्विन के ज़रिये से जिस सिद्धान्त का आविष्कार हुआ, और जो जाकर प्राकृतिक विज्ञान का सबसे प्रमुख सिद्धान्त हो गया, उसको लोग विभिन्न नामों से अभिहित करते हैं। साधारण तरीक़े पर तो इसे वंशावरोह-सिद्धान्त (Deszendenztheorie) कहते हैं, किन्तु इसे क्रम-परिवर्तन सिद्धान्त (Transmutationtheorie oder auch Kurz transformismus) भी कहते हैं। दोनों संज्ञाएँ ठीक हैं, क्योंकि इस सिद्धान्त में यह प्रतिपादन किया जाता है कि सभी प्राणी तथा वनस्पति की जातियाँ (जो कि अब जीवित हैं या कभी थीं) एक ही अथवा कुछ अजटिल क़िस्मों से उद्भूत हैं, और वे उससे अथवा उनसे उद्भूत होकर वर्तमान अवस्था को प्राप्त हुई हैं। यद्यपि इस सिद्धान्त की ओर उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ के कुछ

प्रकृतितत्त्ववेत्ताओं ने इशारा कर दिया था, किन्तु यह डार्विन का ही काम था कि उन्होंने इस सिद्धान्त को जड़ तक जाकर पूर्णता के साथ प्रमाणित किया। यही कारण है कि यह सिद्धान्त डार्विन का सिद्धान्त कहलाता है, यद्यपि यह बात कहना कि यह सिद्धान्त डार्विन का ही सिद्धान्त है, कुछ हद तक सत्य का अपलाप करना है।"

यह तो हुई हेकल की बात। हेकल के इस मन्तव्य के बाद एक युग व्यतीत हो चुका, फिर भी सिद्धान्त अब तक सर्वमान्य बना हुआ है, तथा बहुत-सी बातों की एक-मात्र व्याख्या, सुलझन तथा हल है, और जितने ही दिन बीतते जाते हैं उतने ही उसके सपक्ष में अधिकतर मसाले इकट्ठे हो रहे हैं। इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक लेखक जे० वि०एस० हालडेन की सन् १९३४ ई० की राय दी जा रही है। वे अपने Facts and faith नामक ग्रंथ में कहते हैं "जीव विज्ञानवेत्तागण इस विषय पर सर्वेव एकमत हैं कि क्रम-विकास हुआ है, अर्थात् इस समय जो वस्तुएँ जीवित हैं वे ऐसे पूर्वपुरुषों से उद्भूत हुई हैं, जिनसे उनकी बड़ी विषमता है। केवल कुछ हो व्यक्ति जिनमें कि एक जेसुइट कीटतत्त्ववेत्ता (Entomolo gist) हैं, इस सिद्धान्त के विस्तार को घटा देना चाहते हैं, किन्तु जहाँ तक मुझे पता है, कोई इसे अस्वीकार नहीं करता।"

अन्यत्र वे ही विद्वान् लिखते हैं—"डार्विन के सिद्धान्त के आविष्कार के बाद जो ६० या अधिक साल व्यतीत हो गए हैं, उस समय के अन्दर कोई भी तथ्य ऐसा आविष्कृत नहीं हुआ जो अनिवार्य रूप से विकासवाद के साथ असंगत हो। × × विकासवाद की व्याख्या के क्षेत्र में डार्विन के विचार अब तक प्रवल हैं तथा बाद की खोजों से उनमें बहुत कम परिवर्तन हुए, यद्यपि डार्विन के समसामयिक पदार्थविद्याविशारद तथा रासायनिकों के मतों में बहुत कुछ सुधार करना पड़ा है।"

ऊपर दी हुई बातों से वैज्ञानिक-जगत् में डार्विन का स्थान बहुत स्पष्ट है। वर्तमान लेख म हम डार्विन के धर्म-सम्बन्धी मत का दिग्दर्शन करायँगे, किन्तु ऐसा करने के पहले हम डार्विन के जीवन की कुछ मोटी-मोटी बातों पर रोशनी डालेंगे। किसी मनुष्य के मतवाद को उसकी गहराई तक समझने के लिए यह परमावश्यक है कि हम उसको जानें, बल्कि सम्यक् बोध के लिए यह भी आवश्यक है कि वह जिस देश तथा काल में उत्पन्न हुआ है उसको भी हृदयंगम करें। डार्विन को समझने के लिए भी हम विकासवाद की सहायता लेंगे, और देखेंगे कि उसका परिणाम क्या होता है।

सन् १८०९ की १२ फ़रवरी को श्रुसबीर नामक स्थान में डार्विन का

जन्म हुआ। डार्विन की उम्र जब आठ ही साल की थी, तभी से वे मातृस्नेह से चिरकाल के लिए वंचित हो गए। यह बात इतनी कम उम्र में हुई कि उनको अपनी माता की मृत्यु-शय्या, उनके काले मखमल का गौन तथा उनके काम करने की मेज़ के अतिरिक्त कोई बात याद नहीं आती थी। डार्विन उन लड़कों में नहीं थे, जिनको कुशाग्र बुद्धि कहते हैं। वे अपनी छोटी बहन कैथराइन की तुलना में बुद्धू समझे जाते थे। साथ ही वे कुछ नटखट भी थे। लड़कपन से ही डार्विन का झुकाव प्राकृतिक इतिहास की ओर था, और सब तरह के पौधे, सिक्के, खनिज द्रव्य, मुहर तथा घुँघची आदि के संग्रह करने का तो उन्हें एक मर्ज़ सा था। यह नमूना इकट्ठा करने की प्रवृत्ति उनमें विशेष प्रबल थी, ध्यान देने की बात यह है कि उनके भाई तथा बहनों में यह प्रवृत्ति किसी में नहीं थी।

डार्विन ने अपने जीवन के कुछ संस्मरण लिखे हैं, उनमें वे एक जगह पर लिखते हैं, "अपने विषय में मैं इतना कह सकता हूँ कि मैं लड़कपन में दयालु स्वभाव का था, किन्तु यह गुण मुझमें सम्पूर्ण रूप से बहनों की देखादेखी तथा उदाहरण से आया था। मुझे सचमुच सन्देह है कि मानविकता (दया) एक स्वभावज गुण है कि नहीं। मुझमें उन दिनों अंडे संग्रह करने की प्रवृत्ति थी, किन्तु मैं कभी भी एक चिड़िया के घोंसले से एक से अधिक अंडा नहीं लेता था। केवल एक ही बार मैंने इस नियम का उल्लंघन करके सब अंडे ले लिए, मैंने जो ऐसा किया वह इसलिए नहीं कि उनमें कोई ऐसी बात थी, बल्कि मैं ताव म आ गया।"

बचपन में डार्विन ने एक पिल्ले को पीटा था, उसके विषय में वे लिखते हैं, मैंने एक बार एक पिल्ले को पीटकर बड़ा ही निष्ठुर कृत्य किया। मैंने बहुत तो नहीं मारा, क्योंकि पिल्ला चिल्लाया नहीं, किन्तु थी यह निष्ठुरता। इसमें सन्देह की गुञ्जाइश नहीं, क्योंकि अब भी इतने सालों के बाद मुझे वह जगह याद है जहाँ मैंने उस अभागे पिल्ले को पीटा था। मैंने ऐसा क्यों किया था, इस विषय पर जब इस समय सोचता हूँ तो यही खयाल होता है कि अपनी प्रभुता का अनुभव करने के लिए ही मैंने ऐसा किया था। यह कृत्य मेरे विवेक पर एक भारी पत्थर सा बना रहा, विशेष शायद इसलिए कि मैं कुत्तों का बड़ा शौकीन था। कुत्ते भी मालूम होता है मेरे इस प्रम को पहचानते थे, क्योंकि ऐसा बहुत दफा हुआ कि कुत्ता अपने मालिक से मुझे अधिक प्रेम करने लग गया, एक तरह से मैंने उनका प्रेम चुरा लिया।"

अन्य प्रसंग पर वे लिखते हैं, "मेरे पिता तथा तथा बड़ी बहन से मुझे

मालूम हुआ कि कम उम्र से ही मुझमें एकान्त में टहलनें की प्रवृत्ति थी, किन्तु ऐसे मौकों पर में क्या सोचा करता था, मुझे स्मरण नहीं।" एक दफे तो यहाँ तक नौबत पहुँच गई कि अन्यमनस्कता की हालत में वे एक स्थान से नीचे गिर पड़े, खैरियत यह थी कि यह जगह सात आठ ही फ़ुट ऊँची थी। यह कहीं नहीं लिखा है कि इस महापतन का परिणाम डार्विन पर क्या हुआ, किन्तु यदि अनुमान करना जायज़ है तो हो सकता है कि उन्होंने इस बात से केवल कल्पना की उड़ान भरने की तथा सूक्ष्म चिन्तन (Abstract thinking) की व्यर्थता देख ली हो, और तथ्यों तथा ठोस प्रयोगों की ओर झुके हों।

डार्विन को शैशव में शिक्षा कुछ ढंग से नहीं दी गई। न डार्विन के पिता को न उनके शिक्षकों को यह धारणा थी कि डार्विन बाद को जाकर विज्ञान में अद्वितीय होगा। होनहार लड़कों में उनकी गणना न थी। केवल यही बात नहीं, कुछ-कुछ अंश में वे औरों से निकम्मे समझे जाते थे। बचत की कोई बात थी तो यह कि बालक डार्विन को कई अच्छे शौक थे। वे जिस बात में दिलचस्पी लेते थे उसके पीछे हाथ धोकर पड़ जाते थे और जटिलताओं को सुलझाने के लिए बावले से हो जाते थे। ज्यामिति के प्रमाणों से उन्हें अपार सन्तोष होता था। कम उम्र से ही डार्विन को कविताएँ पढ़ने की, विशेषकर शेक्सपियर के ऐतिहासिक नाटकों में बड़ी रुचि थी, किन्तु बाद के जीवन में कविता के प्रति उनका अनुराग सर्वथा शिथिल हो गया था। बाद को और तो और शेक्सपियर भी उनके निकट अरुचिकर हो गए थे।

विद्यार्थी-जीवन में ही डार्विन ने एक पुस्तक पढ़ी थी Wonders of the world। इस पुस्तक में भ्रमण-कहानी के रूप में अजीब-अजीब गपोड़े थे। डार्विन का मन तभी से विश्व भ्रमण के लिए ललचा रहा था, उनकी यह भ्रमणाकांक्षा बाद को Beagle नामक जहाज पर भ्रमण करने से कार्यरूप में परिणत हो सकी। गोली चलाने का तथा शिकार खेलने का भी चस्का उनको लड़कपन में ही पड़ गया था। स्कूल के बहुत से लड़कों के साथ विद्यार्थी डार्विन का घनिष्ठ सम्बन्ध था। उनके सम्बन्ध में नाद को "I loved dearly" उन्होंने लिखा अर्थात् "मैं उन्हें बहुत प्यार करता था।"

डार्विन बाद को स्कूल से उठाकर एडिनबरा-विश्वविद्यालय में भेजे गए। वहाँ उन्होंने किसी विषय में अधिक दिलचस्पी नहीं ली। हाँ, रसायन-विज्ञान पर जो वक्तृताएँ होती थीं, वे उन्हें पसन्द थीं। इस बात को स्मरण करते हुए बाद को उन्होंने लिखा था—"मेरी राय में कालेजों में लेक्चर सुनने की अपेक्षा घर पर पुस्तक पढ़ने में कहीं अधिक लाभ है और हानि कुछ भी नहीं।" वे

करते भी ऐसा ही थे अर्थात् वे तथा उनके भाई इरास्मस अपने समय के छात्रों से कालेज के पुस्तकालय का कहीं अधिक उपयोग करते थे।"

ग्रेंट-नामक एक छात्र ने उनके निकट लामार्क के विकासवाद-सम्बन्धी सिद्धान्त की एक बार बड़ी प्रशंसा की। वे मौन आश्चर्य से सुनते रहे, किन्तु उनके मन पर उसका कोई विशेष परिणाम नहीं हुआ। उन्होंने अपने दादा द्वारा लिखित Zoonomia नामक पुस्तक में इस मत का यत्र-तत्र इशारा पाया था, किन्तु उनके मन पर उसका भी कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था। अस्तु।

दो सेशन तक एडिनबरा में जब वे रह चुके, तो उनके विषय में उनके पिता को मालूम हुआ कि लड़के का इरादा डॉक्टरी करने का नहीं है, इसलिए उन्होंने प्रस्ताव किया कि डार्विन पादरी बने। इस विषय का सौभाग्य से अपने अत्यन्त संक्षिप्त संस्मरण में डार्विन ने उल्लेख किया है। वे इस सिलसिले में लिखते हैं, "मैंने मेरे पिता के इस प्रस्ताव पर एकाएक राय देने से इन्कार कर दिया, मैंने कुछ समय माँगा, क्योंकि जो कुछ थोड़ा बहुत भी मैंने इस विषय पर सोचा था उससे मुझे सन्देह था कि शायद मैं 'चर्च आफ़ इंगलैंड' के समस्त विश्वासों से सहमत न हो सकूँ। मेरा जो कुछ भी उज्र इस सम्बन्ध में था वह केवल इस दृष्टिकोण से था, नहीं तो किसी एक गाँव में या क़स्बे में पादरी की हैसियत से जमने में मुझे खुशी ही होती। इसलिए मैंने बड़े ध्यान से Pearson on the Creed नामक पुस्तक का अध्ययन किया, तथा इधर-उधर और भी कुछ पुस्तकें पढ़ीं। उस ज़माने में मुझे बाइबिल के किसी भी शब्द की सत्यता के सम्बन्ध में ज़रा भी सन्देह नहीं था। फिर क्या था, मुझे सहज ही में यह विश्वास हो गया कि हमारा धर्ममत पूरे तरीके से हमें मान्य यदि नहीं है तो होना चाहिए।"

इसी डार्विन ने बाद को जाकर विकासवाद सिद्धांत को स्थापित किया, जो कि बाइबिल के पहले ही अध्याय के विरुद्ध पड़ता है। यह परम आश्चर्य की बात है कि विकासवाद के प्रवर्तक यही चार्ल्स डार्विन एक दिन पादरी बन कर धर्म का स्तम्भ बनने को प्रस्तुत हो गए थे, और हो भी चुके होते, यदि 'बीगल' नामक जहाज़ पर नैचुरलिस्ट का पद स्वीकार कर वे विश्व-भ्रमण करने न निकलते, और इस प्रकार यह पादरी बनने वाला प्रस्ताव स्वाभाविक तरीके से अपनी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। बाद के नतीजों को देखकर यही कहना पड़ता है कि यह विज्ञान-जगत् के लिए तथा ज्ञान-बुभुक्षित मानव जाति के लिए बड़े दुर्भाग्य की बात होती, यदि डार्विन प्रकृति के रहस्यों का उद्-

घाटन करने में अपनी समस्त मूल्यवान् शक्ति तथा समय नियोजित करने के बजाय युग-युगान्तर की रूढ़ि तथा कुसंस्कारों का पृष्ठपोषण करने में ही अपना समस्त जीवन गँवा देते।

कुछ व्यक्तियों को यह धुन है कि वे खोपड़ियों की आकृति का निरन्तर अध्ययन किया करते हैं, उनका कथन है इससे चरित्र का पता लग सकता है। अंग्रेज़ी में ऐसी सनक वालों को Phrenologist कहते हैं। इस विद्या के अनुसार डार्विन का चरित्र कैसा ठहरता है, यह भी राह चलते हम डार्विन के मुँह से ही सुन लें। वे लिखते हैं, "कुछ साल पहले जर्मनी की मनोवैज्ञानिक संस्था के मंत्रियों ने बड़ी आजिज़ी से मेरा एक फ़ोटो माँगा। क्या करता, मैंने भेज दिया। इसके कुछ समय बाद समिति के एक अधिवेशन का पूर्ण विवरण मुझे प्राप्त हुआ। उस विवरण को पढ़ने से मुझे मालूम हुआ कि मेरी अभागी खोपड़ी पर सार्वजनिक रूप से ऊल-जलूल बहस-मुबाहिसा हुआ था, और एक वक्ता ने ताव में आकर यहाँ तक कह डाला था कि मेरी आकृति बता रही थी कि मुझ में दस पादरियों से कहीं अधिक श्रद्धा है।"

एडिनबरा त्यागने के बाद डार्विन कोई तीन साल तक कैम्ब्रिज में रहे। यहाँ भी वे कुछ विशेष चमके नहीं। 'बीगल' नामक जहाज़ यात्रा पर जा रहा था, उसमें एक नैचुरलिस्ट की आवश्यकता थी। डार्विन के एक मित्र ने यह पद डार्विन को दिलाना चाहा। डार्विन ने पहले तो इनकार कर दिया, किन्तु बाद को पद स्वीकार कर लिया। 'बीगल' पर की यात्रा कदाचित् डार्विन के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। 'बीगल' ने ही डार्विन को डार्विन बनाया। डार्विन दो सेशन तक एडिनबरा-विश्वविद्यालय में रहे, तीन साल तक केम्ब्रिज में रहे, फिर भी डार्विन ने बाद को जाकर अपने छात्र-जीवन पर एक विहंगम दृष्टि डालते हुए यह स्वीकार किया कि उनके मन की पहली वास्तविक शिक्षा तथा तालीम 'बीगल' पर ही हुई। उनको इस जहाज़ पर विविध वैज्ञानिक हैसियत से अकेला काम करना पड़ता था, इससे उनकी निरीक्षण-शक्ति अत्यन्त विलक्षण हो गई, जो पहले ही से बड़ी अच्छी थी।

'बीगल' ने बड़े दूर-दूर के देशों में टक्कर मारी। २७ सितम्बर सन् १८३१ से लेकर अक्तूबर १८३६ तक 'बीगल' भ्रमण करता रहा। इस भ्रमण में डार्विन ने जो निरीक्षण किये, जो नकशे खींचे, जो नमूने प्राप्त किये, वे ही उनको वैज्ञानिक जगत् में स्थायी तथा प्रमुख स्थान पर अधिष्टित करने के लिए यथेष्ट थे, किन्तु डार्विन इतने ही से भला संतुष्ट क्यों होते ? उन्होंने अपने प्रयोगों तथा गवेषणाओं के ताँते को जारी रखा।

२६ जनवरी सन् १८३९ में डार्विन ने विवाह किया। उनका विवाहित जीवन सुखी था, कम-से-कम उनके लड़के तथा लड़कियों की शहादत के अनुसार बात ऐसी ही है।

डार्विन के बाद का जीवन एक निरन्तर वैज्ञानिक तपस्या तथा साधना का जीवन था। मरते दम तक वे अपने स्थान पर डटे रहे। वे स्वयं एक जगह लिखते हैं कि उनकी पुस्तकों की अनुकूल समालोचना से तथा उनकी खपत से उनको खुशी अवश्य होती थी, किन्तु वह खुशी सामयिक होती थी।

विशेषज्ञों के समर्थन तथा अनुमोदन से ही उन्हें यथार्थ खुशी होती थी। उन्होंने लिखा भी है कि वे जन-साधारण की निन्दा-प्रशंसा के प्रति उदासीनता का रुख रखते थे, तथा प्रशंसित होने के लिए अपमी प्रतिपाद्य वस्तु से बाल भर भी नहीं हटते थे।

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे डार्विन का स्थान स्पष्ट हो गया। ऐसे वैज्ञानिक का धर्म-सम्बन्धी मत अवश्य ही महत्त्वपूर्ण होगा, किन्तु इसके पहले कि उनके धर्ममत को उद्धृत करूँ, मैं आइनस्टाइन की एक प्रासंगिक उक्ति उद्धृत करना चाहता हूँ। आइनस्टाइन कहते हैं—

You must distinguish between what is a literary fashion and what is a scientific pronouncement. These men are genuine scientists and thier literary formula tions must not be taken as expressions of thier scientific convictions.

अर्थात् "एक वैज्ञानिक ने साहित्यिक ताव में आकर क्या कहा, तथा उसका विशुद्ध वैज्ञानिक मत क्या है, इसमें प्रभेद किया जाना चाहिए। इसमें तो सन्देह नहीं कि ये लोग खरे वैज्ञानिक हैं, किन्तु उनकी साहित्यिक उड़ानों को गलती से वैज्ञानिक उपायों से पहुँचे हुए साध्यों के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए।"

आइनस्टाइन ने यह जीनस तथा एडिंटन आदि अध्यात्मवादी वैज्ञानिकों के सिलसिले में कहा है, फिर भी ये बातें डार्विन के धर्ममत के सम्बन्ध में लागू हैं। डार्विन स्वयं भी स्वीकार करते हैं कि धर्म के सम्बन्ध में उन्होंने ढंग से अध्ययन नहीं किया, फिर भी डार्विन के धर्ममत में एक विशेषता है जो जीनस तथा एडिंटन के मत में नहीं है। अपने धर्ममत का स्पष्टीकरण करते हुए डार्विन वहीं तक जाते हैं, जहाँ तक उनकी वैज्ञानिक बुद्धि उन्हें ले जाती है। यदि कहीं वे उससे आगे निकल जाते हैं तो वे उसे वहीं साफ़ कह देते हैं।

डार्विन के धर्ममत को मनन करते समय पाठक यह बात स्मरण रखें कि उनके बाद विज्ञान बहुत आगे बढ़ गया है और उसके आविष्कारों से उत्तरोत्तर अनात्मवाद की पुष्टि हुई है, यह केवल मेरा मत नहीं, यह सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक लेखक जे० बी० एस० हालडेन का मत है।

पहले ही कहा जा चुका है कि डार्विन ने धर्म का विशेष अध्ययन नहीं किया था, इसलिए वे धर्म पर कोई मत देने में हिचकते थे। फिर बहुत से लोग उनके धर्ममत को जानने के लिए व्याकुल रहते थे। डार्विन ने सन् १८५६ में अपनी युगप्रवर्तक पुस्तक Origin of Species लिखी। इसके २० साल बाद वे ७० वर्ष की उम्र में J. Fordyce नामक एक सज्जन को लिखते हैं—"धर्म के सम्बन्ध में मेरे मत क्या हैं, यह मेरे अतिरिक्त और किसी से वास्ता नहीं रखता, किंतु चूँकि आप प्रश्न करते हैं इसलिए मेरा वक्तव्य यह है कि इस सम्बन्ध में मेरे विचार अव्यवस्थित हैं, तथा उनमें उतार-चढ़ाव की चरम अवस्था में भी मैं कभी इस अर्थ में नास्तिक नहीं रहा कि ईश्वर का अस्तित्व ही अस्वीकार कर दिया हो। मैं समझता हूँ कि ज्यों-ज्यों मैं बूढ़ा होता जाता हूँ, त्यों-त्यों मैं अपनी अवस्था को अज्ञेयवाद शब्द से अधिक सचाई से व्यक्त कर सकता हूँ।

१८७६ में तो वे ऐसा लिखते हैं, मालूम होता है वे बहस में पड़ना नहीं चाहते थे, इसलिए उन्होंने इस प्रकार प्रश्न से जी चुराकर पीछा छुड़ा लिया। इसीलिए थोड़े-से शब्दों में अपने मत का सार दे दिया। सन् १८७३ ई० की २ अप्रैल को उन्होंने एक डच छात्र को एक दीर्घ पत्र लिखा, उसमें उन्होंनें अपने धर्ममत पर अधिक रोशनी डाली है। हम नीचे पत्र का अनुवाद उद्धृत करते हैं—

"मैं ज़रा विस्तार के साथ अपने मत का प्रतिपादन करूँगा, तुम्हारे पत्र का संक्षिप्त उत्तर देना असम्भव है× × × × × ×। मेरी समझ में ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में सबसे विशाल तर्क यह है कि इस विशाल तथा विचित्र विश्व की उत्पत्ति दैवात् हुई यह बात मानने को जी नहीं चाहता, किन्तु इस तर्क में कितना वास्तविक तत्त्व है यह मैं कभी तय नहीं कर पाया। मैं यह मानने के लिए विवश हूँ कि यदि एक प्राथमिक कारण स्वीकार कर लिया जाय, तो फिर यह जिज्ञासा फिर भी रह जायगी कि यह प्राथमिक कारण कहाँ से आया, और क्योंकर आया। दूसरी ओर मैं जब देखता हूँ कि दुनिया में कष्ट तथा दुःख बहुत हैं तो मैं किसी निर्णय पर पहुँच नहीं पाता। बहुत-से महान् व्यक्ति ईश्वर में विश्वास रखते थे यह बात ऐसी है जिसके महत्त्व को मैं खूब

समझता हूँ, किन्तु यहाँ भी गम्भीर विचार करने पर मालूम होने लगता है कि यह तर्क बहुत कुछ छिछोरा है। मैं समझता हूँ कि इन सब पर विचार करने के अनन्तर सबसे निर्विघ्न उपसंहार जिस पर कि मनुष्य पहुँच सकता है वह यह होगा कि इस सारे विषय को ही हम बुद्धि के परे मान लें, किन्तु फिर भी मनुष्य अपना कर्तव्य कर सकता है।"

१८७६ में एक जर्मन छात्र के पत्र का डार्विन की ओर से इन शब्दों में उत्तर दिया गया था—"मिस्टर डार्विन आपको यह लिखने को कहते हैं कि उनको इतने पत्र मिलते हैं कि उनके लिए सभी पत्रों के उत्तर देना सम्भव नहीं। वे समझते हैं कि विकासवाद तथा ईश्वरवाद में कोई अनिवार्य विरोध नहीं है, किन्तु आपको यह भी ख़याल रखना चाहिए कि विभिन्न व्यक्ति ईश्वर शब्द से बिभिन्न वस्तु का ग्रहण करते हैं।"

हम यहाँ पर इतना कह देना उचित समझते हैं कि विकासवाद तथा ईश्वरवाद में अनिवार्य विरोध भले ही न हो, (हम इसका ठेका नहीं लेते) किन्तु प्रचलित धर्मों की साक्षात् ईश्वर से उतरी हुई पुस्तकों का अर्थात् उनके सृष्टि तत्त्व के साथ विकासवाद का अनिवार्य विरोध अवश्य है। इसका क्या अर्थ होता है पाठक स्वयं समझ सकते है।

डार्विन की ओर से जो नन्हा-सा पत्र लिखा गया, उससे उस जर्मन छात्र को संतोष नहीं हुआ, तब बूढ़े डार्विन को स्वयं क़लम पकड़नी पड़ी। उन्होंने लिखा, "मैं बूढ़ा हूँ, काम बहुत रहता है, समय बहुत कम रहता है, इसलिए तुम्हारे पत्रों का विस्तृत उत्तर देना मेरे लिए सम्भव नहीं। सच बात तो यह है कि उनका उत्तर दिया ही नहीं जा सकता। विज्ञान के साथ हज़रत ईसामसीह का कोई सम्बन्ध नहीं है। विज्ञान की पद्धति में मँजा हुआ व्यक्ति एकाएक किसी बात का विश्वास नहीं करता, वह सावधान हो जाता है। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैं नहीं समझता कि किसी को दैवी आदेश (Revelation) हुआ या किसी पर बदी नाज़िल हुई। रही भविष्य जीवन की बात, सो इस सम्बन्ध में मनुष्य को चाहिए कि वह परस्पर विरोधी अस्पष्ट सम्भावनाओं में से सत्य क्या है यह अपने लिए ढूँढ ले।"

अन्तिम वाक्य में डार्विन ने स्थिति को और भी अस्पष्ट कर दिया। इन सब बातों से बराबर मालूम होता है कि डार्विन ने अपने लिए तो सत्य को ढूँढ लिया है, किन्तु किसी कारण से वे इन सब बातों को स्पष्टतः कहने के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते थे।

डार्विन ने स्वयं ही अपने धर्ममतों का संक्षिप्त इतिहास लिखा है। केवल

उनके ज़बरदस्त व्यक्तित्व को देखते हुए ही नहीं तथा हमारे वर्तमान विषय की दृष्टि से ही नहीं बल्कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह इतिहास महत्त्वपूर्ण है। हम डार्विन के उस समस्त लेख को नीचे उद्धृत करते हैं। वे लिखते हैं—

"इन दो सालों (आक्टोबर १८३६ से जनवरी १८३९) में मैं धर्म के विषय में खूब विचार करता रहा। जिन दिनों में "बीगल" पर यात्रा कर रहा था, उन दिनों बहुत कट्टर था। मुझे स्मरण है कि जहाज के कुछ अफ़सरों ने स्वयं कट्टर होते हुए भी मेरा इसलिए मजाक़ उड़ाया था कि मैंने एक बार बाइबिल के कुछ अंश को अकाट्य नीति के रूप में उद्धृत किया था। मैं समझता हूँ मेरा तर्क उन्हें नवीन जंचा होगा, तभी तो वे हँसे होंगे। बाद को मैं समझ गया कि पुराने अहदनामे की बातें हिन्दुओं के धर्मशास्त्र से अधिक प्रामाणिक नहीं हैं। फिर वह प्रश्न बराबर मेरे मन में उठता रहा और आख़िर तक गया नहीं कि ईश्वर यदि हिन्दुओं में अपना दैवादेश प्रकट करते या भेजते तो क्या वे उसे विष्णु, शिव आदि के विश्वास के साथ संयुक्त करने की अनुमति देते? इस बात पर मैं विशेषकर इसलिए भी सोचता था कि ईसाई धर्म के साथ भी तो पुराना अहदनामा जैसी वस्तु संयुक्त है। मुझे ये बातें सम्पूर्ण रूप से अविश्वास्य मालूम देती थीं।

"अधिक मनन करने के बाद मुझे यह भी स्पष्ट भासित हुआ कि जो मुअज्ज़िजे (Miracles) ईसाई धर्म के स्तम्भस्वरूप हैं, उन पर कोई भी सही दिमाग़ आदमी विश्वास नहीं कर सकता, जब तक कि उनके पक्ष में स्पष्टतम प्रमाण प्राप्त न हो जायँ। हम इस नतीजे पर भी पहुँच गए कि जितना ही हम प्रकृति के निर्दिष्ट नियमों के बारे में ज्ञान संचय कर रहे हैं, उतना ही मुअज्ज़िजों में आस्थास्थापन करना हमारे लिए कठिन होता जा रहा है। मैं यह समझ गया कि उस युग में, जिस युग में कहा जाता है कि ये मुअज्ज़िजे संघटित हुए थे, लोग इतने अज्ञानी तथा सहज विश्वासी थे कि हमारे लिए उसकी कल्पना करना भी असम्भव है। इधर यह भी बात मेरी दृष्टि में आई कि जिन धर्म-पुस्तकों में इन मुअज्ज़िजों का वर्णन है उनके सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनकी रचना उसी युग में हुई थी, जब की बतलाई जाती है कि ये अद्भुत घटनाएँ हुई थीं। इन धर्म-पुस्तकों में मैंने देखा छोटी-छोटी बातों में ही नहीं, बल्कि महत्त्वपूर्ण बातों में भी बड़ा मतभेद तथा पाठान्तर है, वह प्रभेद इतना अधिक है कि उनको हम विभिन्न चश्मदीद गवाहों की स्वाभाविक विभिन्नता कहकर टाल नहीं सकते। मेरे मन में ये जो विचार लहरा रहे थे, इनमें कुछ नवीनता की पुट

थी, ऐसा मैं नहीं समझता, किन्तु जैसे-जैसे इन विचारों का मेरे मन पर प्रभाव पड़ने लगा, तैसे-तैसे ईसाई धर्म को ईश्वरी आदेश प्राप्त धर्म के रूप में देखने में मैं असमर्थ होने लगा। मेरे मन पर इस बात का भी कुछ कम असर नहीं हुआ, यह बात मैं अंदाज़ से नहीं लिख रहा हूँ, मुझे यह बात बहुत अच्छी तरह स्मरण है। मैं बड़ी व्यग्रता के साथ इस बात की प्रतीक्षा करता रहा कि पम्पियाई के सदृश किसी स्थान के खँडहरों में लब्धप्रतिष्ठ रोमनों के पत्र-व्यवहार के रूप में अथवा हाथ की लिखी हुई पोथियों के रूप में कुछ ऐसे प्रमाण प्राप्त होंगे जिससे ईसाई धर्मशास्त्रों में वर्णित घटनाओं का पूरा-पूरा समर्थन होगा। किन्तु जब मैंने इस बात पर जरा और गहराई से सोचा, तो मुझे मालूम हुआ कि कोई ऐसा प्रमाण हो ही नहीं सकता जिससे कि मैं इन बातों की सत्यता का कायल हो जाऊँ। इस प्रकार अश्रद्धा धीरे-धीरे मेरे विचार-जगत् में छाने लगी और अन्त तक मेरे मन में उसका अखण्ड साम्राज्य हो गया। यह प्रक्रिया इतनी शनैः-शनैः हुई कि इससे मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ। यद्यपि मैंने जीवन के बहुत परवर्ती समय तक वैयक्तिक ईश्वर के प्रश्न पर कुछ भी अधिक विचार नहीं किया, फिर भी मैं उन अस्पष्ट उपसंहारों को उपस्थित करता हूँ जिन तक पहुँचने के लिए मैं विवश हुआ हूँ। प्रकृति उद्देश्य युक्त (Design) है, पाले ने (Paley) यह जो तर्क उपस्थित किया था, और जो किसी ज़माने में अकाट्य समझा जाता था, अब प्राकृतिक निर्वाचन (Natural selection) के नियम के आविष्कार से बिलकुल लचर सिद्ध हो चुका है। अब हम इस प्रकार तर्क नहीं कर सकते कि Bivalve shells के Hinge को किसी बुद्धिमान् सत्ता ने बनाया हो, जैसे एक किवाड़े के Hinge को कोई आदमी बनाता है। इन्द्रिययुक्त वस्तुओं की परिवर्तन-शीलता में, अथवा प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया में उतना ही उद्देश्य (Design) या भविष्य बुद्धि है, जितना कि वायु के प्रवाह के पथ में है। मैंने इस विषय पर अपनी पुस्तक Variations of domesticated animals and plants के अन्तिम भाग में आलोचना की है, और जहाँ तक मुझे मालूम है किसी ने मेरे उस तर्क का उत्तर नहीं दिया है।"

डार्विन के लेख के इस हिस्से पर भाष्य करते हुए उनके सुयोग्य पुत्र सर फ्रांसिस डार्विल लिखते हैं, "मेरे पिता पूछते हैं कि पहाड़ों के टूटे हुए जिन जिन टुकड़ों को जोड़-तोड़कर मनुष्य अपने रहने से लिए मकान बनाता है, क्या उनके सबके स्वरूप तथा आकार पहले से निश्चित हैं? यदि नहीं, तो क्या हम विश्वास करें कि पालतू जानवरों तथा पौधों के परिवर्तन उनके उत्पादकों

(Breeders) के खातिर पहले से नियत हैं ?" यदि हम इस तर्क को एक भी क्षेत्र में छोड़ दें, तो इस विश्वास के लिए खाक भी कोई कारण नहीं दिया जा सकता कि प्रकृति में इसी प्रकार के परिवर्तन भविष्य बुद्धियुक्त हैं तथा विशेष प्रकार से परिचालित होते रहते हैं ?" Variation of Animals and Plants Vol. II p. 431. Ist Edition.

डार्विन उसी सिलसिले में और भी लिखते हैं, "चारों ओर जो असंख्य ऐसी चीजें देखने में आती हैं, जिनमें कि आबोहवा की अनुकूलता की वजह से बड़ी खूबी के परिवर्तन हुए हैं, यदि उनको हम छोड़ भी दें, तो यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि इस जगत् में की सब व्यवस्थाएँ अधिकतर अंशों में हितकारी हैं, इस बात की कैसे व्याख्या की जाय ? अवश्य कुछ लेखक ऐसे भी हैं जो जगत् में दुःखों के प्रभाव से इतने प्रभावित हैं कि वे समस्त अनुभूतशील प्राणियों के दुखों का लेखा देखते हुए यह देखने में असमर्थ हैं कि विश्व में दुःखों की अधिकता है या सुखों की,तथा सब बातों को देखते हुए जगत् अच्छा है या बुरा । मेरी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार सुख की ही निश्चयात्मक रूप से प्रधानता है, यद्यपि मुझे डर है कि इस बात को प्रमाणित करना टेढ़ी खीर है। यदि इस उपसंहार की उपसंहार सत्यता को स्वीकार कर लेते हैं, तो प्राकृतिक निर्वाचन से हम जिन फलों की प्रतीक्षा करते हैं, उनसे यह भली-भाँति मेल खा जाता है । यदि किसी प्राणी जाति (Species) के अधिकतर सदस्य सर्वदा दारुण दुःख या यंत्रणा में विराजमान रहते तो वे अवश्य ही अपनी वंश-वृद्धि की परवा नहीं करते, किन्तु ऐसा कोई कारण नहीं कि हम सोचें कि ऐसा कभी हुआ है, कम-से-कम अक्सर इसके विपरीत हुआ है इसमें तो कोई सन्देह नहीं । दूसरे और भी कुछ कारण हैं जिनसे हम इस विश्वास पर पहुँचते हैं कि सभी अनुभूतिशील प्राणी इस प्रकार से बने हैं ताकि वे साधारण तौर पर सुख का उपभोग कर सकें।

"प्रत्येक व्यक्ति जो मेरी तरह विश्वास करता है कि प्राणियों के शारीरिक तथा मानसिक यन्त्र (उनके अंगों के सिवा जो कि धारणकारी के लिए हितकर या अहितकर नहीं हैं) प्राकृतिक निर्वाचन तथा जीवन युद्ध में योग्यतम की विजय (Survival of the fittest) के अनुसार क्रम विकसित हुए हैं, मानेगा कि ये इन्द्रियवर्ग ऐसे बने हैं कि उनके धारणकारी दूसरे प्राणियों के साथ सफलतापूर्वक प्रतियोगिता कर सकें, एवं इस प्रकार अपनी जाति की वृद्धि कर सकें। एक प्राणी अपनी जाति के निमित्त सबसे हितकर कार्य-पद्धति विविध कारणों से अनुसरण करने के लिए बाध्य हो सकता है—

(१) दुःख के कारण, जैसे कष्ट, भूख, प्यास, भय के कारण ।

(२) सुख के कारण, जैसे खाने, पीने, बच्चे पैदा करने की प्रतिक्रिया से या

(३) दोनों के सम्मिश्रण से, जैसे खाने की खोज की क्रिया से।

"किन्तु यन्त्रणा या दुःख अधिक काल स्थायी हो तो उसके फलस्वरूप मनोभंग होता है, तथा प्राणी की कार्यकारिणी शक्ति घट जाती है, फिर भी दुःख में एक भलाई का माद्दा यह है कि प्राणी बड़ी तथा आकस्मिक विपत्तियों के विरुद्ध सावधान हो जाता है। दूसरी ओर सुखात्मक संवेदनाएँ चाहे जितनी देर स्थायी हों उनसे मनोभंग तो होगा ही नहीं, बल्कि प्राणी का समस्त शरीर-यन्त्र अधिकतर कार्य के लिए उत्तेजना प्राप्त करेगा। इसलिए ऐसा हुआ है कि अनुभूतिशील प्राणियों में अधिकतर प्राणी प्राकृतिक निर्वाचन के ज़रिये इस प्रकार क्रम विकसित हुए हैं कि सुखात्मक संवेदनाओं के द्वारा ही वे परिचालित हो रहे हैं, अर्थात् वे वही काम करते हैं जिसमें सुख मिले। हम इस बात को प्रयास से मिलने वाले आनन्दों में प्रत्यक्षीभूत देखते हैं। कभी-कभी तो आनन्द की प्राप्ति के लिए शरीर तथा मन का विपुल संचालन करना पड़ता है। दैनिक भोजन में, सामाजिकता में तथा परिवार के प्रेम में भी हम इस बात को देख सकते हैं। मुझे इसमें सन्देह नहीं कि इन आनन्दों का जोड़ (जो कि स्वाभाविक पुनराविर्भावशील हैं) बताया है कि अनुभूतिशील प्राणियों में सुख-दुःख से कहीं अधिक है, यद्यपि बहुत से व्यक्ति ऐसे होंगे जिनके हिस्से में दुःख अधिक आते हैं। यह यन्त्रणा या दुःख का अस्तित्व प्राकृतिक निर्वाचन के साथ असंगत नहीं है, क्योंकि प्राकृतिक निर्वाचन सम्पूर्ण रूप से सर्वथा क्रियाशील नहीं है, वह केवल एक प्राणी जाति को दूसरी प्राणी जाति के मुकाबिले में अत्यन्त जटिल तथा परिवर्तनशील अवस्था में यथासम्भव सफल बनाता है।

"जगत् में बहुत से दुःख हैं इस बात को कोई भी अस्वीकार नहीं करता। कुछ लोगों ने मनुष्य जाति में दुःख के प्रादुर्भाव की व्याख्या इस कल्पना के बल पर करने की चेष्टा की है कि यह उसके नैतिक उत्कर्ष के लिए है, किन्तु जगत् में के सब अनुभूतिशील प्राणियों के मुक़ाबिले में मनुष्यों की संख्या दाल में नमक के बराबर नहीं है। मनुष्येतर प्राणी जो कष्ट सहन करते हैं उसमें उनकी कोई नैतिक उन्नति नहीं होती, यह तो स्पष्ट ही है। एक ज्ञान-सम्पन्न प्राथमिक कारण के मुकाबिले में दुःखों के अस्तित्व वाला तर्क मेरी समझ में ज्यादा वज़नदार है, किन्तु जैसा कि अभी कहा गया कि दुःखों के अस्तित्व के साथ इस मत का पूर्ण सामंजस्य है कि सभी प्राणी परिवर्तन तथा प्राकृतिक निर्वाचन के ज़रिये क्रम विकसित हुए हैं।

"वर्तमान युग में बुद्धियुक्त ईश्वर के अस्तित्व के विषय में जो तर्क आम तौर पर जरा ज्यादा दिया जाता है वह यह है कि अधिकतर मनुष्यों को आन्तरिक रूप से इसका विश्वास है। किसी जमाने में मैं ऐसे विश्वास के सोते में बहा करता था (यद्यपि मैं समझता हूँ मुझमें धार्मिक भाव प्रबल रूप से विकसित नहीं थे) और मैं भी ईश्वर के अस्तित्व में तथा आत्मा के अविनश्वरत्व में विश्वास करता था। ब्रैज़िल के अरण्यों की विराटता के सामने अवाक् रहकर मैंने अपने रोज़नामचे में लिखा था, विस्मय, प्रशंसा तथा भक्ति के उदात्त भावों से हृदय जिस प्रकार गद्‌गद् हो जाता है उसका वर्णन करना सम्भव नहीं। मुझे खूब स्मरण है कि मुझमें यह विश्वास था कि मनुष्य अपने शरीर के अन्दर संचरणशील प्राण-यान वायु से परे कुछ है, किन्तु अब अत्यन्त महिमा-मंडित दृश्य भी मेरे मन में उन विश्वासों को तथा भावों को उत्पादन करने में समर्थ नहीं हो सकते। सत्यता के साथ एक तरह से यह कहा जा सकता है कि मैं वर्णांध हो गया हूँ। यह भी मैं समझता हूँ कि सारी दुनिया जहाँ लाल रंग देखती है वहाँ यदि मैं न देखूँ तो उसमें मेरा न देखने का प्रमाणरूप में कुछ मूल्य नहीं रह जाता। साथ ही यह भी बात है कि सभी जाति के सभी व्यक्तियों में अगर एक ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में एक ही-सी धारणा होती तभी यह तर्क सम्पूर्ण रूप से वैध माना जा सकता, किन्तु बात ऐसी नहीं है। इसलिए मैं नहीं समझता ऐसे आन्तरिक भावों तथा विश्वासों का प्रमाण रूप में कोई मूल्य है। वास्तविक बात क्या है उसका इन बातों से भला क्या दिग्दर्शन हो सकता है? उदात्त दृश्यों के निरीक्षण से हमारे मन में जो भाव लहराने लगते थे, और उस समय ईश्वर-विश्वास से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध थे, अपरिहार्य रूप से उस भाव से भिन्न थे जिनको हम उदात्त अनुभूति कहते हैं, (इस अनुभुति की वंशावली का पता लगाना चाहे जितना कठिन हो) ईश्वर के अस्तित्व के सपक्ष में यह तर्क मुश्किल से दिया जा सकता है। इस अनुभूति का मूल्य मुश्किल से उस प्रबल किन्तु अस्पष्ट अनुभूति के तुल्य है जो कि हमारे अन्दर संगीत से पैदा होता है।

"रही अमरत्व की बात, सो इसका लचरपन तो इसी से सिद्ध है कि पदार्थ विज्ञान के पंडितगण यह समझते हैं कि ग्रहों के साथ सूर्य इतना ठंडा हो जायगा कि वह जीवन के अनुपयुक्त हो जायगा, हाँ, यदि कोई और महान् ज्योतिष्क आकर सूर्य के साथ टकराये, और इस टक्कर के फलस्वरूप वह सूर्य के अन्तर्गत हो जाय और इस प्रकार उसे नवजीवन का घूँठ पिला दे तो और बात है। जो लोग मेरी तरह यह विश्वास करते हैं कि मनुष्य भविष्य में हम

समय से कहीं पूर्णतर प्राणी हो जायगा, उनके लिए यह विचार असह्य है कि मनुष्य तथा अन्य अनुभूतिशील प्राणी इस प्रकार मन्द तथा दीर्घ सिलसिलेवार उन्नति के बाद सम्पूर्ण विनाश को प्राप्त होगा। दूसरी ओर जो लोग कि सम्पूर्ण रूप से मानवीय आत्मा के अमरत्व में श्रद्धाशील हैं, उनकी दृष्टि में हमारे जगत् का विनाश होना कुछ भय की बात नहीं है।

"ईश्वर के अस्तित्व के विषय में एक और तर्क है। यह बुद्धि से सम्बन्ध रखता है अनुभूति से नहीं। इस तर्क में मुझे कुछ अधिक तत्त्व दिखाई देता है। बात यह है कि इस विशाल तथा विचित्र जगत् को (जिसके अन्तर्गत मनुष्य भी है) एक अन्ध आकस्मिक घटना अथवा आवश्यकता से उद्भूत कहकर धारणा करना मुश्किल है। जब मैं इस पहलू से इस प्रश्न पर विचार करता हूँ तो मुझे मनुष्य सदृश किसी बुद्धिमान् प्राथमिक कारण को तसलीम करना पड़ता है और उस अवस्था में कोई मुझे ईश्वरवादी कहे तो कुछ बेजा न होगा। जहाँ तक मुझे स्मरण है यह धारणा मेरे मन में उस युग तक प्रबल थी जब कि मैंने Origin of species लिखा।[1] तब से यह विश्वास बहुत-से परिवर्तनों के अन्दर गुज़रता हुआ शिथिल हो गया। किन्तु फिर यह सन्देह उठता है कि मनुष्य के मन को, जिसके सम्बन्ध मे मेरा यह विश्वास है कि वह निम्नतम कोटि के प्राणी सदृश मन से विकसित होकर बना है, कहाँ तक विश्वास करना चाहिए जब कि इतना बड़ा महत्त्वपूर्ण विषय उसके सामने विचारार्थ उपस्थित हो?

"ऐसी सूक्ष्म समस्या पर रोशनी डालना मेरे वश की बात नहीं है, न मैं उसका स्वाँग भर सकता हूँ। सभी वस्तुओं के आरम्भ के रहस्य के सम्बन्ध में हम अनभिज्ञ हैं और इसलिए मैं अपने को अज्ञेयवादी कहकर ही सन्तोष करता हूँ।"

चार्ल्स डार्विन के जिन लेखों से उनके धर्ममत का पता मिलता है उनमें उद्धृत अंश ही सबसे अधिक विस्तृत है, किन्तु और भी ऐसी उक्तियाँ यत्र-तत्र फैली हुई हैं।

सन् १८६१ की ११ जुलाई को उन्होंने मिस जुलिया बेजवुड को लिखा था—"मैं तुम्हारे निबन्ध की प्रशंसा करता हूँ, किन्तु मुझे स्वीकार करना पड़ेगा कि इसका कुछ अंश मेरे ठीक-ठीक समझ में न आ सका, इसका मुख्य कारण कदाचित् यह है कि मैं दार्शनिक विचार-धारा के अनुसरण का अभ्यस्त

---

[1] १८५६

नहीं हूँ। मैं समझता हूँ कि तुम मेरी पुस्तक Origins of species को बख़ूबी समझती हो। तुमने जिन समस्याओं पर विचार किया है, उनमें से कुछ पर मैं भी विचार करता रहा हूँ, किन्तु मुझे स्वीकार करना पड़ेगा कि इसका नतीजा गोरखधन्धा ही रहा, जैसे पाप की उत्पत्ति पर चिन्ता करना। यह तो सच है कि मन निखिल विश्व की और प्रकृति में भविष्य बुद्धि (Design) बिना आरोप किये देखने से इन्कार करता है, किन्तु जहाँ इस भविष्य बुद्धि का सबसे ज़बर्दस्त प्रकाश हम देखना चाहेंगे अर्थात् अनुभूतिशील प्राणियों के गठन में, वहाँ तो सोचने पर भी मुझे ऐसी कोई बात नहीं दिखलाई देती। Asa gray तथा कुछ दूसरे सज्जन प्रत्येक परिवर्तन को कम-से-कम प्रत्येक हितकर परिवर्तन को दैवेच्छाप्रणोदित मानते हैं। फिर भी जब हम उनसे पूछते हैं कि क्या वे Rockpigeon नामक पक्षी के हरेक परिवर्तन को, जिनकी सहायता से मनुष्य ने Pouter तथा Fantail आदि क़िस्मों का कबूतर पाया है, दैवेच्छा-सृष्ट मानते हैं, तब तो वे कुछ नहीं कह पाते। यदि वे या अन्य कोई यह मानते हैं कि यह परिवर्तन आकस्मिक हैं अर्थात् भविष्य बुद्धि या उद्देश्य (Design) की दृष्टि से आकस्मिक हेतु अथवा उत्पत्ति की दृष्टि से नहीं दिखाई देता कि वे परिवर्तनों के उस समूह को, जिसे बढ़ही नामक चिड़िया कहते हैं, दैवेच्छा-सृष्ट समझें।"

डार्विन ने बार-बार प्रकृति में उद्देश्य या भविष्य बुद्धि है कि नहीं इस प्रश्न पर आलोचना की है। वैज्ञानिक होने के नाते यह प्रश्न उनके निकट सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। डार्विन ने केवल कल्पना तथा विचारों की उड़ान से ही इस समस्या के समाधान की चेष्टा नहीं की जैसा कि प्राचीन दार्शनिक गण करते थे, बल्कि उन्होंने महत्त्वपूर्ण तथा निश्चित वैज्ञानिक प्रमाण के आधार पर ही यह निर्णय किया था कि प्राणी जातियों का एक क्रम-विकास होता गया है। इस परिस्थिति में उनके मन में इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही था कि यह जो क्रमविकास का ताँता जारी है यह क्या है ? क्या इसके पीछे कोई बुद्धिमान् ईश्वर है ? अपने एक मित्र डॉक्टर ग्रे को जुलाई १८६० में वे लिखते हैं—"इस प्रश्न पर एक और शब्द। मैं एक चिड़िया को देखता हूँ, जिसकी कि मुझे कबाब के लिए आवश्यकता है। मैं बन्दूक उठाता हूँ और धड़ से उसे मार गिराता हूँ। इस बात को मैं भविष्य बुद्धियुक्त रूप में या उद्देश्य के सहित करता हूँ। एक दूसरा उदाहरण लो, एक अच्छा खासा आदमी पेड़ के नीचे खड़ा है, और एकाएक उस पर वज्रपात होता है। क्या आप विश्वास करते हैं, और मुझे उसके उत्तर में विपुल कौतूहल है कि क्या ईश्वर

नें उद्देश्य सहित इस मनुष्य का वध किया ? बहुत से क्या अधिकतर मनुष्य ऐसा ही विश्वास करते हैं, किन्तु मैं न तो ऐसा विश्वास करता हूँ न कर सकता हूँ। यदि आप ऐसा विश्वास करते हैं तो क्या आप यह भी विश्वास करते हैं कि जब एक चिड़िया एक कीड़े को पकड़कर चट कर जाती है तो ईश्वर ने पहले से ही यह तय कर रखा था कि अमुक घड़ी पर अमुक चिड़िया अमुक कीड़े को चट कर जायगी। मैं समझता हूँ कि इस वज्राहत मनुष्य की तथा उस गोली से मारी हुई चिड़िया की एक ही दशा है। यदि कहा जाय कि उस मनुष्य की अथवा उस कीड़े की मृत्यु दोनों में से एक भी बात पहले से स्थिरीकृत नहीं है, तो फिर यह कैसे मान लिया जाय कि पहले-पहल जब उनका जन्म या उत्पत्ति हुई होगी तो वह उद्देश्य सहित या किसी के इच्छावश ही हुई होगी।"

चार्ल्स डार्विन ने ३री जुलाई सन् १८८१ को डबल्यू ग्रैहम-नामक एक सज्जन को एक पत्र लिखा था, धार्मिक मतवाद के सम्बन्ध में। इस लेख में जितने पत्र उद्धृत किये गए उन सबमें यही सबसे ताज़ा है। इस पत्र को लिखते समय डार्विन की उम्र ७२ साल की थी, वैज्ञानिक जगत् में लब्धप्रतिष्ठ हुए उन्हें एक युग हो चुका था, Origin of species लिखने के बाद २२ साल याने एक पुश्त व्यतीत हो चुकी थी, अतएव इस पत्र में प्रकट किये हुए विचारों को हम डार्विन के अत्यन्त परिपक्व विचार कह सकते हैं। हमें डार्विन के विचारों का मनन तथा निदिध्यासन करते वक़्त यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उन पर किसी प्रकार के क्रान्तिकारी विचारों का प्रभाव नहीं पड़ा था। न तो वे साम्यवादी थे न निहिलिस्ट। जिन उपसंहारों पर वे पहुँचे थे, वैज्ञानिक पद्धति से निखरी हुई साधारण बुद्धि से ही पहुँचे थे। पहले जो कुछ कहा जा चुका है उससे स्पष्ट है कि यदि पक्षपात का कोई प्रश्न उठता है तो वे धर्म के ही साथ पक्षपात करते हैं, उनको ऐसी ही शिक्षा मिली थी तथा वे ऐसे ही पले थे।

उस पत्र में डार्विन लिखते हैं, "प्रिय महाशय, विज्ञान धर्म (Creed of science) नामक पुस्तक के अध्ययन से जो मुझे आनन्द प्राप्त हुआ है उसके लिए कृतज्ञता प्रकाश करने की धृष्टता मैं कर रहा हूँ, आशा करता हूँ, आप इसे गुस्ताखी नहीं समझेंगे। अभी तक पूरी पुस्तक मैंने नहीं पढ़ पाई, अब बुढ़ापे नें मुझे धर दबाया है, इसलिए धीरे-धीरे पढ़ पाता हूँ। फिर भी बहुत दिनों से किसी पुस्तक में मैंनें इतनी दिलचस्पी नहीं ली। स्पष्ट है, आपको इस पुस्तक के लिखने में बहुत परिश्रम हुआ होगा, तथा समय भी बहुत लगा होगा।

आप अवश्य यह आशा नहीं रखते कि आपकी प्रतिपादित जटिल समस्याओं के सभी समाधानों के सम्बन्ध में कोई आपका साथ देगा। मुझे डर है कि आपकी पुस्तक की कुछ बातों को मैं ठीक-ठीक पचाने में समर्थ नहीं हुआ हूँ। सबसे प्रमुख बात यह है आप कथित प्राकृतिक नियमों का होना मानते हैं, इसका साफ़ अर्थ उद्देश्य का आरोप होता है। मैं इस बात से सहमत नहीं हो सकता। उन लोगों की बात जाने दीजिए जो कि आशा करते हैं कि संसार के सभी नियम कभी अनिवार्य रूप से एक ही नियम का अनुसरण करते पाये जायँगे, वह तो दूर की बात है उसको जाने दिया जाय। मैं कहता हूँ कि नियमों को जैसे कि वे हैं लिया जाय, और हम चन्द्रमा की ओर दृष्टिपात करें जिसमें कि मध्याकर्षण का नियम, शक्ति-संरक्षण का नियम (Conservation of energy), आणविक सिद्धान्त (Atomic theory) आदि कितने ही नियम क्रियाशील हैं। वहाँ भी मैं नहीं समझता कि आवश्यक रूप से कोई उद्देश्य ही होगा। यदि चन्द्रमा में निम्नतम अचेतन प्रकरणों (Lowest organisms destitute of consciousness) का होना सिद्ध होता तो तब क्या उद्देश्य होता? बात यह है कि किसी बात को खयाली रूप में ही देखने का या उस पर विचार करने का मेरा अभ्यास नहीं है, इसलिए बहुत सम्भव है मैं बहक रहा हूँ। फिर भी आपने मेरे आन्तरिक विश्वास को मुझसे जितना संभव है उससे अधिक स्पष्टता तथा सजीवता के साथ उपस्थित किया है कि यह विश्व कोई आकस्मिकता की उपज नहीं है।"

अपने पिता के उक्त वचनों की व्याख्या करते हुए सर फ्रान्सिस डार्विन ने लिखा, "ड्यूक आफ़ आरजिल लिखित Good words नामक पुस्तक में मेरे पिता के इस सम्बन्ध में कहे हुए शब्द लिपिबद्ध हैं। ड्यूक लिखते हैं—उस बातचीत के दौरान में मैंने मिस्टर डार्विन से उन्हीं की Fertilisation of orchids तथा Worms आदि पुस्तकों का हवाला देते हुए कहा कि प्रकृति में कुछ बहुत ही विचित्र तथा विस्मयकर व्यवस्थाएँ वर्तमान हैं, उनको देखकर यही मुझे प्रतीत होता है कि इसमें 'चित्" का उपादान मौजूद है। डार्विन ने इस पर जो उत्तर दिया वह मैं कभी नहीं भूल सकता। वे मेरी ओर वक्र दृष्टि से देखने लगे, फिर बोले—यह खयाल मुझे भी कभी-कभी बड़े ज़ोर से आता है, इतनी तेज़ी से कि मेरे पाँव उखड़-से जाते हैं। किन्तु......इतना कहकर उन्होंने अस्पष्ट रूप से सिर हिलाकर कहा,—किन्तु...वह चला जाता है।"

डार्विन उसी ग्रेहम वाले पत्र म लिखते हैं, "किंतु फिर मेरे मन में यह कुत्सित सन्देह हमेशा उठता रहता है कि मनुष्यों का मन निम्नतम प्राणियों के

मन का क्रम विकसित रूप-मात्र है क्या उसकी कोई हैसियत है, या उसका कोई विश्वास किया जा सकता है ? यदि बन्दर के लिए विचार करना सम्भव होता तो क्या हम उसके विचारों पर विश्वास करते ? दूसरी बात यह है कि मुझे प्रतीत होता है कि आप हमारे महत्तम व्यक्तियों को जो महत्त्व देते हैं, उसके विरुद्ध बहुत कुछ कहा जा सकता है। मैं बल्कि द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ श्रेणी के लोगों को अधिकतर महत्त्व देता हूँ, कम-से-कम विज्ञान में। अन्त में मैं आपसे लड़-भिड़-कर यह दिखा सकता हूँ कि प्राकृतिक निर्वाचन ने सभ्यता की अग्रगति के लिए प्रस्तुत नहीं मालूम देते।"

अब हम संक्षेप में डार्विन के धर्ममत का विश्लेषण करते हैं तो पाते हैं (१) वे तथा उनका विज्ञान किसी भी हालत में प्रकृति में उद्देश्य मानने के लिए तैयार नहीं है, (२) वे विकासवाद तथा ईश्वरवाद में अनिवार्य विरोध न मानते हुए भी स्वयं ईश्वरवादी नहीं हैं, (३) वे अपने को अज्ञयवादी कहते हैं किन्तु उनका अज्ञेयवाद का झुकाव अनीश्वरवाद की ओर है।

डार्विन के बाद विज्ञान में क्रान्तिकारी उन्नति हुई है, यहाँ तक कि गत दस साल में भी यह बहुत आगे बढ़ गया है। प्रश्न यह है कि इस उन्नति का रुख किधर है ? क्या वह धर्मों की पोषिका है या शोषिका ? जे० बी० एस्० हालडेन के शब्दों में—

The progress of physics by showing that matter does not possess various properties attributed to it by metaphysicians, has rendered Materialism a good deal more plausible than ten year ago.

(Fact and Faith)

अर्थात् पदार्थ-विज्ञान की उन्नति ने यह दिखलाकर कि मैटर में वे गुण नहीं हैं जिनका कि दार्शनिक गण उस पर आरोप करते थे अनात्मवाद की सत्यता की सम्भावना को यहाँ तक कि दस साल पहले से भी कहीं ज्यादा बढ़ा दिया है।

अवश्य विज्ञान में कुछ घरफोड़ विभीषण भी हैं जैसे सर जेम्स जीनस, एडिंगटन, आलिवर लाज इत्यादि। इनके सम्बन्ध में आइनस्टाइन के उन शब्दों को हम याद दिलाते हैं कि एक वैज्ञानिक साहित्यिक ताव में आकर क्या कहता है तथा उसका विशुद्ध वैज्ञानिक मत क्या है इसमें प्रभेद किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त जे० बी० हालडेन का इसी विषय का चोंचला सुन लीजिये। वे कहते हैं, "कुछ लोग अनवरत यह प्रचार-कार्य कर रहे हैं कि

विज्ञान और धर्म का पुराना वैर खत्म हो चुका, और अब वे पुरानी दुश्मनी को बिसार करने वाले मिल रहे हैं। मेरे कुछ वैज्ञानिक बन्धु इस प्रचार-कार्य कर रहे हैं। सर जेम्ज जीनस हमें ईश्वर में इसलिए विश्वास स्थापन करने के लिए कह रहे हैं कि इस विश्व जगत् में ऐसी सुशृंखला है इसका अवश्य ही कोई बुद्धिमान् स्रष्टा रहा होगा, किन्तु सर आर्थर एडिंगटन कहते हैं कि यह सुशृंखला की बात हमारे मन का आरोप-मात्र है? ये दोनों सत्य नहीं हो सकते, और मुझे तो बड़ी ज़बरदस्त आशंका है कि दोनों गुमराह हैं! फिर भी आश्चर्य यह है दोनों धर्म के स्तंभरूप में उपयोग में लाये जा रहे हैं, जिससे यह साबित है कि धर्म के अनान्य बौद्धिक आश्रय और भी कमज़ोर होंगे।"

इन बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है और उसमें कुछ अत्युक्ति नहीं होगी कि डार्विन यदि आज दिन जीवित होते अनात्मवादी होते।

३५

प्रगतिवाद की चतुःसीमा

इधर साहित्य के जाति-निर्णय पर हिन्दी में बहुत स्वस्थ वाद-विवाद हो रहा है। पर उससे चीजों का स्पष्टीकरण हो रहा है या नहीं यह दूसरी बात है। यहाँ मैं यह बताने की चेष्टा करूँगा कि प्रगतिवाद का साहित्य के सम्बन्ध में क्या वक्तव्य है, और उसकी सीमाएँ कहाँ जाकर समाप्त हो जाती हैं।

प्रगतिवादी तथा दूसरे लोगों में सबसे अधिक झगड़ा इस कारण है कि प्रगतिवादी जहाँ तक कि साहित्य का सम्बन्ध है, अपनी आलोचना-पद्धति की सीमाओं को नहीं समझते। कुछ कठमुल्ला किस्म के प्रगतिवादी यह जो समझते हैं कि किसी साहित्यिक या कला-सम्बन्धी कृति के विषय में उन्होंने यह कह दिया कि वह प्रगतिशील है, तो सब-कुछ कह दिया, यह भ्रान्त धारणा है।

प्रगतिवाद प्राथमिक रूप से और मुख्यतः एक सामाजिक बल्कि समाज-सम्बन्धी मतवाद है। मैंने मतवाद शब्द का प्रयोग किया, इससे यह न समझा जाय कि इस क्षेत्र में मैं किसी दूसरे मत की गुन्जाइश मानता हूँ। प्रगतिवाद अर्थात् समाज की प्रगति हो रही है, और उसमें हम हाथ बटा सकते हैं, यह मत एक वैज्ञानिक सिद्धान्त की तरह है, और उसमें मतभेद का कोई स्थान नहीं है। यह स्मरण रहे कि प्रगतिवादी सिद्धान्त का आविष्कार तो बाद को हुआ, पर वह बराबर समाज में लागू था। यह बात उसी प्रकार की है कि न्यूटन के पहले भी मध्याकर्षण का सिद्धान्त लागू था। इसी प्रकार हम यह भी देखते हैं कि साहित्य में प्रगतिवादी मतवाद की स्थापना के पहले प्रगतिशील साहित्य मौजूद था।

अब हम थोड़े में यह बता देना चाहते हैं कि मैं क्यों यह मानता हूँ कि प्रगतिवाद साहित्य को मुख्यतः समाज की कसौटी पर कसता है, और इसीलिए वह जो-कुछ कहता है, वह उस साहित्य के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने पर भी सब-कुछ नहीं कहता। बहुत-कुछ कहना बाकी रह जाता है, भले ही वह समाज की प्रगति की दृष्टि से उतना महत्त्वपूर्ण न हो।

मैंने प्रगतिवाद की जो संक्षिप्त परिभाषा की है उसमें दो बातें हैं, एक तो यह कि मनुष्य-समाज में निरन्तर प्रगति हो रही है। आदिम समाज से लेकर मनुष्य ने अब तक बराबर प्रगति की है, और यह आशा की जा सकती है कि वह जल्दी ही साम्यवाद में पहुँच जायगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति उतना काम करेगा जितना कि वह कर सकता है, और उतना लेगा जितनी कि उसे आवश्यकता है, दूसरे शब्दों में जिसमें मनुष्य आत्माभिव्यक्ति और सच्चे अर्थों में आत्म-विकास कर सकेगा।

अब हम परिभाषा के दूसरे हिस्से में आते हैं। अवश्य यहाँ यह बता दिया जाय कि परिभाषा का दूसरा हिस्सा पहले हिस्से से ही निकलता है। मनुष्य ने यह जो प्रगति की है, यह इस कारण नहीं की कि किसी अज्ञात शक्ति ने ऐसी जगत्-रचना कर दी, या जगत्-रचना में कोई उद्देश्य अन्तर्निहित था, बल्कि यह प्रगति सहस्रों संघर्षों, क्रान्तियों इत्यादि के फलस्वरूप हुई। और प्रगतिवाद इसी चालू प्रक्रिया के निरीक्षण से प्राप्त एक नियम-मात्र है। यहीं पर यह बात आती है कि मनुष्य कुल मिलाकर इस प्रगति में बराबर हाथ बटाता आया है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य उद्योग न करता, निरन्तर आगे बढ़ने के लिए संघर्ष न करता तो यह प्रगति न होती। प्रगति कोई भाग्य या अदृष्ट की तरह अपरिहार्य या अनिवार्य नहीं है कि मनुष्य हाथ-पैर समेटकर बैठा रहे, तो भी वह प्रगति करेगा ही। इतिहास का तथ्य तो यह है कि कुल मिलाकर मनुष्य-समाज प्रगति की ओर गया है, पर इतिहास में कई जातियाँ ऐसी हो गई हैं जो संसार से इस कारण लुप्त हो गईं कि वह हाथ-पैर बाँधकर स्थविर होकर बैठ गईं।

इस प्रकार से प्रगतिवाद जहाँ अपनी परिभाषा के प्रथम भाग के कारण एक विज्ञान है, वहाँ वह अपनी परिभाषा के दूसरे भाग के कारण एक कर्तव्य-शास्त्र भी है, जो बताता है कि हम किस प्रकार प्रगति में हाथ बँटा सकते हैं, और हमें हाथ बँटाना चाहिए। इस प्रकार प्रगतिवादी आलोचना-पद्धति आलोचना की एक वैज्ञानिक शैली-मात्र न होकर एक क्रान्तिकारिणी शक्ति के रूप में इस बात को स्पष्ट रूप से सामने लाती है कि साहित्य इस प्रगति में हाथ बँटावे, और उसका पक्ष ले। दूसरे शब्दों में वह यह भी स्पष्ट करती है कि साहित्य या कला कोई निस्पृह निष्काम वाक्य या रेखा-रचना-मात्र नहीं है, वह प्रगति का प्रतिपादक, उसके साथ पक्षपात करने वाला पार्टीसन साहित्य है।

जहाँ तक साहित्य की आलोचना की प्रगतिवादी पद्धति का सम्बन्ध है, वह ऊपर बताई हुई परिभाषा के दूसरे भाग को साहित्य में पुष्पित और

पल्लवित देखना चाहती है। दूसरे शब्दों में वह चाहती है कि साहित्य समाज की अग्रगति, उत्थान या प्रगति में हाथ बटाय, और इसी कसौटी पर वह साहित्य को कसकर देखती है कि किसी एक विशेष समय में कोई विशेष साहित्य इस सम्बन्ध में कैसे उतरता है।

प्रगतिवाद में स्वाभाविक रूप से मूल्य या मान्यताएँ चिरन्तन नहीं हैं, क्योंकि प्रत्येक युग में प्रगति का तकाजा विभिन्न होता है। एक ही बात किसी एक विशेष समय में प्रगतिवादी हो सकती है, पर वही परिस्थितियों के बदलने पर प्रगति-विरोधी भी हो सकती है, जैसे देश-भक्ति को ही लीजिये। जब कोई देश पराधीन है, तो देश-भक्ति का नारा एक प्रगतिमूलक नारा होगा, देश-भक्तिमूलक साहित्य प्रगतिमूलक होगा। पर यदि वही देश स्वतन्त्र हो जाय और वहाँ देशी पूँजीपतियों का राज्य स्थापित हो जाय, भले ही उसका बाह्य रूप प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र का हो, वह दूसरे देशों पर साम्राज्यवादी आक्रमण करे, तो उस समय देश-भक्ति का नारा प्रगति-विरोधी होगा, इसी कारण किपलिंग आदि लेखकों का बहुत सा देश-भक्तिमूलक साहित्य प्रगति-विरोधी है।

इसीलिए किसी साहित्य को प्रगतिवादी कह देने पर हम केवल इतना ही कहते हैं कि समाज की वर्तमान अवस्था में वह प्रगतिशील है, हम सर्वकाल के लिए उसके सम्बन्ध में कोई फतवा नहीं देते।

अवश्य ऐसा हो सकता है कि कोई साहित्य इस प्रकार से रचित हुआ हो कि वह अपने समय में प्रगतिवादी होने के अतिरिक्त सर्वकाल के लिए प्रगतिशील हो। गोर्की आदि बहुत-से लेखकों का साहित्य इस श्रेणी में आ सकता है।

ऐसा क्यों, यह भी स्पष्ट कर दिया जाय। आखिर क्या बात है कि कोई साहित्य तो केवल अल्पकाल के लिए प्रगतिशील होता है, और कोई सर्वकाल के लिए। इसके उद्घाटन के लिए हमें कुछ गहराई में जाना पड़ेगा। अब तक इतिहास में इतने युग हुए हैं (१) आदिम समाजवादी युग, जब कोई वर्ग नहीं था, पर वह समाज उत्पादन की दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था (२) दास पद्धति का समाज, जिसमें दास ही उत्पादक थे, और दूसरे शोषक। यह समाज पद्धति भारत में अपने क्लासिकल रूप में नहीं आई (३) सामन्तवादी समाज, जिसमें सर्फ या कृषक दास या अर्द्धदास ही उत्पादक थे, हमारे यहाँ वैदिक युग से लेकर अब तक देश के पिछड़े हुए हिस्सों में यही समाज-पद्धति चालू है। (४) पूँजीवादी समाज, इसमें मजदूर उत्पादक हैं और पूँजीवादी शोषक। (५) समाजवादी समाज, इसमें उत्पादन तथा राज्य का सूत्र उत्पादकों के हाथ में आ जाता है। रूस तथा उसके साथी देशों में यही पद्धति है। इसमें स्वा-

आर्थिक रूप से भूतपूर्व शोषकों आदि का दमन होता है।

इनके अतिरिक्त भविष्य में साम्यवादी समाज स्थापित होगा, जिसमें किये हुए काम की मात्रा और गुण के अनुसार मजदूरी न दी जाकर (जैसा कि समाजवादी समाज में होता है) एक व्यक्ति उतना काम करता है जितना वह कर सकता है, पर उतना लेता है जितने को उसे आवश्यकता है, जो किये हुए काम के अनुपात से अधिक भी हो सकता है और कम भी।

अब इनमें से प्रत्येक युग में शोषित वर्ग के साथ पक्षपात करके प्रगतिशील साहित्य उत्पन्न हो सकता है। सामन्तवादी युग को लिया जाय, क्योंकि हम उसके पास हैं। सामन्तवाद के गर्भ में पूँजीपति वर्ग का जन्म होता है, पर वह एक उत्पीड़ित वर्ग के रूप में सामने आता है। उस पर अत्याचार होते हैं, अमीर उमराओं के मुकाबिले में वह पराया समझा जाता है, मनमाने रूप से उस पर टैक्स लगाये जाते हैं। उसे उठने नहीं दिया जाता। पूँजीवादी वर्ग इस कारण साम्य, मैत्री, स्वतन्त्रता का नारा देकर अन्य शोषितों को अपने साथ लाता है। सामन्तवादी समाज में जो साहित्य समाजवादी अमीरों को नीचा दिखाकर पूँजीपतियों को आगे बढ़ने में अर्थात् उन्हें सामन्तवादियों पर विजय प्राप्त करने में मदद देता है, वह प्रगतिशील है। इसके बाद चलिए तो हम देखते हैं कि पूँजीवादी वर्ग सामन्तवाद पर विजय प्राप्त करके उन उदात्त नारों को बालाये ताक रख देता है जिन्हें देकर वह शक्ति आरूढ़ हुआ, और वह मजदूर-वर्ग के शोषण में प्रवृत्त होता है! ऐसी हालत में वही साहित्य, जिसने सामन्तवाद पर पूँजीवादी वर्ग की विजय में हाथ बटाया, और जो इस कारण प्रगतिशील था, अब प्रतिक्रियावादी हो जाता है। हाँ, यदि उस साहित्य में सामन्तवाद पर पूँजीवाद की विजय के द्रुतीकरण के साथ-साथ यह भी साफ कर दिया गया हो कि पूँजीवाद अपने दिखाने के आदर्श के साथ विश्वास-घात करेगा, और साथ ही यह दिखाया गया हो कि मजदूर और किसान वर्ग (भले ही वह सामूहिक फार्म के रूप में संगठित रूप में हो) की विजय में ही अन्तिम विजय होगी, तब वह साहित्य अपने समय में प्रगतिशील होने के अतिरिक्त सर्वकाल के लिए प्रगतिशील होगा। गोर्की तथा अन्य बहुत से लेखकों के साहित्य में इसी प्रकार का विस्तार और अन्तर्दृष्टि होने के कारण वह अपने काल के लिए ही नहीं सर्वकाल के लिए प्रगतिशील है। अपने यहाँ के प्रेमचन्द की कुछ रचनाओं के सम्बन्ध में यह बात कही जा सकती है, उनमें हम देखते हैं कि प्रेमचन्द के पैर समसामयिक युग में जमे होने पर भी उनका सिर सर्वकाल के आकाश में है जहाँ से वे अपने विचार आहरित करते हैं।

मैं यहाँ और अधिक ब्यौरे में नहीं जाऊँगा कि कौन सा साहित्य किस समय और किस हद तक प्रगतिशील है। मुझे तो यहाँ पर केवल इस कसौटी का स्पष्टीकरण करना था। यह तो साफ हो गया कि प्रगतिवाद की कसौटी एक समाज-सम्बन्धी कसौटी है, पर जैसा कि मैं बता चुका हूँ किसी साहित्य के सम्बन्ध में इतना ही कह देना सब-कुछ कह देना नहीं है कि वह समाज की प्रगति का विरोधी है, उसके पक्ष में है अथवा विपक्ष में है।

आखिर स्वीकृत प्रगतिशील लेखकों में कोई लेखक अधिक पसन्द किया जाता है, कोई लेखक कम, किसी लेखक को हम उस्ताद मानते हैं, तो किसी को उससे कई दर्जे उतरकर मानते हैं, इसमें कौन सी ऐसी बात है जिसके कारण एक प्रगतिशील लेखक दूसरे प्रगतिशील लेखक से श्रेष्ठ होता है, और श्रेष्ठ माना जाता है? क्या हम इसकी इस प्रकार व्याख्या कर सकते हैं कि एक अधिक प्रगतिशील है, इसलिए वह हमें अधिक पसन्द आता है, और दूसरा कम प्रगतिशील है, इस कारण वह हमें कम पसन्द आता है? क्या इस प्रकार की व्याख्या करना उचित होगा?

एक उदाहरण लिया जाय। मान लीजिए एक मञ्च से दो व्यक्ति बोल रहे हैं, दोनों प्रगतिशील हैं। एक के बोलने पर लोग जम्हाई लेने लगते हैं, इधर-उधर देखते हैं, घड़ी देखने लगते हैं, पर दूसरा जब बोलता है तो लोग मन्त्र-मुग्ध होकर सुनते हैं। क्या इसकी इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है कि एक अधिक प्रगतिशील है, और दूसरा कम? क्या भाषा, शैली, व्याख्यान को ढङ्ग से अदा करने आदि का इसमें कोई हाथ नहीं है? क्या अक्सर ऐसा नहीं देखा जाता कि अच्छा वक्ता अनिवार्य रूप से उस विषय का श्रेष्ठतर जानकार नहीं होता? कई बार ऐसा होता है कि अच्छा ज्ञाता अच्छा वक्ता नहीं होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि जिस व्यक्ति का व्याख्यान अधिक प्रभावोत्पादक हुआ, वह अपरिहार्य रूप से उस व्यक्ति से अधिक ईमानदारी के साथ अपनी कही हुई बातों में विश्वास करता है।

इस प्रकार यह मानना ही पड़ेगा कि केवल इतना कह देने से ही कि अमुक कृति प्रगतिशील है, हम न तो यह कह देते हैं कि वह सबसे अधिक सफल-रहेगी, और न हम उस कृति के सम्बन्ध में सब-कुछ कह देते हैं। किसी कृति को प्रगतिशील बताने का अर्थ केवल इतना ही है कि सामाजिक दृष्टि से उस कृति का प्रभाव अच्छा होगा बशर्ते कि (यहाँ बशर्ते कि बहुत महत्त्वपूर्ण है) और सब दृष्टि से वह उस प्रकार की दूसरी कृतियों के मुकाबले का हो। हम फिर उसी उदाहरण में लौटकर कह सकते हैं कि एक व्यक्ति व्याख्यान में

मजदूरों के फायदे के पक्ष में कहता है, पर उसे बोलना नहीं आता, दूसरा व्यक्ति बड़ा अच्छा वकील और वक्ता है, वह पूँजीपतियों की तरफ से बोलता है। अब इन दोनों में पहला व्यक्ति प्रगतिशील यहाँ तक कि क्रान्तिकारी होते हुए भी सम्भव है कि किसी नये हृदय को आन्दोलित न कर सके, और वकील साहब प्रतिक्रियावादी होते हुए भी कुछ नहीं तो जैसा है उसे कायम रखने के पक्ष में मुकदमा तैयार कर सकें।

दूसरे शब्दों में मेरा वक्तव्य यह है कि किसी लेखक का प्रगतिवादी होना इस बात की गारंटी नहीं है कि प्रभाव कह लीजिये रस कह लीजिए या जो भी चाहे कहिये, उत्पन्न कर सकेगा। इसके विपरीत सम्भव है वाचालता तथा वाग्जाल की बदौलत प्रतिक्रियावादी अपना प्रभाव या रस (या करके लिख रहा हूँ इसलिए न समझा जाय कि मैं दोनों शब्दों को बिलकुल पर्यायवाची मानता हूँ) उत्पन्न कर सके। और यहाँ यह भी बता दिया जाय कि यदि प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सका तो किसी लेखक की प्रगतिशीलता ही क्या हुई? और किसी वाद में भले ही यह दावा (केवल दावा) किया जाता हो कि स्वांतः सुखाय साहित्य की रचना की जाती है, पर प्रगतिवादी साहित्य तो जनता को लेकर चलने में ही अपनी सार्थकता मानता है। इस कारण वह इस बात को महत्त्व दिये बिना नहीं रह सकता कि साहित्य या कला कहाँ तक और किस हद तक जनता को आन्दोलित करते हैं, उसे वीरता के कार्यों के लिए उद्बुद्ध करते हैं इत्यादि। चलते हुए यहाँ यह भी बता दिया जाय कि प्रगतिवादी के निकट केवल मध्ययुग के नाइटों की तरह मार-काट ही वीरता नहीं है। बुरे के ध्वंस में वीरता है, पर अच्छे के निर्माण में उससे कम वीरता नहीं। स्वाभाविक रूप से जिन देशों में शोषण-मूलक पद्धतियों का अभी अन्त नहीं हुआ है, वहाँ प्रगतिवादी साहित्य शोषण के विरुद्ध संग्राम के लिए उकसायगा, पर जहाँ सच्चे अर्थों में जनवादी शासन स्थापित हो चुका है, वहाँ वह निर्माण के हाथों को मज़बूत करेगा, अवश्य वह हर हालत में शोषकों के षड्यन्त्रों के विरुद्ध जनता को जागरूक रखेगा।

प्रगतिवाद एक नया वाद है, किन्तु उसमें नवीनता के लिए नवीनता, चौंका देने के लिए नवीनता के प्रति मोह नहीं है। यदि नवीनता, नई शैली, नया प्रयोग प्रगतिवाद के लक्ष्य को असरदार बनाता है, उसके प्रभाव-क्षेत्र को विस्तृत बनाता है, तो वह स्तुत्य और अभिनन्दनीय है, पर यदि कोई प्रयोग के लिए प्रयोग में पड़कर भटक जाता है, जैसे कथित प्रयोगवादी भटके हैं, तो वह बिलकुल व्यर्थ और त्याज्य है। अतिआधुनिकता और अतिनवीनता के मोह ने यूरोपीय बल्कि पैरिस की कला को क्युबिज़्म के गड्ढे में डालकर कहाँ

पहुँचा दिया है इसे हम जानते है। वह जनता से सम्पूर्ण रूप से वियुक्त हो गई है, और उसके पीछे कोई अनुप्रेरणा नही है। वह तो कुछ थोडे से विकृत-रुचि लोगो का रेखा-विलास मात्र रह गया है। सामाजिक रूप से यह कला उन देशो के शासक वर्गों के पतन की सूचक है।

लेनिन ने इसी कारण प्रगतिवादियो को चेतावनी देते हुए कहा था कि अतिनूतन और चौका देने वाले नूतन का मोह वर्जनीय और त्याज्य है, क्योकि इससे हम कही पर नही पहुँचते, बल्कि पथ-भ्रष्ट होकर भटकते हुए ऐसी जगह पहुँच जाते है जो अवाछनीय है। हिन्दी के कथित प्रयोगवादी भटकते भटकाते एक तरफ तो मैथुनवाद में पहुँचे (नदी के द्वीप) और दूसरे अध्यात्मवाद-रहस्यवाद पलायनवाद मे पहुँचे (तार-सप्तक)।

प्राचीन का केवल इसलिए वजन कि वह प्राचीन है उचित नही। लेनिन ने कथित बुतशिकनो को फटकार बताते हुए कहा था—सुन्दर की रक्षा करनी पडेगी, उसे माडेल के रूप मे लेना पडेगा, और वहाँ से रूप-निर्माण का प्रारम्भ करना पडेगा, चाहे वह पुराना ही क्यो न हो। कोई चीज पुरानी या प्राचीन है, इस कारण यदि वह वास्तविक रूप से सुन्दर है तो हम उससे मुँह क्यो मोडे, उसे आगामी विकास के प्रारम्भ-विन्दु के रूप मे लेने से इन्कार क्यो करें? हम किसी चीज की केवल इसलिए पूजा क्यो करे तथा उस के सामने सिर क्यो झुकायँ कि वह नया है? यह वाहियात बात है, बिलकुल वाहियात है। ऐसा सोचने मे एक बडा हिस्सा तो ढोग का है, और हाँ यह तो है ही कि पश्चिमी कला मे फैले हुए फैशनो के लिए अपने अनजान में सम्मान की भावना है।

इसलिए प्रगतिवादी प्राचीन साहित्य, कला या सङ्गीत का केवल इस कारण तिरस्कार नही करता कि वह प्राचीन हैं। कला, सङ्गीत या साहित्य का सजन हवा में नही हो सकता, इनको जनवादी मोड देने के लिए, आवश्यकता के अनुसार नई परम्परा की सृष्टि करने के लिए प्राचीन साहित्य, कला, सङ्गीत की जानकारी आवश्यक है। हम उसका अनुकरण भले ही न करें (वह हम क्यो करेगे?), पर यदि वह अच्छा है, किसी अथ मे भी अच्छा है, उसे हम अपनी आगामी रचना का प्रारम्भ-विन्दु तो बना सकते है। हाँ प्राचीन की कद्र करते समय हम उसकी साधारण प्रवृत्ति तथा वग-चरित्र की ढाल को भुला नही सकते। लेनिन की भाषा में हमारा कतव्य यह होगा कि "पूँजीवाद ने सस्कृति, ज्ञान तथा टेकनीक का जो ऐश्वर्यशाली भण्डार छोडा है, वह हमारे लिए आत्यतिक रूप से आवश्यक है, हम उसे पूँजीवाद के अस्त्र से समाजवाद के

अस्त्र के रूप में परिवर्तित कर लें।"

इसी कारण इस बात की आवश्यकता है कि प्रगतिवादी अपने देश और विश्व की प्राचीन कलामूलक थाती का अध्ययन करें। अवश्य इस थाती की रक्षा का अर्थ यह कदापि नहीं है कि उस तक अपने को सीमित कर दिया जाय, जैसा कि लेनिन ने कहा है। किसी भी हालत में हम उसकी अवज्ञा नहीं कर सकते। अवश्य उन्हें ढंग से पचाने के लिए हमें जागरूक होकर उनका अध्ययन करना पड़ेगा क्योंकि स्वाभाविक रूप से उनमें ऐसे बहुत से संस्कारों तथा विचारों की छाप है जो सर्वथा त्याज्य है। प्राचीन साहित्य तथा कला में जहाँ कई बार क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ मिलेंगी, साथ ही साथ वहाँ उनमें प्रति-क्रियावादी प्रवृत्तियां भी हैं। हमारे यहाँ के प्राचीन संस्कृत तथा हिन्दी-साहित्य में शासक वर्ग के साथ बराबर पक्षपात के वर्णन मिलेंगे। फिर भी उन्हें पढ़ने की आवश्यकता है।

इस प्रकार यह तो स्पष्ट हो गया कि प्राचीन के प्रति प्रगतिवाद का क्या रुख है।

अब हम उसी प्रश्न पर आते हैं कि क्या किसी साहित्य को प्रगतिवादी कह देना उसके सम्बन्ध में सब कुछ कह देना है? मैं पहले ही बता चुका हूँ कि नहीं, क्योंकि निर्णयात्मक रूप से प्रगतिवादी रचनाओं में भी कोई अधिक प्रभावोत्पादक होता है कोई कम, इसका कारण अन्यत्र ढूँढ़ना पड़ेगा।

यहीं से हम भाषा, शैली, घटना-विन्यास या टेकनीक पर पहुँचते हैं। शक्तिशाली प्रतिक्रियावादी लेखक इन्हीं के सहारे जनता को गुमराह करते हैं, अर्थात् उन्हें या तो गलत रास्ते में लगाते हैं, या सही रास्ते से हटाकर बेकार की बातों में उलझा देते हैं।

यद्यपि प्रगतिवादी आलोचना किसी रचना के सामाजिक रुख से ही मुख्यतः सरोकार रखती है, फिर भी प्रगतिवादी लेखक भाषा आदि के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। सच तो यह है कि भाषा के सम्बन्ध में मोटे तौर पर एक ऐसा दृष्टिकोण है जो प्रगतिवादी कहला सकता है। प्रगतिवाद का आवेदन क्रान्तिकारी जनता के प्रति है, इस कारण प्रगतिवादी साहित्य की भाषा और शैली जनता की मनपसन्द होनी चाहिए। हमारे देश में कई बार भाषा को उस समय के प्रगतिशील विचारों के तकाजे के कारण बदलना पड़ा और फिर जब प्रतिक्रान्ति हुई तो फिर भाषा बदली। संस्कृत से बुद्ध ने पाली, प्राकृत को अपनाया, फिर जब प्रतिक्रान्ति हुई, तो फिर संस्कृत चली। स्वयं हिन्दी की उत्पत्ति अपेक्षाकृत प्रगतिशील प्रवृत्तियों के कारण हुई।

शैली के विषय मे भी यह कहा जा सकता है कि अप्रगतिवादी लेखक इसके गुरु हो गए है। उनसे प्रगतिशीलो को सीखने मे तो कोई हर्ज नही।

कुल बातो को देखकर यह कहा जा सकता है कि इन बातो की दृष्टि से अप्रगतिशील लेखक (जैसे मोपासाँ) कई बार प्रगतिशीलो से आगे रहे है। पर हृष का विषय है कि धीरे-धीरे दूसरा पलडा भारी हो रहा है।

: ३६ :

शरच्चन्द्र की अन्तिम कृति 'जागरण'

एक उपन्यासकार के रूप मे शरत् बाबू का नाम भारत के प्रत्येक उपन्यास-पाठको को ज्ञात है। अब तो उनके कई उपन्यासो के फिल्म बन जाने से अनपढ लोगो में भी उनकी कला की ख्याति पहुँच चुकी है।

शरत् बाबू उपन्यासो और कहानियो के रूप मे जो-कुछ छोड गए है वह बहुत यथेष्ट है। यहाँ पर मै उनका जिक्र नही करूँगा। 'शरच्चन्द्र एक अध्ययन' नाम से मैने शरत् बाबू पर एक नातिबृहत् पुस्तक लिखी है, उसमे उनकी प्रकाशित रचनाओ का ब्यौरेवार दिग्दशन कराया गया है। यहा पर मै केवल उनके असमाप्त उपन्यास 'जागरण' का विवरण दूँगा। वे जिस समय परलोक सिधारे, उस समय इस उपन्यास को लिखने मे लगे हुए थे। वे इसे समाप्त नही कर पाये और मृत्यु के पास से उनको बुलावा आ गया।

चलते हुए यह भी बता दिया जाय कि शरच्चन्द्र की अन्य जो रचनाएँ हमारे सामने मौजूद है, उनके अतिरिक्त केवल यही 'जागरण' ऐसी रचना नही है जिससे साहित्य वञ्चित रह गया, मृत्यु के कारण यह रचना हमे उसकी पूर्णता मे न मिल सकी, यह बात तो समझ मे आती है, पर उनके मित्रो की गफलत के कारण उनकी कई रचनाएँ खो गईं, और वे हमे प्राप्त नही हुईं। एक रचना 'वासा' या 'काकवासा', जो उपन्यास क्षेत्र मे उनका पहला प्रयास था, स्वय उन्ही के द्वारा नष्ट कर दी गई।

ईस्टलीन के अनुकरण मे उन्होने 'अभियान' नामक एक उपन्यास लिखा था, जो किसी साहब के पास था, पर उन्होने उसे खो दिया। इसी प्रकार 'माईटी ऐटम' के अनुकरण पर उन्होने 'पाषाण' नाम से एक उपन्यास लिखा था, जो खो गया। मजे की बात यह है कि यह उपन्यास उनके मामा श्री सुरेन्द्रनाथ गगोपाध्याय के पास था, और वे एक साहित्यिक थे, फिर भी यह उपन्यास खो गया। साहित्यिक होने के नाते उनको यह तो समझना चाहिए था कि लेखक के निकट रचना का क्या मूल्य होता है।

यहीं पर खोये हुए उपन्यासों की सूची समाप्त नहीं होती। 'ब्रह्मदैत्य' नाम से उन्होंने एक उपन्यास लिखा था, जो खो गया। इनके अतिरिक्त कुछ लेखकों का यह कहना है कि 'वाला', 'शिशु', 'छायारप्रेम', 'वामुन ठाकुर', आदि रचनाएँ खो गईं। पता नहीं ये रचनाएँ कैसी थीं, पर इनमें से दो, जैसा कि हम बता चुके हैं, अनुकरण में लिखी गई थीं, इस कारण न तो शरत् बाबू ने कभी इनके लिए अफसोस किया, और न हमें ही विशेष अफसोस है क्योंकि हम तो असली शरत् बाबू को जानना चाहते हैं। अवश्य यह कहा जा सकता है कि अनुकरण में भी प्रतिभा और सृष्टि-शक्ति का परिचय मिल सकता है। सम्भव है कि उन रचनाओं के प्राप्त होने पर यह ज्ञात होता कि गुरु गुड़ रह गए और चेला चीनी हो गए। ऐसा तो कई बार होता है न। जो कुछ भी हो शरत् बाबू ने अपनी सारी खोई हुई रचनाओं के लिए किसी को भी उलाहना नहीं दिया। उनकी सृष्टि-शक्ति तो एक उमड़ती हुई, कल-कल करती हुई महानदी की तरह थी, यदि उसमें का कुछ पानी बेकार में खर्च हो गया, तो इसकी उसे क्या चिन्ता थी। वह तो पीछे को लौटकर देखने के और हिसाब करने के आदी नहीं थे।

हम पाठकों को भी उन खोई हुई रचनाओं का उतना अफसोस नहीं है, क्योंकि जब हम जानते ही नहीं कि हमने क्या खोया, तो हमें खोने का दुःख अधिक नहीं हो सकता। पर जिस उपन्यास को वह असमाप्त छोड़ गए, उसके लिए हमें बहुत अधिक अफसोस इस कारण है कि हमारी ऐसी धारणा है कि 'जागरण' में वे अपनी पूर्ण विकसित टैकनीक का प्रयोग एक नई ही धारा के लिए कर रहे थे।

हम इस उपन्यास के सम्बन्ध में और कुछ न कहकर पहले पाठकों के सम्मुख इसका संक्षिप्त रूप रख देंगे जिससे कि उनके लिए यह सम्भव हो कि वे हमारी आलोचना के रस को पूर्ण रूप से ग्रहण कर सकें। उपन्यास का जितना हिस्सा वे लिख गए, वह ८० पृष्ठों में आया है, इसलिए हम उसका थोड़े में ही सारांश देंगे। सारांश यों है—

बैरिस्टर मिस्टर आर० एम० रे का असली नाम राधामाधव राय था। वे न तो ब्राह्मसमाजी थे, कट्टर हिन्दू तो थे ही नहीं, हाँ यह कहा जा सकता है कि विलायत से लौटे हुए लोगों की बिरादरी के थे। जब वे स्कूल का दरवाजा पार करके कालेज में कदम रखने ही वाले थे, तभी सात दिनों के अन्दर एक-एक करके उनके पिता तथा माता की मृत्यु हुई।

जमीदारों का परिवार था पिताजी काफी धन और जमीदारी छोड़ गए

थे। सबसे बड़ी बात जो वे छोड़ गए थे, वह यह थी कि वे एक विश्वस्त तथा चतुर कर्मचारी के हाथों में जमीदारी का काम सौंप गए थे। इसका नतीजा यह हुआ था कि रिश्तेदारों के सारे पेंच व्यर्थ गये थे, और मिस्टर रे को कभी अभाव का सामना नहीं हुआ।

बैरिस्टरी पास करने के बाद जब मिस्टर रे देश में लौटे, तो उन्होंने स्वाभाविक रूप से अपनी ही तरह एक साहब की शिक्षिता कन्या से विवाह कर लिया, और वे अयोध्या, प्रयाग, बम्बई आदि स्थानों में प्रैक्टिस करते रहे। कहना न होगा कि उन्होंने जो साहबी ठाठ अपनाया, वह अपनी बैरिस्टरी की कमाई की बदौलत नहीं, बल्कि जमींदारी की आमदनी की बदौलत कायम रहा। जमींदारी से जो रस निचोड़कर भेजा जाता था उसी से उनकी साहबी का पौधा पलता रहा। इस बीच उनके परिवार की संख्या में वृद्धि हुई, और एक पुत्र तथा एक कन्या पैदा हुई। पुत्र तो बचपन में ही मर गया। पत्नी भी बहुत दिनों तक बीमार रहने के बाद चल बसी। तब से मिस्टर रे नें बहाना पाकर कह लीजिए या वैराग्य के कारण बैरिस्टरी छोड़ दी। पर साहबी ठाठ तो कायम रहा ही।

इस समय साहब की उम्र पचास से ऊपर हो चुकी थी। वे अपनी कन्या को लेकर पछाँह के एक शहर में रहते थे। इतने में महात्मा गान्धी का असहयोग-आन्दोलन छिड़ा, और यद्यपि रे साहब न तो कोई राजनीतिज्ञ थे, और न कोई देश-भक्त, फिर भी समाचार-पत्रों के जरिये से असहयोग की लहर उनके हृदय पर भी लगी।

रे साहब समाचार-पत्र तथा आये हुए पत्रों को पढ़ने में व्यस्त थे, इतने में उनकी कन्या आलेख्य बाहर जानें की पोशाक में दिखलाई पड़ी। उधर से मकान के सामने मोटर के खड़े किये जानें की आवाज भी मालूम हुई। आलेख्य का रङ्ग गोरा नहीं था, क्योंकि बङ्गाली साहबों की लड़कियाँ गोरी नहीं होतीं। हाँ साबुन और पाउडर की बदौलत चमड़ी कुछ राख के रङ्ग की मालूम होनें लगती है।

यद्यपि माँ ने जबरदस्ती कन्या का नाम आलेख्य रखा था, और ऐसा नयेपन के लिए ही रखा था, फिर भी यह नाम मिस्टर रे को पसन्द नहीं था, और वे उसे आलो (शब्दार्थ-रोशनी) करके पुकारते थे। यह नाम उच्चारण की दृष्टि से आसान होने के कारण जल्दी ही प्रचलित हो गया, और कुछ लोगों के अलावा बाकी सब लोगों को यह पता ही नहीं लगा कि जमींदार-कन्या का एक अटपटा नाम भी है। वे सब उसे आलो ही करके जानते थे।

आलेख्य ने पिता से कहा—यदि आज लौटने मे कुछ देर हो जाय तो चिन्ता न करना। आज इन्दु के घर मे टनिस-टूर्नामेंट है। मै उसमें शरीक हूँ।

मिस्टर रे अपने पत्रो मे डूबे हुए थे, सिर उठाकर बोले—आलो बेटी देखो, अजीब-अजीब बाते हो रही है, मैने पहले ही कहा था कि यह सब होकर रहेगा।

लडकी अपने पिता को पहचानती थी। उनके लिए दुनिया में जो-कुछ होता है, वह सब होकर रहेगा की श्रेणी में है, और वे उसे पहले ही से जानते है। इस कारण वह सहसा समझ नही पाई कि उनका किस बात से अभिप्राय है। बोली—कौन सी बात पिताजी ?

मिस्टर रे ने पहले की तरह जोश मे कहा—पुलिस ने दो असहयोगियो को गिरफ्तार किया और मजिस्ट्रेट ने उन्हे कडी सजा दी है कोई छः-सात और पकडे जायँगे देखो क्या होता है।—कहकर उन्होने एक लम्बी साँस ली।

आलेख्य को इन बातो में दिलचस्पी नही थी। अखबारो में उसे कोई रस नही आता था। तिस पर इस समय उस पर टूर्नामेंट का भूत सवार था, फिर भी वह अपने निःसङ्ग, शोकजीर्ण, अकालवृद्ध पिता के आग्रह तथा आशङ्का की अवज्ञा न कर सकी। वह अपने पिता से सचमुच प्रेम करती थी। कलाई की घडी में उसने देखा कि अभी वह पिता को कुछ समय दे सकती है। बोली—उन व्यक्तियो ने क्या किया था ?

मिस्टर रे बोले—जो किया था, वह कोई मामूली बात नही है। वे गान्धीजी की तरफ से असहयोग का प्रचार कर रहे थे। कहते थे मार-काट मत करो, किसी अँग्रेज या भारतीय के प्रति विद्वेष न रखो, सरकार के साथ कोई सम्बन्ध न रखो, न उसकी नौकरी करो, और न उसकी कचहरियो में न्याय की आशा से जाओ।

आलेख्य बोली—इसका तो अर्थ यह हुआ कि वे देश मे अराजकतावाद फैलाना चाहते थे।

मिस्टर रे कुछ चौककर बोले—मालूम तो ऐसा ही होता है।

आलेख्य बोली—तब तो उन्हे जेल भेजना ही चाहिए।

यद्यपि मिस्टर रे कन्या के सब कथनो से सहमत होते चले आ रहे थे, पर कन्या ने उससे जो उपसहार निकाला, उससे वे सहमत न हो सके, बोले—यह नही कहा जा सकता कि जो कुछ ये लोग कर रहे है, वह सब यो ही कर रहे है। सरकार की तरफ से भी अन्याय हो रहे है।

आलेख्य सरकार के पक्ष या विपक्ष में नहीं थी, पर वह यह चाहती थी कि दुनिया जैसी है वैसी रहे। बोली—उस दिन हड़ताल में मोटर पर निकलने के कारण इन्दु के पिताजी की गाड़ी के काँच तोड़ दिये गए थे, यदि वह ईंट काँच पार करके कहीं इन्दु के पिताजी को लगती ?

मिस्टर रे को इन्दु के पिता के साथ सहानुभूति थी, पर वे बोले—जब उस दिन हड़ताल थी, तो मिस्टर घोष बाहर न निकलते तो अच्छा होता।

आलेख्य ने इस बात को पसन्द नहीं किया और बोली—गलत बात न मानकर उन्होंने तो साहस का परिचय दिया था।

मिस्टर रे बोले—बात गलत थी यह तुमने कैसे जाना ?

आलेख्य पिता की बात न मान सकी, पर इसके साथ ही उसे स्मरण हो आया कि हड़ताल के दिन मिस्टर रे को अस्पताल जाना था, वे पैदल ही गए थे। बोली—जो लोग पैदल गए थे, उन लोगों ने ठीक किया था। पर जो लोग इस गलत अनुरोध को न मान सके, उन पर ढेलेबाजी का अधिकार किसी को नहीं था।

मिस्टर रे ने अधिक तर्क नहीं किया। जब तक उनकी पत्नी जीवित रही, तब तक वह उन्हें दबाती रही। हमेशा वह बहुत अधिक खर्च करती थी, और रोक-थाम करने पर यह कहती थी कि इससे कम में कोई भला आदमी गुजारा नहीं कर सकता। अब वे बहुत-कुछ कन्या के अधीन थे, कभी उस पर अपनी राय लादने की चेष्टा नहीं करते थे। इसलिए वे बोले—जाओ तुम्हें देर हो रही है, मुझे भी चिट्ठी-पत्री लिखनी हैं। जल्दी आना।

आलेख्य इन्दु के घर में पहुँची तो वहाँ सब तैयार था, टूर्नामेंट घरेलू था। उसमें आलेख्य विजयी रही। इसके बाद चाय-पार्टी को दीर्घ होते देखकर आलेख्य चुपके से सटककर अपनी कार में जाकर सवार हो गई। उसे अपने एकाकी पिता का स्मरण हो आया था। वह जल्दी से घर पहुँची, तो देखती क्या है कि पिताजी सामान बाँधने में व्यस्त हैं। बोली—क्या बात है पिताजी ? कहीं जाने की तैयारी है क्या ? मैं जब गई थी तब तो कोई बात नहीं थी।

हाँ एक पत्र से यह मालूम हुआ कि जाना जरूरी है। मैंने तभी कहा था कि गाधी हमारा सत्यानाश करेगा। मैं समझ गया था कि ये स्वदेशी गुण्डे देश को मिटाकर मानेंगे।

कहकर उन्होंने अपनी जेब से एक चिट्ठी निकालकर कन्या के हाथ में दे दी, बोले—यदि इनको पकड़कर जेल में बन्द नहीं किया गया, तो देश का सत्यानाश हो जायगा।

अभी कुछ देर पहले उन्होंने बिलकुल दूसरी ही बात कही थी। मुनीम ने लिखा था कि हाल बुरा है, कोई लगान नहीं देता, लोग मार-काट पर भी कमर कसकर तैयार मालूम होते हैं।

पत्र पढ़कर आलेख्य का चेहरा फीका पड़ गया। बोली—पिताजी आप स्वयं जा रहे हैं?

—जाऊँ नहीं तो क्या करूँ? बिना गये काम नहीं बनने का। तुम चिन्ता न करो। घोष साहब से कह जाऊँगा, वे आकर दोनों समय खबर ले जाया करेंगे।

एकाएक आलेख्य बोल उठी—मैं भी आपके साथ जाऊँगी। आप जाकर दूसरे कमरे में बैठे, मैं सारा बन्दोबस्त किये लेती हूँ।

पिता को पुत्री की बात माननी पड़ी, पिता-पुत्री दोनों अपने देहाती घर में पहुँच गए। आलेख्य पहली ही बार अपने बाप-दादों के इलाके में आई थी। यही वह कल्पवृक्ष था, जिसे झकझोरते ही विलायत का खर्च, अच्छे-से-अच्छे खाने, पहनने की चीजें, सोना, चांदी, हीरा, मोती सब मिल जाते थे। उसकी माँ ने तो कभी इस तरफ ध्यान ही नहीं किया, पर वह कभी-कभी देखती थी कि जब बड़ी-बड़ी पार्टियाँ होती थीं, और उनमें मनमाने ढङ्ग से खर्च होता था, तो पिताजी कुछ उन्मन और दुखी होते थे। कई बार तो वे ब्रेक लगाने की कोशिश भी करते थे, पर उनकी चेष्टा सफल नहीं होती थी। धूम-धड़ाके के बीच वे दुःखी होकर एक किनारे बैठ जाते थे।

यहाँ आये हुए कुछ ही समय हुआ था कि आलेख्य को ऐसा मालूम पड़ा कि यह स्थान बिलकुल रहने के लायक नहीं है। कमरों को फिर से बाकायदा मैच कराके पेण्ट करवाने की जरूरत है। कुर्सी आदि में घटिया वार्निश है। वह भी आँख को कष्ट देने वाली है, इत्यादि-इत्यादि। सभी बाबा आदम के जमाने की हैं। चार-पाँच हजार लगे तो किसी तरह निर्वाह हो सकता है। कन्या ने इसी प्रस्ताव को पिता के सामने रखना चाहा। मिस्टर रे उस समय एक पण्डितजी के साथ बातचीत कर रहे थे, परिचय कराते हुए बोले—ये हमारे पुरोहित-वंश के हैं, इन्होंने हमारे ही एक इलाके में एक पाठशाला खोली है। इन्हें प्रणाम करो।

आलेख्य को यह आदेश अच्छा नहीं मालूम हुआ, क्योंकि वह बहुत निकट के गुरुजनों के अतिरिक्त और किसी को प्रणाम करने की अभ्यस्त नहीं थी। एक तो अपरिचित, और तिस पर पुरोहित, जिनके विरुद्ध वह बचपन से इतना अधिक सुनती आ रही थी। उसने किसी प्रकार पिता की आज्ञा का पालन

किया, और आगन्तुक के प्रति अवज्ञा दिखाती हुई बोली—पिताजी आपने देखा है इस घर के कमरों की क्या दुर्दशा हो रही है ?

मिस्टर रे बोले—ठीक तो है।

आलेख्य बोली—इसे आप ठीक कहते हैं। इन्हें फौरन नये सिरे से पेण्ट कराने की जरूरत है। ये लोग इतने दिनों से कर क्या रहे थे। पुराने आदमी कामचोर होते हैं। मैं इन्हें निकालकर तभी मानूँगी।

मिस्टर रे बोले—यहाँ पर रहना तो है नहीं, रहना हो तब तो बात दूसरी है।

—मैंने समझ लिया अब बिना रहे काम नहीं चलेगा।

मिस्टर रे ने अमरनाथ से कहा—तब तो अच्छी बात है, क्यों अमरनाथ ? इतने दिनों में यह समझ तो आई।

अमरनाथ ने कुछ नहीं कहा। मिस्टर रे बोले—जो रहना ही है, तो धीरे-धीरे सुधार किया जायगा।

—किया जायगा नहीं, अभी करना पड़ेगा।—कहकर उसने हाथ के अंग्रेजी उपन्यास के अन्दर से एक तार निकालकर दिखलाया कि मिस्टर घोष के परिवार के कई लोग जल्दी ही यहाँ आ रहे हैं।

मिस्टर रे बोले—तो कितने पैसे चाहिएँ ?

—मैं कह नहीं सकती, पर चार बड़े रूमों में चार ड्रेसिंग टेबिल, और कम-से-कम दस आराम कुर्सियाँ चाहिएँ।

सुनकर मिस्टर रे की फूँक सरक गई, वे अमरनाथ से बोले—भई मैं बहुत दुख के साथ कहता हूँ कि शायद मैं तुम्हारी पाठशाला की कुछ सहायता न कर पाऊँ।

—मालूम तो ऐसा ही होता है—कहकर अध्यापक, अमरनाथ हँसे।

आलेख्य के बदन में जैसे आग लग गई, उसने आगन्तुक की सम्पूर्ण रूप से अवज्ञा करके यह गिनाना शुरू किया कि चाय और डिनर के कितने सेट अवश्य और फौरन चाहिएँ। बोली—जब वे आएँगे तो आप राइट रायल इण्डियन स्टाइल में केले के पत्ते और सकोरे लेकर पेश नहीं कर सकते। मैं सब-कुछ ठीक कर लूँगी, आप चिन्ता न करें। इतने दिनों तक बहुत बेकार खर्च होते रहे। बेकार के लोग पलते रहे, मैं इन सबको निकाल बाहर कर रही हूँ। नौजवान कार्यकर्ताओं को नियुक्त करूँगी जिससे कि आधे पैसे पर डबल काम मिले। न मालूम कितने मन्दिर हैं, इनमें कितने रुपये बेकार खर्च होते हैं। एक इसी मद से मैं समझती हूँ सालाना दस-बारह हजार रुपये बच सकते हैं।

मिस्टर रे कुछ अन्यमनस्क हो गए थे, पर यह सुनकर एकदम चौंक पड़े, बोले—किस मद में बचाओगी ? देव-सेवा में ? वह तो पुरखों के जमाने से होती चली आ रही है, उसमें हाथ कैसे डालोगी ?

—मैं आपको दोष थोड़े ही दे रही हूँ। पुरखे जिस अपव्यय का सूत्रपात कर गए, उसे रोकना तो चाहिए। आपको स्मरण होगा कि माताजी बराबर इस बात पर कितना जोर देती रहीं थीं।

मिस्टर रे सुनकर चुप रहे, तब आलेख्य बोली—पिताजी क्या आपको मूर्ति-पूजा में विश्वास है ?

—बेटी मेरे विश्वास या अविश्वास पर इनकी प्रतिष्ठा नहीं हुई।

—तो आप इसका खर्च क्यों उठायँगे ?

—मैं तो खर्च नहीं उठा रहा हूँ। जो लोग इन मूर्तियों को सिर पर रख-कर ले आए और प्रतिष्ठित किया, वे ही इनके खर्च की व्यवस्था भी कर गए। बेटी, तुम भले ही उनमें विश्वास न रखो, पर मैं उनको वञ्चित होने नहीं दे सकता।

इसके उत्तर में आलेख्य कोई कड़ी बात कहने जा रही थी, पर उसने आश्चर्य के साथ देखा कि अध्यापक अमरनाथ, जो अभी तक चुप बैठे थे, एका-एक लपककर आगे बढ़े और उन्होंने रे साहब के पैर की धूल अपने माथे पर लगाई। जब रे साहब ने कारण पूछा, तो बोले—आपको प्रणाम नहीं किया था, उसी को सुधार लिया। अनजाने में मनुष्य से न मालूम कितनी गलतियाँ हो जाती हैं।

—मैं तो करीब-करीब ब्राह्मण ही नहीं रह गया।

आलेख्य को इस बात से बहुत क्रोध आया, बोली—अब तो आपको इनकी सहायता करनी ही पड़ेगी।

मिस्टर रे व्यंग को अनसुनी करते हुए बोले—करनी तो चाहिए, पर कर कहाँ पा रहा हूँ ?

—आप ऐसी सहायता करें तो कुछ छिपाकर करें।

—क्यों, इसमें क्या बात है ?

—नहीं तो विपत्ति होगी।

मिस्टर रे ने कहा—विपत्ति कैसी ?

अध्यापक जोर से हँस पड़े, बोले—डरिये मत, सारी विपत्तियाँ ड्रेसिंग-टेबल आदि के नीचे दब जायँगी।

आलेख्य तिलमिला गई, बोली—सम्भव है दब जायँ, पर आपने जो बूट की

धूल ली, और कुछ न हो उसका दाम भी तो चुकाना पड़ेगा।

कहकर वह स्वयं ही स्तब्ध हो गई।

रे साहब ने कहा—बेटी तुमने ठीक बात नहीं कही, अमरनाथ तुम जरा बैठो, मैं बाहर लोगों से मिलकर अभी-अभी वापस आता हूँ।

कमरे में दो ही रह गए। आलेख्य ने फौरन ही शरमाते हुए कहा—मैंने जो बात कही, वह उचित नहीं थी।

—हाँ उचित नहीं थी।

अध्यापक की यह बात भी उसे अच्छी नहीं लगी, बोली—पिता की मर्यादा करने पर कन्या को खुश होना चाहिए, मेरे पिता बहुत ही सज्जन हैं, पर उनके साथ धोखा करना भी आपके लिए अनुचित रहा।

अध्यापक ने प्रतिवाद किया, तो वह बोली—इस प्रकार आडम्बर के साथ उनके पैर छूने का और क्या अर्थ हो सकता है।

अध्यापक बोले—हो सकता है।

—तो फिर मुझे कुछ कहना नहीं है—कहकर वह चली जा रही थी, पर ठिठककर बोली—पिताजी की कमजोरियों का फायदा आपको नहीं उठाना चाहिए।

—मैं उन्हें कमजोर नहीं मानता। मैं उन्हे कमजोर तभी मानता जब वे स्नेह के कारण आपको तरह देते, या अपने अविश्वास के कारण जो कर्तव्य है, उससे च्युत हो जाते।

—याने आपका वक्तव्य यह है कि अपना विश्वास चाहे जो कुछ भी हो, जैसा चला आ रहा है उसे उसी प्रकार चलने देना चाहिए।

—मैं यह नहीं कहता। आपकी युक्ति विलायती ढंग की हुई। अपने विश्वास के तकाजे को मैं स्वीकार नहीं करता, पर उससे भी परे कुछ है, आप जब इस बात को नहीं मानतीं, तब तर्क से केवल कड़वापन ही पैदा होगा। मूर्तियों को यदि उपवास कराया जायगा, तो वे रोने नहीं आयेंगी, इस अर्थ में उन्हें चाहे सत्य समझ लीजिये चाहे असत्य, पर इतने रुपयों के आइने तथा विलायती मिट्टी के बरतन आदि खरीदे जायँगे, तो कुछ लोग ऐसे हैं, जो इस पर आवाज उठायँगे, शायद जोर से ही आवाज उठायँ।

आलेख्य ने ध्यान से देखा तो यह महाशय खद्दरधारी ज्ञात हुए। उसने ध्यान से देखा।। बोली—आप शायद असहयोगी हैं?

अध्यापक ने उत्तर दिया—हाँ?

—वटुकदेव किसका नाम है?

—वह मेरा ही प्रचलित नाम है।

आलेख्य बोली—तब तो मैं सारी बात समझ गई। आप हमारी चीजों का खरीदना किस प्रकार बन्द करेंगे? शायद लगानबन्दी करायें।

—कोई असम्भव बात नहीं है। किसानों की गाढ़ी कमाई के रुपये हैं।

आलेख्य बोली—पर मेरी भी सुन लीजिये, पिताजी निरीह व्यक्ति हैं, पर मैं निरीह नहीं हूँ। पुलिस से मुझे कुछ प्रेम नहीं है, पर मेरे निजी मामलों में हस्तक्षेप किया जायगा, किसानों के साथ मेरा विरोध कराया जायगा तो मैं मजबूर होकर आत्मरक्षा तो करूँगी ही।

कहकर जाने लगी, पर अमरनाथ ने कहा—पर आप ही यदि गलती पर हों तो;

आलेख्य बोली—सम्भव है कि क्या सही और क्या गलत है इस सम्बन्ध में आपकी और मेरी धारणा अलग हों।

जमींदारी के कामों में कन्या का उत्साह देखकर मिस्टर रे बहुत खुश हुए। बूढ़ों और बेकारों को निकालने का कार्यक्रम जारी हुआ। आलेख्य ने ऐसे लोगों की एक सूची बनाकर मैनेजर ब्रजसुन्दर को दी। वे उस सूची के एक-एक नाम को पढते जाते थे और उनका गला सूखता जाता था। एक नाम पर पहुँचकर बोले—यह नयन गाँगुली बड़ा ही गरीब है, बड़ा ही गरीब है, इनका और कोई नहीं······

गरीबों के लिए और उपाय हैं।

—पर देखिये······

—मैं इस सम्बन्ध में तर्क करना नहीं चाहती।

इस कारण ब्रजसुन्दर बाबू ने इन लोगों को निकालने का नोटिस दे दिया, पर जैसा कि होता है ये लोग सभी एकाएक दरख्वास्त लेकर पहुँचे, जिसमें प्रत्येक ने अपने परिवार की लम्बाई-चौड़ाई तथा और कोई उपाय न होने का दीर्घ वर्णन किया था। पर उनका कोई असर नहीं हुआ। आलेख्य बैठकर डाइनिंग-रूम के पेंटिंग की डिजाइन पसन्द करने में लगी हुई थी, इतने में उसे ऐसा अनुभव हुआ कि कोई अपरिचित व्यक्ति उसके सामने खड़ा है। आँख उठाकर देखा तो एक बहुत ही सुन्दर पतला फटा चीथड़ा पहने हुए बूढ़ा दिखाई पड़ा। आलेख्य ने चौंककर पूछा—कौन है? इसके उत्तर में वह बूढ़ा तुतलाकर बोला—मेरा नाम नयन गांगुली है। इस पर वह बोली—तुम यहाँ क्यों? तुम यहाँ क्यों? बूढ़ा बोला मेरी लड़की का नाम दुर्गा है, उसने मुझसे कहा, 'बाबा तुम उनके पास जाओ नौकरी अवश्य लग जायगी।'

आलेख्य समझ गई कि यह यह निकाले हुए व्यक्तियों में है। बोली—आप जाइए, मुझसे कुछ न होगा—कहकर उसने इंगित किया।

वह आदमी फिर भी नहीं, हिला बोला कि इन्हीं तेरह रुपयों पर उसकी, लड़की का तथा नाती का गुजारा होता है, दामाद आसाम में नौकरी करने गया था, तब से उसका पता नहीं लगा। ब्राह्मणी मर चुकी।

आलेख्य बिगड़ पड़ी, उसने कह दिया कि ऐसी बातें सुनने के लिए उसके निकट अवसर नहीं है। फिर भी वह आदमी अपने घर का वृत्तान्त सुनाता गया। अन्त में उसे चपरासी के द्वारा घर से निकाला गया तब छुट्टी मिली।

इसके कई दिन बाद आलेख्य घर सजाने में लगी हुई थी, इतने में मैनेजर साहब एक लड़के को साथ लेकर आए, बोले—आपने कहा था कि गैर-हाजिरी के लिए नयन गांगुली के जो पाँच रुपये काटे गए थे, उस पर पुनर्विचार करेंगी, सो अब आप क्या कहती हैं? नयन गांगुली को न जाने क्या समझ आई, उसने किसी फूल के बीज को खाकर आत्म-हत्या कर ली। उसकी लाश घर में पड़ी है। पुलिस आएगी तब कुछ होगा।

यह सुनकर आलेख्य के पैर के नीचे से जैसे जमीन खिसक गई। लाश की व्यवस्था आदि तो हो ही गई, पर आलेख्य के निकट कमरे को सजाना तथा उसकी पेंटिंग आदि बिलकुल अर्थहीन हो गई। अरे, यह क्या हुआ। बढ़ई और कारीगर डाँट खाकर लौट गए। नये ढङ्ग से काम करने पर यह विपत्ति हुई? उस व्यक्ति ने आत्म-हत्या करके इस प्रकार बदला लिया? केवल तेरह रुपयों के लिए आत्म-हत्या। उसके असंख्य जूतों में से किसी का भी दाम उससे अधिक होगा।

इस समय मिस्टर रे बाहर गये हुए थे। आज उनके लौटने की बात थी। आलेख्य आज किसी काम में जी न लगा सकी। अमरनाथ आए, आलेख्य ने उन्हें हाथ उठाकर नमस्कार किया, पर अमरनाथ ने प्रतिनमस्कार नहीं किया। वे बोले—काम से आया हूँ, मैं जानता हूँ कि आपको बहुत दुःख पहुँचा है, पर यह आपने क्या किया कि हाट के दिन शहर से पुलिस बुला ली?

आलेख्य चौंक पड़ी। यहाँ आने के अगले दिन ही उसने बिना कुछ समझे बूझे पिताजी को बिना बताये हुए मैजिस्ट्रेट को एक पत्र लिख दिया था। उसकी तामील में देर होते देखकर वह यह धारणा बना चुकी थी कि शायद वह पत्र पहुँचा ही नहीं या उस पर ख्याल नहीं किया गया। बोला—जाने दीजिए, क्या नुक्सान है?

अमरनाथ बोले—आप बाहर रहती हैं, आपको पता नहीं है, पुलिस

आयगी तो कुछ-न-कुछ ज्यादती करेगी, मीन-मेख निकालेगी और ताज्जुब नहीं कि हम लोगों में से दो-चार अपनी जानों से हाथ धो बैठें ।

आलेख्य ने पूछा कि ऐसा क्यों होगा, इसके उत्तर में अमरनाथ बोले कि लोग जिन बातों को पहले मान लेते थे, अब वे उन्हें मानने के लिए तैयार नहीं हैं। पर आलेख्य बोली कि उसे झूठ-मूठ डराया न जाय, वह डरती नहीं है ।

अभी-अभी सन्ध्या हुई थी । आलेख्य परेशान बैठी हुई थी, इतने में एक व्यक्ति पर्दा हटाकर भीतर घुसा और बोलने लगा—डरो मत बेटी, मैं भीख माँगने नहीं आया हूँ, ईश्वर की कृपा से मेरी हालत कुछ बुरी नहीं है। मुझे पढ़ी-लिखी विलायत से लौटी हुई स्त्रियों के सम्बन्ध में बड़ा कौतूहल है, इसलिए·······

मैं आज थकी हुई हूँ, इसी कारण·········

उस व्यक्ति ने कहा—मेरा नाम निमाई है, मैंने अमरनाथ से सारी बातें सुनी हैं। नयन गाँगुली वृद्धावस्था में सारी बातें सह न सका, इसलिए उसने आत्म-हत्या कर ली। अभी तक वे श्मशान से नहीं लौटे। उसकी लड़की डाढ़ मारकर रो रही है। लघुपाप में गुरु दण्ड कितने ही लोगों को होता है। जो हुआ सो हुआ। फिर भी परिताप तो होता ही है।

आलेख्य एक अपरिचित के अयाचित उपदेशों से मन-ही-मन बिगड़ रही थी, बोल उठी—यह आपको किसने कहा ?

—अमरनाथ ने कहा।

—पर मैं तो अपना इसमें कोई अपराध नहीं देखती। क्या बेकार आदमी को निकालना अपराध है ?

—अमरनाथ ने अपराध के विषय में कुछ नहीं कहा। तुम समझती हो कि मैंने कर्तव्य किया। पर कर्तव्य की बात कहकर तुम इस बूढ़े को चुप नहीं करा सकती। वह दुखिया बूढ़ा तुम्हारे ही अन्न से आजीवन पलता रहा, अन्त में तुम्हारे ही भय से कोई रास्ता न सूझने के कारण उसने आत्म-हत्या कर ली। अब उसकी लड़की पितृ-शोक में निरुपाय होकर रो रही है, नाती रोते-रोते श्मशान गया है। यहाँ कर्तव्य की बात कहकर असलियत को कैसे रोका जा सकता है।

अब तक आलेख्य किसी तरह रुकी रही, पर अब उससे रुका नहीं गया, और वह एकदम फुफकारकर रोने लगी। बूढ़े निमाई ने सान्त्वना देने की कोई चेष्टा नहीं की। पाँच-छः मिनिट बाद बोले—बेटी यह तो मुझे मालूम था। नहीं तो काहे को शिक्षक है और काहे की विद्या ?

आलेख्य बोली—मैं आपके देश में रहने के लिए आई थी पर अब तो मुँह दिखाने की भी गुन्जाइश नहीं रही।

बातचीत होती रही। आलेख्य ने बातचीत के दौरान में कहा कि नयन गाँगुली से सहानुभूति रखते हुए भी वह यह समझने में असमर्थ है कि उसने कोई गलती की है। इस पर निमाई बोले—मैं बूढ़ा हो चुका हूँ। शायद वह दिन देखकर न जा सकूँ, पर इस बात को बेटी तुम निश्चित रूप से जान लो कि आज जिन पर अकर्मण्य और बेकार होने का फतवा तुम जारी कर रही हो, कल उन्हीं के बाल-बच्चों के सामने तुम्हें इस बात का जवाब देना पड़ेगा कि तुम स्वयं किस लायक हो। उस दिन मानवता की कचहरी में जमीदार होने के नाते तुम्हारी अर्जी नहीं सुनी जायेगी। दुनिया में बुद्धिमानों ने अब तक इन्हें अफ़ीम खिलाकर सुला रखा था, पर आज अकस्मात् भूख की ज्वाला से उनकी नीद खुल गई है। यदि उसका पेट नहीं भरा तो नीति-शास्त्र के वचन और पुराने कानूनों के रौब में आकर वे शान्त होंगे, ऐसा नहीं ज्ञात होता।

इसी प्रकार दोनों में बातचीत होती रही। दोनों अपनी-अपनी हाँकते रहे आलेख्य एक समय बोली—असली बात तो यह है कि आप पण्डित लोग अँग्रेजी शिक्षा के विरुद्ध हैं। इसलिए आप लोग अपनी सब बातों को अच्छी और दूसरों की सब बातों को बुरी समझ लेते हैं। जब तक आप उनकी विद्याओं तथा विज्ञान को पढ़ और समझ नहीं लेते, तब तक आप निष्पक्ष होकर किसी बात पर विचार नहीं कर सकते। ऐसा स्वाभाविक ही है।

बूढ़े पंडित कुछ देर तक सिर झुकाकर सोचते रहे, फिर बोले—आत्म-गोपन से अपराध हो रहा है। तुम्हें यह बता देना चाहिए था कि मैं अपने जमाने में कालेज का नामी अध्यापक था। मेरे ही मातहत शिक्षा पाकर अमर-नाथ ने एम. ए. पास किया। तुम जिस विद्या और विज्ञान की बात कर रही हो, उस पर सम्पूर्ण अधिकार तो क्या होता, पर बिलकुल अनभिज्ञ हूँ ऐसा भी कहना गलत होगा।

सारी बात सुन कर आलेख्य चौंक पड़ी, जैसे किसी ने उसको मारा। बूढ़े पंडित उसके चेहरे की तरफ देखकर सारी परिस्थिति समझ गए, बोले—बेटी तुम थकी हुई हो, जाओ, यदि अमरनाथ पर कोई विपत्ति न पड़ी हो तो कल आकर दोनों तुम से फिर मिलेंगे—कहकर वे चले गए।

अगले दिन रे साहब जब घर पर लौटे, तो उन्हें नयन गाँगुली की आत्म-हत्या की बात का पता लगा। कन्या से कुछ भी न पूछकर वे सीधे उसके घर गये और घण्टों बाद जब लौटे, तब उनका चेहरा पहले से प्रसन्न था।

लौटकर भी उन्होंने कन्या से कुछ नहीं पूछा। जब उधर से कोई बात नहीं आई, तो आलेख्य ने ही पूछा—उनकी कोई व्यवस्था कर आये पिताजी ?

—नहीं, कोई विशेष व्यवस्था नहीं की।

—क्यों, कर क्यों नहीं आये ?

—बेटी, सम्पत्ति तुम्हारी है। तुम्हारे हाथों में सब-कुछ सौंपकर मैंने छुट्टी ले ली है। इसकी अच्छाई-बुराई सब तुम पर छोड़ी हुई है।

आलेख्य ने करुण कण्ठ से कहा—यदि नासमझी में मैंने कोई गलत बात कर डाली है, तो क्या उसका प्रतिकार आप नहीं करेंगे ?

—नहीं, मैं ही कौन सा बड़ा बुद्धिमान हूँ। कम-से-कम इसका प्रमाण तो मैं आज तक न दे सका। यदि नासमझी में तुमने कोई गलती की है, तो जो बुद्धि देने के मालिक हैं, वे ही तुम्हें बुद्धि देंगे।

आलेख्य धीरे से बोली—पिताजी जब तक आप मौजूद हैं, तब तक इसका बोझ मुझ पर मत डालिये।

थोड़ी देर दोनों चुप रहे। फिर आलेख्य बोली—लौटने के बाद से आपने मुझसे बात नहीं की। मैं सौ बार मानती हूँ कि मैंने बहुत गलत काम किया, पर मैं यह स्वप्न में भी नहीं सोच पाई थी कि वे हमें इतनी बड़ा सजा दे जायँगे।

रे साहब लड़की को पास खींचकर सान्त्वना देते रहे—बोले—तुम तो जानती हो बेटी की दुनिया में मैं तेज कदम से चल नहीं पाता, इस कारण सबसे पीछे रह जाता हूँ। मुझे तो सुस्ती का ही रास्ता आता है।

—मुझे वही पसन्द है।

—पसन्द है तो चलो, पर यह कभी न समझो कि मेरे रास्ते को कबूल करने के लिए तुम मजबूर हो।

आलेख्य बोली—अब मैं आपको देखकर यह समझ रही हूँ कि दौड़कर चलना ही आगे बढ़ना नहीं है। आप जब पीछे रह जाते थे, तो हम यह समझतीं थीं कि आप पीछे हैं, पर अब मैं समझ गई।

आलेख्य ने निमाई पण्डित की बात कही। इस पर रे साहब बोले—अच्छा वे जीवित हैं ? ऐसा असली आदमी तो दुर्लभ है। बेटो उनकी किसी तरह हमारे यहाँ अमर्यादा तो नहीं हुई ?

आलेख्य ने कहा कि नहीं। बात-बात में फिर नयन गाँगुली की बात आ गई। रे साहब बोले—पहले के युगों में भी एक दूसरे पर निर्भर होना था, पर ऐसा नहीं था कि एक अवलम्बन जाते ही आत्म-हत्या करने की नौबत

आये। उस जमाने में दो मुट्ठी अन्न तो सबको ही अपने घर में मिलता था।

आलेख्य बोली—दुनिया में धनी और दरिद्र रहें, तो रहें, पर इस तरह से एक का दूसरे पर इतना निर्भर होना किसी भी तरह मङ्गलकारक नहीं हो सकता। न तो धनी के लिए ही यह मङ्गलकारक है, और न दरिद्र के लिए ही। लोग कहते हैं कि नयन गांगुली का दिमाग कुछ फिरा हुआ था, हो सकता है, पर मैं इस बात को भूल नहीं सकती कि मेरे एक दर्पण में उनके पाँच साल की आयु संचित है। न मालूम और कितनों की मृत्यु का इतिहास हमारे जूतों, ब्लाउजों आदि की परतों में लिखा हुआ है।

इन बातों को सुनकर रे साहब डर गए, बोले—जाने भी दे। ऐसी बातें सोचने पर गृहस्थी एक मिनट के लिए चल नहीं सकती।

आलेख्य बोली—पिताजी आप ऐसा कह रहे हैं क्योंकि आपके माथे पर किसी बूढ़े की मृत्यु की कलङ्क-रेखा नहीं है।

इतनें में ज्ञात हुआ कि आज ही संन्ध्या समय इन्दुमती और कमलकिरण आ रहे हैं। तैयारी तो थी ही, और तेजी हो गई। डिनर बड़े ठाट से लगा। इतने में खबर आई कि कोई रे साहब से फौरन मिलना चाहता है। मालूम हुआ कि अमरनाथ है। रे साहब ने कहा—उसे यहीं ले आओ।

आलेख्य—शङ्कित हुई, पर वे वहीं बुलाये गए। अमरनाथ के सिर पर एक वैण्डेज बँधा हुआ था। रे साहब ने पूछा—मामला क्या है ?

अमरनाथ ने कहा—नहीं पुलिस ने नहीं मारा। गाँव के कुछ लोगों नें ही मारा है। कुछ भी नहीं मेरा थोड़ा सा रक्त-पात हुआ है।

रे साहब ने कहा—हुआ तो हमारे हाट में ही न ? अच्छा तुम कुछ खाये-पीये नहीं मालूम होते हो ? यहाँ तो शायद तुम्हारे खाने की कोई व्यवस्था न हो सके, क्यों क्या कहते हो ?

अमरनाथ मुस्कराये बोले—नहीं।

रे साहब ने अमरनाथ को विदा कर दिया। अब कमलकिरण आदि ने उस पर बातचीत शुरू कर दी। कमल ने पूछा—यही शायद आपके किसानों को भड़काता रहता है। यह हाट में गया क्यों था ?

—विलायती कपड़े की बिक्री रोकने।

—याने असहयोग का छोटा-मोटा पंडा है।

—हाँ।

कमल बोला—अब इस पर मुकदमा चलाना चाहिए। कम-से-कम मेरा

मारकेट होता तो मैं ऐसा ही करता।

रे साहब कुछ देर चुप रहकर बोले—उससे जितना लाभ होता, उससे अधिक क्षति होती।

इसी प्रकार और भी आलोचना होने लगी। नतीजा यह हुआ कि रे साहब को डिनर में कोई रस नहीं आया।

अमरनाथ फिर आया, और अपना दृष्टिकोण समझाने लगा। उसने कहा—मुझ पर जिन लोगों ने हाथ उठाया है, मैं यह चाहता हूँ कि उन पर किसी तरह की कार्रवाई न की जाय।

आलेख्य बोली—यह आप हम पर छोड़ें।

कमल ने कहा—और क्या ? जो हमारी जिम्मेदारी है, हम उसे देखेंगे। क्यों मिस्टर रे ?

रे साहब कुछ नहीं बोले। सबका मुँह ताकने लगे। बोले—इस पर शान्त चित्त से विचार हो।

अमरनाथ बोले—जमींदार और किसान के अतिरिक्त दुनिया में और लोग भी हैं, और कोई उनकी बात पसन्द करे या न पसन्द करे, उनका अस्तित्व लुप्त नहीं हुआ जाता।

आलेख्य का चेहरा कड़ा पड़ गया, बोली—अंग्रेजी में एक लफ्ज है 'बिजी बोडी; ये सर्वत्र मिलते हैं। हम अपने किसानों के सम्बन्ध में क्या करेंगी, यह हमारा कार्य है, पर यदि कोई व्यर्थ में हस्तक्षेप करे, तो उसको ठीक रास्ते पर लाने के लिए हमें अपना कर्तव्य करना पड़ेगा।

कन्या की बात सुनकर रे साहब बहुत क्षुब्ध हुए, बोले—बेटी, तुम लोगों के कार्यों से तुम लोगों की बातचीत कहीं अधिक कड़वी हो रही है। विशेष कर जब कि अमरनाथ तुम्हारे घर पर आये हुए हैं।

—अमरनाथजी सम्भ्रान्त व्यक्ति हैं, यदि मुझे कोई बात कहनी है, तो मैं अपनी बात और कहाँ कह सकती हूँ। इसकी क्षमा उनसे अवश्य मिल जायगी और यदि अपराध हुआ ही हो, तो उसे सम्पूर्ण कर देना चाहिए। अमरनाथ बाबू के साथ हमारे विचार नहीं मिलते, इस कारण वे हमारे किसानों को हमारे विरुद्ध भड़कायँगे, इसे मैं उचित नहीं समझती।

आलेख्य ने उस व्यक्ति का नाम जानना चाहा, जिसने अमरनाथ पर प्रहार किया था। पर अमरनाथ ने यह कहकर के बताने से इन्कार कर दिया कि इस कौतूहल को दमन करना ही पड़ेगा। आलेख्य बोली—यदि वे हमारे किसान न होते तो मैं नाम न पूछती।

—आप उन्हें सजा देना चाहती हैं और मैं यह समझता हूँ कि सजा देने से प्रतिकार नहीं होता।

—अन्याय का प्रतिकार सजा से ही होता है।

अमरनाथ बोला—मैं इस विषय पर आपसे तर्क करना नहीं चाहता। इतना मैं जानता हूँ कि अन्याय और अज्ञान ये दोनों एक चीज नहीं हैं। सजा देकर अज्ञान का प्रतिकार नहीं होता। उसके लिए कुछ और ही बात चाहिए।

अमरनाथ ने थोड़ी देर रुककर कहा—उन्होंने हमें मारा जरूर है, पर इस पर उन्हें सजा देने से बढ़कर मूर्खता और कुछ नहीं हो सकती।—कहकर अमरनाथ उठ खड़े हुए, और चलने के लिए उद्यत दिखाई पड़े।

रे साहब ने अकस्मात् कमलकिरण से पूछा—क्यों कमल, तुम्हारी क्या राय है?

फिर रुककर स्वयं ही अमरनाथ से बोले—जब तुम नहीं चाहते, तो फिर हम क्यों झगड़ा करें?

पर आलेख्य बोल उठी—बखेड़ा तो इन्होंने खड़ा किया, और अब उसका खमियाजा कौन भुगते?

अमरनाथ ठिठककर खड़े हो गए, बोले—अच्छी बात है। यदि आप लोगों को मेरी बात पसन्द नहीं है, तो अपने ढङ्ग से चलिये। मैं तो सजा देना निरर्थक मानता हूँ।

आलेख्य बोली—जो एक बाहरी व्यक्ति के लिए निरर्थक है, वह जमींदार के रूप में हमारे लिए निरर्थक शायद न हो, इतना तो आप समझते होंगे।

कमलकिरण बीच में बोल पड़ा—हम अपनी जिम्मेदारी को अपने ही हाथों में रखेंगे। एक थर्ड परसन को बीच में पड़ने की कोई जरूरत नहीं है। क्यों मिस्टर रे, आपकी क्या राय है?

रे साहब सबके मुँह देखने लगे। कुछ देर सोचकर बोले—अभी इस बात पर अन्तिम फैसला कर ही डालना पड़ेगा, ऐसी कोई बात नहीं है। बाद को शान्त होकर इस विषय पर विचार हो सकता है।

अब अमरनाथ निकल गए। उनके जाने पर आलेख्य बोली—पिता जी जब तक आप मौजूद हैं, तब तक आप ही जमींदारी के मालिक हैं। यदि आप यह चाहते हैं कि मैं ही सब काम-काज देखूँ, तो आप मुझे इस बात के लिए न कहें कि कभी इधर चलूँ कभी उधर। इससे तो अच्छा है कि पहले जैसा चल रहा था, अब भी वैसा ही चले।

पर मिस्टर रे ने कुछ नहीं कहा। इसका अर्थ दूसरों ने भले ही कुछ न समझा हो, पर आलेख्य समझ गई। बोली—इससे उन्हें प्रोत्साहन मिलता है। देश में जो वातावरण उत्पन्न हुआ है, उसमें एकाएक कुछ लोग बुद्ध और ईसा बनकर बैठ गए हैं। न मालूम कैसे ये लोग ऐसा समझ बैठे हैं कि जिनका कुछ है, उनको नुक्सान पहुँचाया जाय जिनका कुछ नहीं है, उनका भला होगा।

कमलकिरण अब तक अपने को रोके हुए था, बोला—जैसे पिता जी की गाड़ी के काँच के जङ्गले तोड़ दिये गए।

आलेख्य बोली—ऐसी बातों को सहन नहीं करना चाहिए।

कमलकिरण बोला—पिता जी की यही राय है।

आलेख्य बोली—मुसीबत तो यही है कि हमारे पिता जी की यह राय नहीं है। पिता जी आप तो जानते हैं कि इतने दिनों तक न देखने के कारण ज़मींदारी की सारी पद्धति में जङ्ग लग चुका है। यदि मैं इसे साफ करना चाहूँ, और कोई इस कारण आत्म-हत्या कर ले, तो मैं क्या करूँ? यदि ऐसा ही चलेगा तो हम लौट जायँ।

रे साहब बोले—पर अमरनाथ तो ऐसा नहीं है कि वह किसी को व्यर्थ में विपत्ति में डाले।

कमलकिरण बोल उठा—बल्कि मैं तो यह समझता हूँ कि अमरनाथ की तरह अशिक्षित देहाती ब्राह्मण गाँव के लोगों को भड़काने के लिए······

वह इतना ही कह पाया था कि उसने आलेख्य के मुँह की ओर देखा, तो उसकी बात बन्द हो गई। अब उत्तर-प्रत्युत्तर की जो धारा अनर्गल रूप से चल रही थी, वह रुक गई। कमलकिरण ने अपनी बातों की आलेख्य की ओर से जिस प्रतिक्रिया की आशा की थी, वह नहीं आई। अब जो बातचीत हुई वह अमरनाथ के कथित हस्तक्षेप से उत्पन्न परिस्थिति पर हुई। आलेख्य बोली—पिताजी कई बार आपने हमारा प्राप्य लगान माफ कर दिया।

मिस्टर रे मुस्कराकर बोले—प्राप्य माने न्याय-सङ्गत नहीं, यह तुम समझ लो बेटी। जो हमारा प्राप्य है, वह किसानों के लिए न्याय-सङ्गत देय नहीं भी हो सकता है। कमलकिरण इसका अर्थ नहीं समझ सका, पर आलेख्य समझ गई। सौभाग्य से बात दूसरी ओर मुड़ी और आलेख्य ने प्रस्ताव किया कि नाव से ज़मींदारी की यात्रा की जाय। रे साहब ने कहा—वे घर पर रहेंगे और दूसरे लोग जायँ।

एक दिन रे साहब अपने एक मित्र की बीमारी की खबर पाकर चल पड़े तो कमलकिरण की बहन इन्दु भी उनके साथ गई। दोनों पैदल चले।

गाँव के घर आदि देखकर इन्दु ने बहुत कौतूहल प्रदर्शित किया, केवल यही नहीं, वह बोल उठी कि उसे गाँव का जीवन बहुत पसन्द है, यहाँ तक कि उसने कहा कि वह गाँव में रहना पसन्द करेगी। इन्दु इसी तरह बहुत कुछ कहती रही, पर रे साहब कभी उत्तर देते थे, कभी नहीं देते थे। दोनों ने यह राय की कि रे साहब तो अपने मित्र के पास जायँ और इन्दु घूम-घूमकर गाँव और मैदान देखे। अलग होते समय रे साहब बोले—मैदान पार करने पर अमरनाथ की पाठशाला मिलेगी। यदि उधर निकल पड़ो तो अमरनाथ से कहना कि मुझसे मिले।

इन्दु उधर ही निकल पड़ी और अमरनाथ से मिली। अमरनाथ उसे अपने घर ले गए तो उनकी माँ तथा बहन ने उसका बड़ा स्वागत किया। इन्दु को ये लोग बहुत ही अच्छे लगें। कितने सरल और साफ-सुथरे थे, यद्यपि गरीब थे।

इतना ही लिखकर शरत बाबू और आगे न लिख सके। यह उपन्यास धारावाहिक रूप से मासिक 'बसुमती' में निकल रहा था। इस विषय पर अनुमान लड़ाना व्यर्थ है कि शरत् बाबू इस उपन्यास में आगे क्या करते, पर इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे इस उपन्यास में वैयक्तिक तथा पारिवारिक बातों तक अपने को सीमित न रखकर नई जमीन तैयार कर रहे थे। स्पष्ट ही यह एक राजनैतिक उपन्यास होता। राजनीति भी ऐसी कि उसमें साम्यवाद का पूरा पुट दिखाई पड़ता है। हमने कुछ विस्तार के साथ इस उपन्यास का संक्षिप्त विवरण तैयार किया, क्योंकि यह कृति शायद हिन्दी-संसार के सामने अन्य किसी रूप में न आ सके।

३६

गोर्की-साहित्य का सिंहावलोकन

विश्व-साहित्य में मैक्सिम गोर्की का नाम प्रगतिवाद के प्रतीक रूप में लिया जाता है। प्रेमचन्द अपने अन्तिम दिनों में गोर्की के बहुत बड़े प्रशंसक हो गए थे। सच तो यह है कि गोर्की की मृत्यु पर 'आज'-आफिस में जो सभा हुई थी, उसमें उन्होंने गोर्की पर जो भाषण दिया था, वही उसका अन्तिम भाषण प्रमाणित हुआ। प्रेमचन्द उन दिनों स्वयं करीब-करीब मृत्यु-शय्या पर थे, उनकी पत्नी ने उन्हें मना भी किया कि वे भाषण तैयार करने के चक्कर में न पड़ें, पर उन्होंने नहीं माना। उन्होंने भाषण तैयार किया और भाषण दिया। इस घटना का उल्लेख मैंने इस कारण किया कि गोर्की के प्रति सम्मान की जो भावना भारत में दृष्टिगोचर हो रही है, वह रूस के प्रशंसक उग्रवादियों के प्रचार-कार्य का परिणाम नहीं है। प्रेमचन्द जैसे साहित्य-मर्मज्ञ भी बहुत वर्ष पहले गोर्की के प्रशंसक बन चुके थे।

मैक्सिम गोर्की का जन्म १८६८ में नीजनी नोवोगराड में हुआ। यह रूस के अति प्राचीन नगरों में है और यहाँ एक मेला लगता है, जो एशिया के सबसे बड़े मेलों में से समझा जाता रहा है। अब इस नगर का नाम गोर्की रख दिया गया है। गोर्की का जीवन बड़ा ही विचित्र रहा, जिसके कुछ संस्मरण वे लिख गए हैं। शायद ही कोई धंधा उनसे छूटा हो। वे बचपन में ही अनाथ हो गए थे। वे रसोइये के नौकर, चिड़िया बेचने वाले, रोटी बनाने वाले, रेल के कुली सभी कुछ रहे। बात यह है, बहुत कम उम्र में ही वे अनाथ हो गए थे।

इस लेख में मैं उनकी जीवनी देना नहीं चाहता, पर दो-एक छोटी-मोटी बातों का इस कारण उल्लेख कर देना आवश्यक है, जिससे कि पता लगे कि किस प्रकार से वे जीवन को देखते थे। वे अपने संस्मरण को किस प्रकार से शुरू करते हैं, वह देखने लायक है। वे लिखते हैं :

'एक छोटी-सी धुँधली कोठरी के जंगले के नीचे फ़र्श पर मेरे पिताजी पड़े हुए थे। वे अच्छे खासे लम्बे थे और इस समय उनके सारे वस्त्र श्वेत थे।

उनके खाली पैरों की उँगलियाँ अजीब तरीके से दूर तक फैली हुई थीं, इसी प्रकार से उनके कोमल हाथों की उँगलियाँ बिखरी हुई थीं, और उनके हाथ उनके सीने पर एक-दूसरे को पार करते हुए पड़े थे। उनकी हँसती हुई आँखें ताँबे के सिक्कों की अनुज्ज्वल गोलाइयों से ढकी हुई थीं, उनका दयालु चेहरा पीला पड़ा हुआ था, और मैं उनके लगे हुए दाँतों की चमक से भयभीत हो रहा था। मेरी माँ एक लाल स्कर्ट पहने हुई थी, और कुछ उनके शरीर पर नहीं था। वे घुटना टेककर पिताजी के नरम बालों को उस काली कंघी से पीछे की ओर फेरने में लगी हुई थीं, जिसे मैंने तरबूज काटने के लिए इस्तेमाल किया था। वे भर्राई हुई आवाज़ में कुछ आवृत्ति कर रही थीं, उनकी भूरी आँखें सूजी हुई थीं, और ऐसा मालूम होता था कि वे आँखें बड़े-बड़े आँसुओं में पिघलकर रहेंगी।

मेरी नानी ने मेरा हाथ पकड़ रखा था। वह एक बड़े सिर वाली मोटी बल्कि गोल स्त्री थी। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें थीं, और उनकी मांसल नाक की बनावट कुछ ऐसी थी कि अजीब मालूम होता था। वह भी रो रही थी, पर इस अजीब तरीके से कि मेरी माँ के रोने के साथ वह खप जाय। उसके सारे अंग थर-थर काँप रहे थे, और वह बराबर मुझे मेरे पिता की ओर ढकेलती जाती थी, पर मैं उधर बढ़ नहीं रहा था, और अपनी नानी के स्कर्ट में छिप रहा था। मुझे डर मालूम हो रहा था और अच्छा नहीं लग रहा था।

इसके पहले मैंने कभी बड़ों को रोते नहीं देखा था, और मेरी नानी जो बराबर मुझसे कह रही थी—जा अपने पिता से विदाई ले ले। अब कभी तू उसे नहीं देख सकेगा। मेरे बच्चे, वह अपनी घड़ी से पहले अपने समय से पहले मर गया है–' मैं इसे समझ नहीं पा रहा था कि क्या कहा जा रहा है।"

इस प्रकार से गोर्की ने अपने पिता की मृत्यु के दृश्य से अपने संस्मरण को शुरू किया है। एक सद्योपितृहीन गरीब लड़का भय चकित होकर अपने पिता के शव को देखता है। यही इस संस्मरण का पहला दृश्य है। इसी प्रकार की घटनाओं से उनका जीवन भरा पड़ा है। ऐसी घटनाएँ तो प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में घटित होती हैं, पर जिस प्रकार से वे उस घटना को देखते हैं, वह वह उस घटना को महान् तथा ऐतिहासिक बना देती है। एक तो वे घटना को बहुत ब्यौरे में देखते हैं, दूसरे ठोकरें खाते-खाते वे यह समझते हैं कि इस प्रकार की अकरुण घटनाएँ केवल एक व्यक्ति के जीवन की नहीं हैं, इस कारण वे गहराइयों में जाने के लिए विवश होते हैं।

इसी कारण जब गोर्की ने पहले-पहल कलम पकड़ी तो उनकी कलम से 'फोमा गोरदेयेफ' नामक एक उपन्यास निकला, जिसमें उन्होंने ऐसे चरित्रों का निर्माण किया, जो आर्थिक व्यवस्थाओं के कारण कुचल दिये गए हैं। स्वाभाविक रूप से जार की सरकार ऐसे लेखक को पसन्द नहीं कर सकती थी। शुरू से ही रूस की स्वेच्छाचारी सरकार के साथ गोर्की का झगड़ा चला, पर वे दबे नहीं। बहुत जल्दी वे क्रान्तिकारी लेखक के रूप में स्वीकृत हो गए।

उनकी 'माँ' नामक रचना ने रूस में उथल-पुथल मचा दी। यह उपन्यास १९०६ के करीब सामने आया। १९०५ की असफल क्रान्ति के साथ जैसे इस उपन्यास का अंगागी सम्बन्ध है। यह काफी बड़ा उपन्यास है, हिन्दी में भी इसके अनुवाद निकल चुके हैं, फिर भी हम बहुत संक्षेप में इसका सार देने की चेष्टा करेंगे। मजदूर-जीवन को लेकर इस उपन्यास का प्रारम्भ होता है। सार यों है—

प्रतिदिन सुबह मजदूरों की बस्ती में कारखाने की सीटी वायु को चीरती हुई बजती है। मजदूर उसे सुनकर भद्दी भाषा में, भर्राई हुई आवाज में आपस में बात करते हुए चल पड़ते हैं। दिन भर मशीनों के इर्द-गिर्द में वे मशीन बने रहते हैं। संध्या समय लोग, जिनके चेहरे काले पड़ चुके हैं, भूख-प्यास से व्याकुल घरों की ओर चल पड़ते हैं। यद्यपि वे थके-माँदे हैं, और उनके शरीरों से मशीन के तेल की बू आ रही है, फिर भी इस समय उनकी आवाजों में कुछ सजीवता यहाँ तक कि खुशी झलकती है। एक और दिन का काम हो चुका, अब घर में विश्राम तथा रात्रि का भोजन होगा।

कारखाने में दिन भर बीता। मशीनों से जितना बन पड़ा, मजदूरों की शक्ति चूस ली। रविवार को लोग दस बजे तक सोते थे, और इसके बाद उनमें जो दम्पति गण्यमान्य होते थे, वे अपने सबसे अच्छे कपड़े पहनकर गिर्जों में चल देते थे, और रास्ते में उन नौजवानों की हँसी उड़ाते जाते थे, जो धर्म के प्रति उदासीन हैं।

इस प्रकार पचास साल जीने के बाद पुरुष मर जाते थे। इसी प्रकार का जीवन मिखैल व्लासौफ बिताता था। वह कुछ अधिक लोमश था, और उसकी घनी भौंहों के नीचे से लोगों के प्रति अविश्वास और घृणा टपकती थी। बात यह है कि कारखाने में वह सबसे अच्छा यन्त्र-मज़दूर था, पर वह अपने बड़ों से चिड़चिड़ेपन का बर्ताव करता था, इस कारण वह अच्छे पैसे नहीं बना पाता था। प्रति रविवार को वह किसी-न-किसी को मारता था, इसलिए उसे कोई पसन्द नहीं करता था। जब लोग उससे बदला लेने की चेष्टा करते थे,

तो वे सफल नहीं होते थे। वह हर समय मारने-मरने के लिए तैयार रहता था, इस कारण उससे कोई पार नहीं पाता था। कुतिया का बच्चा ये शब्द हर समय उसकी ज़बान पर लगे ही रहते थे। वह अपनी स्त्री को भी हमेशा कुतिया के नाम से सम्बोधित करता था। जब उसका लड़का पावेल चौदह साल का हुआ, तो वह उसके बाल पकड़कर मारना ही चाहता था कि पावेल ने एक बड़ा-सा हथौड़ा उठा लिया, और संक्षेप में कहा—"बस"। इस पर मिखैल ने कहा—"यह क्या ?" पावेल ने कहा—"मैं बहुत पिट चुका, बस आज से खतम है।"

मिखैल ने अपने पुत्र को ध्यान से देखा, फिर उसने हाथ हटा लिया। बोला—अच्छी बात है।

फिर कुछ देर तक सोचकर एक गहरी साँस लेते हुए बोला—तुम कुतिया के बच्चे तो हो।

इसके कुछ दिनों बाद उसने अपनी स्त्री से कहा—आज से मुझसे पैसे न माँगना। अब पावेल तुम्हें खिलायगा।

और तुम शायद सारे रुपयों की शराब पियोगे ?

इससे तुमसे कोई मतलब नहीं। यदि मैं चाहूँ तो मैं किसी औरत को भी रख सकता हूँ।

उसने औरत तो नहीं रखी, पर इसके दो साल बाद तक जब तक वह जिन्दा रहा, तब तक उसने अपने बेटे से बातचीत नहीं की। मिखैल के पास एक बाल वाला बड़ा-सा कुत्ता था। यह कुत्ता मालिक के साथ-साथ कारखाने जाता था, और फाटक पर उसकी प्रतीक्षा करता रहता था। छुट्टी के दिनों में जब मिखैल दिन भर इधर से उधर मानो किसी को खोजता हुआ घूमता था, तो यह कुत्ता उसके साथ रहता था। शराब पी चुकने पर वह कुत्ते को अपने बरतन से खिलाता था। अक्सर वह रात को खाने के बाद गाना भी गाता था, पर उसके गाने सुनकर लोगों के रोंगटे खड़े हो जाते थे। भाषा तो समझ में आती ही न थी, और सुर भी ऐसा था जैसे चीते जाड़े की रातों में शोर मचाते हैं। फिर वह सो जाता था। कुत्ता उसके बगल में रहता था।

वह एक चोट के कारण रक्तपात से मरा। पाँच दिनों तक वह बिस्तरे में पड़े-पड़े उछलता-सा रहा, फिर वह मर गया। उसकी स्त्री ने डॉक्टर बुलाया था, और डॉक्टर ने कहा भी था कि आपरेशन करने पर ठीक हो जायेगा, पर उसने डाक्टर को बुरी तरह गालियाँ देकर कहा—कुतिया के बच्चे, मैं तुम्हारी मदद के बिना ही मर सकता हूँ।

डॉक्टर के जाने पर स्त्री ने आँखों में आँसू भरकर कहा कि वह आपरेशन करा ले, पर उसनें घूँसा उठाकर कहा—जानती हो, मैं अगर ज़िन्दा रहा, तो तुम्हारे लिए और ख़राबी ही रहेगी।

उसके शव को उसकी स्त्री, बेटा तथा कुछ दूसरे लोग मिलकर ले गए। कुत्ता भी साथ में था। मरने पर लोगों ने उसकी और अधिक बुराई की। कुत्ता कब्रिस्तान में बना रहा, कभी इधर-उधर चला जाता। अन्त में किसी नें उसको जान से मारकर उसे आवागमन से मुक्त कर दिया।

इसके दो हफ़्ते बाद पावेल एक दिन रविवार को रात में शराब से मतवाला होकर घर आया, और उसका पिता जहाँ बैठता था, वहीं धम से बैठकर उसी तरह से टाँगें फैलाकर बोला—खाना।

माँ पास में आई, और लड़के को अपनी ओर खींचने लगी, पर लड़के ने उसे पास नहीं आने दिया। बोला—मुझे पिता का पाइप दो। मैं पिऊँगा।

पहली बार वह शराब पीकर घर आया था। यद्यपि पीने से उसका शरीर कमजोर हो चुका था, पर उसके मन में प्रश्न उठ रहा था—क्या मैं होश में नहीं हूँ ?

माँ ने उसके बालों में हाथ रखे, बोली—तुम्हें ऐसा करना नहीं चाहिए था बेटा।

पावेल को मतली आने लगी। क़ै करने के बाद कुछ हल्की हुई, और माँ ने उसके सिर पर एक भीगा तौलिया रखकर उसे लिटा दिया। इससे अवस्था में कुछ उन्नति हुई। वह सोच रहा था कि इतने लोग पीते हैं, पर मैं ही क्यों पस्त हो गया, इसका अर्थ यह है कि मैं अभी कम उम्र हूँ। वह इस प्रकार सोच ही रहा था कि जैसे कहीं दूर से यह आवाज़ आई—बेटा तुम पियोगे, तो तुम मेरा पालन किस तरह कर सकोगे ?

इस पर आँखों को अच्छी तरह बन्द करते हुए पावेल ने कहा—पीते तो सब लोग हैं ?

माँ ने गहरी साँस ली। बात तो सच्ची थी। शराबख़ानों में ही लोगों को थोड़ी-बहुत शान्ति मिलती थी। बोली—बेटा पीने की आदत मत डालो। तुम्हारे बाप अपने लिए और तुम्हारे लिए काफी पी गए। क्या उनके हाथों से जो कष्ट मुझे मिले, वे यथेष्ट नहीं हैं ?—प्रश्न विलीन हो गया।

पावेल ने जब य सुन्दर स्नेह में पगे शब्द सुने, तो उसे स्मरण आया कि जब तक उसके पिता जीवित थे, तब तक घर में माँ का कोई अस्तित्व नहीं था, वह मार पड़ने के डर से हमेशा सहमी हुई रहती थी। उसके माथे पर

दाहिनी भौंह के ऊपर एक बड़ा-सा दाग़ था। वह कुछ-कुछ रोने लगी। पावेल बोला—रोग्रो मत माँ, मुझे शराब दो।

माँ बोली—ठंडा पानी देती हूँ।

पर जब वह पानी लेकर लौटी, तब तक लड़का सो चुका था। इसके बाद वह पानी रखकर देवी-देवताओं से बड़ी आकुल प्रार्थना करने लगी।

पावेल ने उन सब शौक़ों को पूरा किया, जो एक नौजवान आशा से की जा सकती थी। उसनें एक आकोर्डियन बाजा खरीदा था, कड़ी इस्तरी वाली एक कमीज़ खरीदी, रङ्गीन भड़कदार टाई खरीदी, एक बेंत खरीदा इत्यादि-इत्यादि, याने वह अपनें ढंग के नौजवानों की तरह हो गया। उसने नाचना भी सीखा, और रविवार को शराब से बेहोश होकर लौटने लगा। माँ बेटे पर देख-रेख रखती थी, जैसा कि एक माँ ही रख सकती है। एकाएक माँ ने देखा कि वह कुछ दुबला पड़ रहा है, उसकी आँखें गम्भीर मालूम होती हैं, और होठों पर निश्चय के चिह्न ज्ञात होते हैं। उसके दोस्त घर आकर लौट जाते थे, क्योंकि इन दिनों वह घर पर मिलता नहीं था। माँ कई बार पूछ लेती थी कि बेटा तबियत तो ठीक है न? इस पर वह कहता था कि हाँ, मैं बिलकुल ठीक हूँ।

कभी-कभी वह किताबें भी लाने लगा, उन्हें वह सदा चुराकर रखता, और चुरा कर ही पढ़ता, कभी-कभी वह उनमें से कुछ लिखता फिर उन लिखे हुए कागज़ों को चुराकर रख लेता। माँ बेटे में अब बातचीत बहुत कम होती। वह चुपचाप चाय पीता, फिर कारखानें की ओर चल देता। छुट्टियों में वह सवेरे ही निकल जाता, और रात को घर लौटता। अब वह पहले की तरह छैला बनने की कोशिश न करके सफ़ाई की तरफ़ अधिक ध्यान देने लगा। माँ और बेटे के सम्बन्ध में भी परिवर्तन आए। अब वह मौक़ा लगते ही घर की झाड़-बुहार में हाथ बँटाता, और छुट्टियों के दिनों में तो वह अपना बिस्तरा आप लगाता। इस सारी बस्ती में ऐसा तो कोई भी मर्द नहीं करता था।

एक दिन वह घर में एक तस्वीर लाया, और उसे टाँग दिया। माँ से बोला—यह ईसा का चित्र है।

घर में पुस्तकों की संख्या बढ़ने लगी, और घर अच्छा मालूम देने लगा। पर अक्सर वह रात को लौटता, न शराब पिये होता न और कोई बात। माँ मन में भय खाने लगी। दूसरे जैसा करते हैं, वह तो साधारण है, पर इस का व्यवहार तो साधुओं-जैसा है। तब वह सोचनें लगी कि शायद कोई लड़की इसमें हो। पर लड़कियों के साथ दोस्ती में तो पैसे लगते हैं, और यह तो करीब-

करीब सारा उपार्जन मुझे लाकर दे देता है।

एक रात को पावेल पर्दा लगाकर कुछ पढ़ रहा था कि माँ बरतन माँजने से निवृत्त होकर बेटे के पास आई, बोली—बेटा, यह दिन-रात तुम क्या पढ़ा करते हो ?

पावेल ने पुस्तक बन्द कर ली, बोला—बैठो माँ, मैं निषिद्ध पुस्तकों को पढ़ा करता हूँ। इन पुस्तकों में हम मजदूरों के विषय में सच्ची बातें लिखी हैं। यदि मैं इन्हें पढ़ता हुआ पाया जाऊँ, तो मुझे जेल भेज दिया जाय।

माँ को ऐसा अनुभव हुआ, मानो वह किसी अजनबी से बात कर रही हो। पावेल का बोलना बतलाना, ताकना सब इस प्रकार का था, जिस से वह परिचित नहीं थी। वह अपने ही लड़के से भयभीत सी हो गई, बोली—बेटा, तुम ऐसा क्यों कर रहे हो ?

—मैं सत्य को जानना चाहता हूँ।

माँ रोने लगी। वह जीवन में सभी बातों को सहन करने की अभ्यस्त थी। पावेल बोला—माँ रोओ मत, पर माँ ने ऐसा सुना जैसे लड़का विदाई माँग रहा हो। पावेल फिर बोला—देखो, हमारी जिन्दगी को तो देखो। तुमने अपनें चालीस साल के जीवन में क्या पाया ? पिताजी तुमको पीटा करते थे। अब मैं समझता हूँ कि वे अपनें जीवन के कडुवेपन को तुम पर डालते थे। वे तीस साल तक काम करते रहे, पर वे यह नहीं जान पाये कि यह कड़वापन कहाँ से आ रहा है। जब उन्होंने काम शुरू किया था, तो कारखाने में केवल दो इमारतें थीं, पर अब सात हैं, फिर भी उनका जीवन वैसा रहा।

माँ बेटे की बात भय-चकित होकर सुनती रही, पर उसके हृदय के अन्दर एक अभूतपूर्व गुदगुदी पैदा हुई, बोलना चाहती थी—पर अकेले तुम क्या कर लोगे मेरे लाल—पर वह बोली—तुम क्या करोगे ?

पावेल बोला—पहले हम मजदूरों को यह जानना चाहिए कि हमारी हालत ऐसी क्यों है, फिर हमें दूसरों को बताना चाहिए। जल्दी ही अंधकार दूर हो जायगा। जाओ अब जाकर सो जाओ। मैंने तुम्हें सब-कुछ बता दिया।

माँ की आँखों में आँसू आ गए। वह समझ गई कि उसका लड़का विपत्ति में है, पर कैसी विपत्ति है, इसका कुछ पता उसे नहीं था।

इस घटना के बाद जीवन पहले की तरह चुपचाप चलने लगा। एक दिन पावेल ने माँ से कहा—शनिवारको हमारे यहाँ शहरसे कुछ लोग आयेंगे।

सुनकर माँ सन्न हो गई। पावेल बोला—क्या बात है माँ ? क्या तुम डर रही हो ?

—हाँ मैं डर रही हूँ। मैं सारा जीवन डरती रही हूँ।

—डर ही तो हमारे विनाश का कारण है।

जब शनिवार को पावेल कारखाने जाने लगा, तो वह कह गया—कोई आये तो कह देना अभी आयगा।

यथा समय लोग आये। माँ ने डरते हुए उनका स्वागत किया। वे प्रतीक्षा करने लगे। पहले जो व्यक्ति आया, उसने माँ के साथ तरह तरह की बातें कीं। माँ को कुछ साहस हो गया, और वह बोली—चाय पीना हो तो तैयार है। दूसरे नम्बर पर एक ठिगनी-सी लड़की आई। उससे भी माँ की बातचीत हुई। माँ उसके लिए भी चाय तैयार करने लग गई। यह लड़की माँ को बहुत पसन्द आई। माँ चाय बनाती जाती थी, और उन दोनों की बातचीत सुनती थी। तीसरे नम्बर पर जो व्यक्ति आया, वह पुराने चोर डानीला का लड़का निकोलाई था। इस व्यक्ति को देखकर माँ खुश नहीं हुई, पर उस ने देखा कि पहले आये हुए लोगों ने निकोलाई का स्वागत किया। इस के बाद और भी लोग आये, फिर पावेल आया, जो यह देखकर बहुत खुश हुआ कि माँ ने सबका स्वागत किया है, और उनके लिए चाय बना रही है। माँ ने पूछा—क्या यही वे निषिद्ध लोग हैं ?

—हाँ ये ही वे लोग हैं—कहकर वह चला गया।

माँ ने सोचा कि ये तो सब बच्चे हैं, ये भला क्या खतरनाक हो सकते हैं ? पावेल ने माँ को डराने के लिये कुछ अत्युक्ति से काम लिया होगा।

बग़ल के कमरे में कोई किताब पढ़ी जाने लगी और उस पर आलोचना होने लगी। मां खुशी से सब को चाय पहुँचाती रही। जब उस ने इन नौजवानों को देखा, तो उस के हृदय में एक एक ऐसी खुशी व्याप्त हो गई, जो अभूतपूर्व थी। आये हुये लोगों में मज़दूरों की दुर्दशा पर बातचीत होती रही। जब वह लड़की नाटाशा चलने लगी, तब मां बोली—तुम्हारे पैर में जो मोजे हैं, वे इस मौसम के लिये उपयुक्त नहीं हैं, क्या मैं तुम्हारे लिए मोजों का एक अच्छा जोड़ा बुन दूँ ?

सुनकर नाटाशा चुप हो गई, माँ समझी कि उसने कोई बेअक्ली की बात कह दी; वह झेंप गई, पर नाटाशा ने माँ को आश्वासन दिया। जब सब लोग चले गए, तो माँ-बेटे में बातचीत होने लगी। अन्त में पावेल ने कहा—हम

कोई खराब काम नहीं कर रहे हैं पर किसी-न-किसी दिन हम जेल में अवश्य पहुँच जायँगे ।

माँ बोली—शायद ईश्वर तुम्हें बचा ले ।

—नहीं मैं तुम्हें भ्रम में नहीं रखना चाहता, जेल में एक-न-एक दिन हमें अवश्य जाना है ।

माँ की सारी खुशी का अन्त हो गया, और वह देर तक ईसा मसीह से प्रार्थना करती रही ।

लोग पावेल के घर में आने जाने लगे । नाटाशा को माँ ने एक जोड़ा मौज़ा बुनकर दिया । अब नाटाशा से अक्सर माँ की बातचीत भी होती थी । इस बातचीत में कभी तो बिलकुल व्यक्तिगत बातें होतीं, और कभी वह लड़की माँ को उद्देश्य समझाती । बाकी सब लोगों से भी माँ की बातचीत होती । सब माँ को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे । नए-नए चेहरे भी दिखाई पड़ने लगे । एक दिन एक लड़की ने कहा, और माँ ने उसे सुन लिया—हम समाजवादी हैं ।

माँ ने पावेल से उस दिन पूछा—क्यों बेटा, तुम समाजवादी हो क्या ?

पावेल ने कहा—हाँ, तुम क्यों पूछती हो ?

—मैं इसलिए पूछती हूँ कि समाजवादी तो सम्राट् के विरुद्ध हैं, और एक समाजवादी ने तो एक सम्राट् को मार ही डाला ।

पावेल ने समझाया कि हमें उस तरह काम करने की ज़रूरत नहीं है । इस पर माँ को तसल्ली हो गई । माँ ने देखा कि एक लड़की शाशा हर-एक को हुक्म देती है, पावेल को भी आँख दिखलाती है । माँ को यह लड़की पसन्द नहीं आई । माँ ने देखा कि कभी-कभी ये लोग बहुत खुश रहते हैं । ध्यान से देखने पर वह समझ गई कि जब दूसरे देशों के मज़दूरों के सम्बन्ध में कोई ख़बर आती है, तब ये लोग खुश होते हैं । कभी तो ये लोग इटालियन मज़दूरों की जय मनाते हैं, तो कभी जर्मन-मज़दूरों की । सारी दुनिया के मज़दूरों की भलाई-बुराई से ये खुश अथवा नाखुश होते थे । ये लोग कभी-कभी गाने भी गाते थे, और इनमें से एक गाना माँ को बहुत पसन्द आया । ऐसा मालूम होता था कि पुरानी दुनिया की गुलामी से यह गाना मुक्ति का सन्देश देता है ।

कारख़ाने के बाद ही लोग आकर जुट जाते थे । मुंह धोने और चाय पीने की भी फुरसत उन्हें नहीं होती थी, और वे पुस्तक हाथ में लेकर पढ़ने और आलोचना करने में जुट पड़ते थे । अब ये लोग अख़बार निकालने की बात भी करने लगे । पर इन की आलोचना अब इतनी गूढ़ होने लगी कि माँ के

लिए उनकी बातों को समझना कठिन हो गया। थोड़ दिनों में एक साथी, जो माँ को बहुत पसन्द था, आकर उस घर में रहने भी लगा।

माँ इधर-उधर बाज़ार में हो जाती, तो अब उसे कई बार उसकी जान पहचान की स्त्रियों ने पावेल के सम्बन्ध में चेतावनी देनी शुरू की। इससे माँ को कुछ भय हुआ, पर वह कुछ बोल न सकी। एक दिन आण्ड्रेई, जो पावेल के घर में रहता था, पावेल से बोला कि मुझे नाटाशा पसन्द है। पावेल ने कहा कि इसी कारण नटाशा ने यहाँ आना छोड़ दिया। बात यहीं तक रह गई।

बस्ती में लोग समाजवादियों के विषय में कानाफूसी करने लगे, और यह कहने लगे कि यही लोग पर्चे बांटते हैं। कारखाने से मुनाफ़ा बनाने वाले अधेड़ लोग कहने लगे कि इनका दमन होना चाहिए। मज़दूर कहने लगे कि पर्चे बाँटने से क्या होता है। पर एक बार जब पर्चे बँटने में देर हो गई, तो वे कुछ परेशान हुए। जब पर्चा देर से ही निकल गया, तो लोग खुश हुए। माँ को पावेल की भलाई के सम्बन्ध में चिन्ता होने लगी। इतने में एक स्त्री ने चुपके से उसे ख़बर दी कि उसके तथा कई अन्य साथियों के घर में रात को तलाशी होने वाली है। सुनकर वह सन्न रह गई, पर लड़के की भलाई के कारण वह उठ खड़ी हुई। उसने घर की सारी पुस्तकों को जमा कर लिया। और उनको बटोरकर जलाने के लिए तैयार हो गई। पर कुछ समझकर वह उन पुस्तकों को लेकर तैयार खड़ी रही, पर उन्हें आग में नहीं झोंका। जब पावेल तथा आण्ड्रेई आये, तो वह कुछ आश्वस्त हुई। पावेल बोला—यदि तुम यह दिखाओ कि तुम डर रही हो, तब तो मुसीबत आ जायगी। तुम तो जानती हो कि हम लोग कोई बुरा काम नहीं कर रहे हैं और न्याय हमारे साथ है। हम न्याय के लिए लड़ रहे हैं यही हमारा दोष है।

उस रात को तलाशी नहीं हुई। पर इसके एक महीने बाद जब तीन साथी रात को बात कर रहे थे, तो पुलिस वाले आये। माँ लेट चुकी थी, पर उठ खड़ी हुई। पावेल ने माँ को सो जाने के लिए कहा। पुलिस वालों ने आकर पावेल को घेर लिया, और कहा कि तुम्हारे घर की तलाशी होनी है। पुलिस-अफसर ने पुस्तकों को उठाकर देखना शुरू किया। वह एक-एक किताब देखता था और उनको फर्श पर फेंकता जाता था। अन्त में अफसर ने पूछा कि ये पुस्तकें किसकी हैं? पावेल ने कहा कि ये मेरी पुस्तकें हैं। अफसर ने आण्ड्रेई से पूछा कि तुम वही हो न, जिसने राजनैतिक मामलों में जेल काटी है? उसने कहा कि हाँ मैं वही हूँ, पर उन स्थानों में, जहाँ मैं पकड़ा गया था, पुलिस के अफ़सर अधिक भद्र थे।

आण्ड्रई को गिरफ़्तार कर लिया गया। माँ ने इसका प्रतिवाद किया, पर उसका कुछ नतीजा नहीं हुआ। पुलिस वालों ने कुछ और क्रान्तिकारियों को गिरफ़्तार किया, पर पावेल गिरफ़्तार नहीं किया गया, क्योंकि उसके घर में कुछ नहीं निकला था। पावेल ने अपने दो गिरफ़्तार साथियों से विदाई ली, तो पुलिस-अफ़सर ने कहा—घबराओ नहीं, जल्दी ही सब का मिलन होगा।

पुलिस वाले गिरफ़्तार लोगों को लेकर बूट चर्र-चर्र करते हुए चले गए। पावेल ने माँ से कहा—देखा, कैसे ये लोग काम करते हैं?

पावेल गिरफ़्तार नहीं हुआ था, इस कारण माँ को शान्त होना चाहिए था, पर उसके सामने जिस प्रकार पुलिस वालों ने व्यवहार किया, बात-की-बात में वे लोगों को गिरफ़्तार करके ले गए, उससे वह शान्ति नहीं पा सकी। पावेल का चित्त भी व्याकुल हो रहा था। माँ समझ गई, बोली—"बेटा क्या बात है?" पावेल बोला—"मुझे पकड़कर ले जाते तो ज्यादा अच्छा रहता।"

माँ ने अपने को कहते हुए सुना—प्रतीक्षा करो, व तुम्हें भी ले जायँगे।

इतना कहकर वह चुप हो गई। पावेल बोला कि हाँ मुझे वे ले जायेंगे। इस पर माँ का हृदय एकाएक भर आया, बोली—तुम बड़े कड़े हो। तुम्हें चाहिए था कि मुझे सान्त्वना देते, सो नहीं तुम मुझसे न मालूम क्या-क्या मनहूस बातें कहलवा रहे हो।

पावेल बोला—पर यह तो होना ही है, इसलिए तुम्हें इसका अभ्यस्त हो जाना चाहिए।

अगले दिन मालूम हुआ कि और भी क्रान्तिकारी साथी गिरफ्तार हुए हैं। यह देखा गया कि गिरफ़्तारियों का असर साधारण मज़दूरों पर बहुत अच्छा रहा। जो लोग कभी कुछ सोचते नहीं थे, वे भी सोचते हुए दिखाई पड़े। एक पड़ोसी ने आकर माँ से कहा—उनके हाथ में जो भी शस्त्र पड़ जाता है, उसी से वे हम पर बार करते हैं, उन्होंने हम पर एक झूठा ईश्वर भी लाद दिया है, जो उन्हीं का मतलब सिद्ध करता है। उन्होंने उस ईश्वर में झूठ और बुरी बातों का ताना-बाना डाल दिया है, हमें इस ईश्वर को भी शुद्ध करना पड़ेगा, क्योंकि उसकी सहायता से वे हमारी आत्मा को मारते हैं।

इस तरह वह कितनी ही बातें कहता गया, पर माँ बोली—ऐसी बातें सुनना मेरी शक्ति के बाहर है।

उस दिन माँ ने सोते समय प्रार्थना नहीं की। उधर वह व्यक्ति धर्म की और बुराई करता रहा। कहता रहा कि हमें विश्वास बदलना चाहिए, गिर्जे

तो मानो ईश्वर के कब्रिस्तान हैं। माँ ऐसी बातें प्रतिदिन और अधिक सुनती रही, और वह उनकी अभ्यस्त हो गई। कभी-कभी माँ को ऐसा प्रतीत होता था कि ये लोग जो ईश्वर को गालियाँ देते हैं, वे ही ईश्वर के असली भक्त हैं। ऐसी बात सोचते समय अनीश्वरवादियों के प्रति माँ के मन में जो व्यथा थी, वह दूर हो जाती थी।

प्रति सप्ताह वह आण्ड्रेई के लिए पुस्तकें और धुले हुए कपड़े ले जाती थी। वह देखती थी कि जेल में भी आण्ड्रेई उसी प्रकार से खुश है। इस से माँ को यही धारणा होती थी कि कष्ट तो अवश्य होता होगा, पर वह उसे चुपचाप सहन करता है और किसी को बताना नहीं चाहता।

बस्ती में लोग पावेल के घर पर अधिक आने-जाने लगे। ऐसा अक्सर होता कि किसी को कोई शिकायत होती, तो वह दरख्वास्त बनाकर पावेल के पास आता, और कहता कि भाई तुम तो कानून पढ़े हो, बताओ......। पावेल भी यथासाध्य सहायता देता।

कारखाने के पास एक दलदल थी, मालिक की जमीन में यह दलदल पड़ती थी। उसने इसे दलदल से खेती के लायक ज़मीन बनाने का इरादा किया था। तो यह काम या उसके मुनाफ़े का, पर उसने ऐसा दिखाया मानो वह यह सारा काम मज़दूरों की स्वास्थ्योन्नति के लिए कर रहा हो, इसलिए यह हुक्म दिया गया कि मज़दूरी में प्रति रूबल एक कोपेक कटौती की जायगी। पावेल उस दिन बीमारी के कारण छुट्टी पर था, इस कारण उसे कुछ पता नहीं लगा था। दो गण्यमान्य कारीगर जिनका क्रान्तिकारियों से कोई सम्बन्ध नहीं था, पावेल के पास इस सम्बन्ध में आये। फौरन पावेल ने कुछ लिखा और माँ को देते हुए कहा—इसे पहुँचा दो।

—क्या यह ख़तरनाक है ?

—हाँ, मैं तुम्हें वहाँ भेज रहा हूँ, जहाँ से हमारा पत्र निकलता है। कोपेक कटौती की बात फौरन समाचार रूप में निकल जाने चाहिए।

यह पहला काम था, जिसे लड़के ने माँ को दिया था। माँ बोली अच्छी बात है, और वह निकल पड़ी। बड़ी देर में वह लौटी, वह थकी हुई थी पर खुश थी। माँ ने उन क्रान्तिकारियों को पसन्द किया था, जिनसे वह आज मिलकर आई थी। पावेल सुनकर खुश हुआ।

सोमवार को भी पावेल कारख़ाने नहीं गया। उस दिन लोग उसके पास आए, और बोले—सारा कारखाना विद्रोह में उठ खड़ा हुआ है, चलो।

बिना कुछ कहे-सुने बीमार होते हुए भी पावेल चल पड़ा। कारखाने के

सब लोग सभा सी कर रहे थे। वह अनीश्वरवादी कह रहा था कि हम कौपेक के लिए नहीं लड़ रहे हैं, हम न्याय के लिए लड़ रहे हैं। सबने उसकी बात पसन्द की। पावेल पहुँचा तो माँ भी साथ में थी। जब पावेल बोलने के लिए खड़ा हुआ, तो माँ ने देखा कि उसका चेहरा पीला है। उसमें इच्छा हुई कि वह बेटे के पास पहुँचे, इसलिए वह धक्के खाती और देती हुई बेटे के पास पहुँच गई। पावेल कुछ सहमा, हिचकिचाया, फिर बोलने लगा—हम ही वे लोग है जो गिर्जे और कारखाने बनाते हैं, हम जन्जीर और धन का उत्पादन करते हैं। पालने से लेकर कब्र तक लोग जिस जीवित शक्ति के कारण जीते हैं, हम ही वह जीवित शक्ति हैं, फिर भी हमें कोई मनुष्य नहीं समझता।

इस प्रकार से वह कहता गया। थोड़ी देर में मालिक वहाँ आ गया, बोला—काम क्यों बन्द है ?

किसी ने कुछ नहीं कहा, तब पावेल ने कहा—हम मजदूरों के तीन प्रतिनिधि हैं। आपसे यह माँग करना चाहते हैं कि आप कोपेक-सम्बन्धी अपने फैसले को रद्द कर दें।

मालिक समझाने लगा कि स्वास्थ्योन्नति के लिए यह काम किया जा रहा है। पर लोगों ने उसके तर्क को नहीं माना, तब मालिक यह धमकी देकर चला गया कि १५ मिनटों के अन्दर काम पर लौटो, नहीं तो जुर्माना किया जायगा। जब मालिक चला गया तो लोगों ने पावेल से पूछा कि अब क्या होना चाहिए, पावेल ने कहा कि हमें तब तक काम नहीं करना चाहिए, जब तक कि हमारी माँग पूरी न हो। इस पर कुछ लोगों ने कहा कि ऐसा करना तो हड़ताल करना होगा, इस पर आपस में बड़ा मतभेद हो गया। पावेल दुखी होकर माँ के साथ घर लौट गया, बीमार तो वह था ही। उसी रात को पुलिस वाले आये और पावेल को गिरफ्तार कर लिया। माँ उस समय सो चुकी थी, वह हड़बड़ाकर उठी और बेटे के मुँह की तरफ देखने लगी। माँ की यह इच्छा हो रही थी कि वह धाड़ मारकर रोये, पर उसने जो पुलिस-अफ़सर को देखा, तो उसे यह प्रतीत हुआ कि यह व्यक्ति इसी की प्रतीक्षा कर रहा है कि माँ रोये-धोये, तो वह खुश हो। इस कारण वह नहीं रोई। जब पावेल चलने लगा, तो अपनी सारी शक्ति बटोरकर माँ ने उस के हाथ को अपने हाथ में लिया, और बोली—बेटा तुमने सब-कुछ ले लिया न ?

—हाँ, तुम गम न करना···

—ईश्वर तुम्हारी भलाई करे।

जब पुलिस वाले चले गए तो वह एकदम से गिर पड़ी, पर धीरे-धीरे बेटे

के निर्भीक चेहरे की याद आई, तो वह सँभल गई और उसका मन उन लोगों के लिये घृणा से पूर्ण हो गया, जो माँ और बेटों को इस कारण अलग कर देते हैं कि बेटा न्याय का पुजारी है। वह यही सोचने लगी कि मुझे भी ले जाते, तो अच्छा रहता। भीतर से वह दुखी हुई, पर ऊपर से नहीं। उस दिन उसने खाना नहीं पकाया, चाय तक नहीं पी। जब वह रात को एक टुकड़ा रोटी खाकर सोने लगी, तब उसे ऐसा अनुभव हुआ मानो उसके लिए दुनिया सूनी हो गई। वह गया तो सब-कुछ गया।

वह आशा करती थी कि कोई आयेगा, पर कोई नहीं आया। रात को किसी ने जङ्गले पर टकटक किया, तो उसने दरवाजा खोल दिया, तो दो युवक घुस आए। उन्होंने बताया कि पावेल के साथ जेल में और भी पचास के करीब साथी हैं, और उसनें माँ को सन्देश भेजा है कि वह गम न करे। उन क्रान्तिकारियों ने कहा कि पर्चे निकालना तो जारी रखना पड़ेगा, नहीं तो पुलिस यह समझेगा कि पावेल के गिरफ़्तार होते ही सब काम ठण्डा हो गया, इसलिए पावेल को कभी न छोड़ा जाय। माँ भी इस बात को समझ गई।

आगन्तुक बोला--साहित्य तो है, पर सभी गिरफ़्तार हो चुके, कारख़ाने में उसे कैसे पहुँचाया जाय।

माँ समझ गई कि लड़के उससे कुछ काम चाहते हैं। बोली—मुझे दो 'मैं सब काम करूँगी। मुझे दो' अब रोजी के लिए कारखाने में काम करना ही है। वे देखें कि पावेल के हाथ जेल में भी पहुँच जाते हैं।

आगन्तुकों ने माँ की तारीफ़ की। फिर उन्होंने माँ को तसल्ली दी। माँ बोली—कभी वे मेरे बेटे को समझेंगे।

अगले दिन माँ ने जाकर मारिया नामक फेरी वाली की सहायिका के रूप में नौकरी क़र ली। ये दोपहर की छुट्टी के समय मजदूरों में फेरी करती थी। जब वह काम पर गई तो किसी ने उसे भला कहा किसी ने बुरा। वह इस काम के बहाने कारख़ाने में क्रान्तिकारियों के पर्चे पहुँचाने लगी। अब माँ को शाशा आदि कई लड़कियों से साबका पड़ता रहा। शाशा जेल हो आई थी। जेल के सब कष्टों को सुनकर माँ बोली—इन सब कष्टों के लिए तुम्हें पुरस्कार कौन देगा?–फिर जैसे अपने प्रश्न का उत्तर आप ही देती हुई बोली—इसका पुरस्कार तो ईश्वर ही दे सकते हैं, पर तुम तो शायद ईश्वर में विश्वास नहीं करती।

उस लड़कों ने सिर हिलाते हुए कहा—नहीं।

माँ एकाएक जोश में आकर बोल पड़ी—तब मैं भी तुम्हारा विश्वास

नहीं करती ।—फिर कुछ सोचकर वोली—तुम अपने विश्वास के सम्बन्ध में स्वयं ही नहीं जानती । यदि ईश्वर में विश्वास न होता, तो तुम कैसे इस प्रकार का जीवन व्यतीत कर सकती थीं ?

इसी प्रकार से माँ रोटी कमाती रही, और साथ-ही-साथ पावेल के द्वारा छोड़े हुए कार्य को चलाती रही । माँ अपने स्वप्नों को कभी नहीं छोड़ती रही । एक दिन एक प्रधान क्रान्तिकारी येगोर ने माँ से कहा—यदि वे तुम्हारे पास से पर्चे बरामद करें, तो तुम क्या कहोगी कि कहाँ से मिले ?

माँ वोली—मैं कहूँगी कि उनसे कोई मतलब नहीं ।

येगोर बोला—पर उनसे मतलब तो है । यदि तुम न बताओगी, तो वे पूछते ही रहेंगे ।

—मैं नहीं बताऊँगी । क्या वे मुझे मारें-पीटेंगे ?

येगोर बोला—पर माँ तुमको कष्ट तो होगा ।

माँ बोली—कष्ट तो सभी को है । जो लोग समझकर काम कर रहे हैं, उनके लिए शायद काम करना ज्यादा आसान है, पर मैं भी धीरे-धीरे चीज़ों को समझ रही हूँ ।

येगोर बोला —जब माँ तुम इतना समझती हो, तो यह जान लो कि सभी को तुम्हारी आवश्यकता है ।

इस पर माँ मुस्कराई । माँ बड़ी सावधानी से पर्चों को छिपाकर कारखाने में जाती । हर एक की तलाशी ली जाती थी, और मज़दूर बुरा-भला कहते थे । कोई कहता था तलाशी हमारे दिमाग की लेनी चाहिए, कोई और कुछ कहता था । माँ की भी तलाशी होती थी, पर वह बड़ी आसानी से तलाशी लेनें वालों की आँखों में धूल डालकर चली जाती थी । वह अपने काम से बहुत खुश थी ।

एक दिन आण्ड्रेई छटकर आ गया । माँ को खुशी भी हुई, और कुछ निराशा भी । आण्ड्रेई पावेल की खबर लाया था । पावेल अच्छी तरह था, और आण्ड्रेई ने कहा कि वह जल्दी ही छोड़ दिया जायगा । माँ ने यह भी बताया कि वह आजकल क्या काम कर रही है । वह बोली—पहले मेरी ज़िन्दगी में क्या था ? मार और काम । मैं यह भी नहीं जानती थी कि मैं पावेल को प्यार करती हूँ । मेरा बस एक ही काम था कि अपने उस पशु को खुश रखूँ, कहीं उसके खाने में देर न हो जाय जिससे मैं मार से बची रहूँ । बीस साल तक मैं ऐसा जीवन बिताती रही । मेरा पति मर गया, तब मैंने लड़के की तरफ आँख फेरीं, फिर उसे काम करते देखा, और मेरा मन

भय से भर गया कि कहीं कुछ उसका अकल्याण न हो। पर यह तो विशुद्ध प्रेम नहीं था, यह तो एक स्त्री का प्रेम था। पर जब मैंने तुम लोगों को कष्ट झेलते हुए, जेल जाते हुए देखा, तो मुझमें एक और ही भावना हुई। मैंनें सोचा विशुद्ध प्रेम इन्हीं लोगों में है। पर मुझमें तो वैसा नहीं है। मैं तो केवल अपने लोगों से ही प्रेम करती हूँ। तुममें वह प्रेम है, इसलिए वह जेल में बैठा है, तुमने जनता के लिए अपना सुख छोड़ दिया।

अगले दिन जब माँ फाटक पर पहुँची, तो पुलिस वाले ने उसे रोका। बोला—सब समान उतार दो।

माँ ने प्रतिवाद किया। खाने की चीजें ठण्डी हो जायँगी, तो कोई नहीं खरीदेगा। इसी समय कुछ गड़बड़ी हुई, और उस का फायदा उठाकर माँ अपनी चीज़ों के नाम पुकारती हुई भीतर घुस गई।

माँ को धीरे-धीरे पता लगा कि ये क्रान्तिकारी अपनी सारी आमदनी भी इसी काम में लगा देते हैं। इससे कुछ विशेष आश्चर्य तो नहीं हुआ, पर माँ को और भी विश्वास हो गया कि ये लोग अच्छा काम कर रहे हैं। पर साथ ही साथ बार-बार माँ के मन में इस प्रकार के विचार भी उठते थे खैर मेरा जीवन तो गुज़र गया, मेरा पति तो काई से लदे हुए एक भारी और कष्टकर पत्थर की तरह था, पर आण्ड्रेई नाटाशा से और पावेल शाशा से शादी करे, तो कितना अच्छा रहे।

माँ तो अपने स्वप्नों में विभोर रही, और आण्ड्रेई आदि अपने स्वप्नों में विभोर थे। एक दिन आण्ड्रेई बोला—माँ जी, अब कुछ पढ़ना लिखना सीखो, तो कैसा रहे ?

यद्यपि माँ ने आँख कमज़ोर है कहकर पढ़ना अस्वीकार कर दिया, फिर भी समय-समय पर वह किसी कठिन शब्द का अर्थ पूछती रहती थी, जिससे आण्ड्रेई ने यह समझा कि वह गुप्त रूप से अध्ययन कर रही है।

कई बार वह पावेल के साथ मिलने गई, पर जेल कर्मचारी ने हँसकर कहा कि माँ तुम्हें कुछ दिन और प्रतीक्षा करने पड़ेगी। इस पर माँ एक दिन बोली—आदमी हँसमुख है।

आण्ड्रेई बोला—हाँ यह लोग सब बड़े शरीफ और हँसमुख हैं। पर जब उनको हुक्म दिया जाता है कि यह आदमी बड़ा बुद्धिमान है, इसे फाँसी पर चढ़ा दो, तो वे उसे हँसते हुए फाँसी पर चढ़ाते हैं, और फिर हँसते ही रहते हैं।

—पर गिरफ़्तार करने वाला व्यक्ति और किस्म का था, उसे देखते ही

कोई भी भाँप सकता था कि वह सुअर है।

—इनमें से कोई आदमी नहीं है। वे तो पुर्जे हैं।

अन्त में पावेल से भेंट करने की अनुमति मिली। वहाँ पर और भी लोग अपने प्रियजनों से मिलने के लिए आये थे। पावेल हमेशा की तरह शान्त था, पर कुछ पीला पड़ गया था। जेलर सामने खड़ा रहा। माँ बेटे से लिपटना चाहती थी, पर जेलर ने जमुहाई लेते हुए कहा कि दूर रहो। कुशल-प्रश्न के बाद माँ बोली कि शाशा ने नमस्ते भेजा है। पावेल की भौंहें कुछ हिलीं, फिर वह मुस्कराया। माँ बोली—बेटा तुम्हें वे छोड़ तो देंगे न? वे पर्चे फिर कारखाने में बँटे।

—अच्छा?—पावेल का चेहरा दमकने लगा।

जेलर जैसे नींद से जगते हुए बोला—ऐसे विषयों पर बात करना मना है। केवल पारिवारिक कुशल पूछो।

पावेल ने कहा—अपनी बातें कहो।

माँ नटखटपन की चमक आँखों में लाती हुई बोली—मैं उन चीज़ों को कारखाने में ले जाती हूँ—कहकर कुछ रुकती हुई बोली—याने मैं खाने की चीज़ें ले जाती हूँ।

पावेल अर्थ समझ गया। माँ बोली—जब पर्चे निकले तो मेरी भी तलाशी हुई—माँ के स्वर में गर्व का पुट था।

जेलर ने फिर दाँत दिखाये। फ़ौरन ही बोला—समय समाप्त।

माँ बेटा मिलकर अलग हुए। पावेल ने कहा—जल्दी जाऊँगा।

एक दिन संध्या समय माँ मोज़ा बुन रही थी, और आण्ड्रेई माँ को रोम के दासों के विद्रोह के सम्बन्ध में पढ़कर सुना रहा था, तो उस समय एक साथी आया और बोला—सीधे जेल से आ रहा हूँ, पावेल का नमस्ते।

और भी क्रान्तिकारी आये, और सब माँ की प्रशंसा करते रहे। जीवन चलता रहा। एक दिन एक वाचाल लड़की माँ से विदाई लेते समय बोली—विदाई कामरेड।

इस पर माँ ने हँसी रोकते हुए कहा—विदाई।

जब वह लड़की जाने लगी। तो माँ बहुत दूर तक उसे देखती रही और मन में बोली—मेरी प्यारी बच्ची तुम्हें ईश्वर ऐसा कामरेड दे, जो तुम्हारे साथ जीवन की यात्रा करे।

इस प्रकार से साथियों में माँ का जीवन कटता रहा। वह अब इन लोगों के जीवन को बहुत-कुछ समझती रही, और यह अनुभव करती रही कि दुःख

के मूल कारण को इन्होंने पा लिया है, और ये सही मार्ग पर चल रहे हैं। वह बराबर पर्चों को ले जाती रही। कई बार माँ की तलाशी ली गई, पर कभी कुछ मिला नहीं। बात यह है कि जिस दिन पर्चे निकलते थे उस के अगले दिन तलाशी होती थी और उस दिन उसके पास कुछ होता नहीं था। जब माँ के पास कुछ होता नहीं था, तो वह जान-बूझकर इस ढङ्ग से चलती थी कि खुफ़ियों का उस पर शक हो जाता था, और वे उसकी तलाशी लेते थे। बिना कारण तलाशी लिये जाने पर माँ बड़बड़ाती थी, इस प्रकार एक तमाशा बनता था, जिसे वह खूब उपभोग करती थी।

माँ के घर में पहले की तरह क्रान्तिकारियों का अड्डा जमता था। एक रविवार को माँ जब दुकान से आई, तो चौखट पर से उसने पावेल की आवाज़ सुन ली, और माँ को ऐसा अनुभव हुआ मानो वह खुशी से बिखर पड़ेगी। माँ बेटा लिपट पड़े। पावेल बोला—माँ धन्यवाद, माँ ने कहा भला क्यों, तो पावेल बोला—हमारे काम में सहायता देने के लिए, वह सुख न्यारा ही है, जब कोई कह सके कि वह और उसकी माँ एक ही तरह के विचार रखते हैं।

माँ बहुत खुश हुई, और लड़के को रसोईख़ाने में ले गई। फिर वही रवैया चला, पावेल और दूसरे लोगों में वही अन्तहीन बहस और मन्त्रणा शुरू हुई, जिसका कुछ अंश माँ समझती थी, और कुछ अंश नहीं समझती थी।

मई दिवस की तैयारी शुरू हुई। नाटाशा भी जेल काटकर आ गई। शाशा भी कभी-कभी आती थी। एक दिन पावेल शाशा को घर के बाहर तक छोड़ने के लिए गया तो दरवाज़ा बन्द करना भूल गया, माँ ने यह सुना कि पावेल मई दिवस में झण्डा उठाना तय कर चुका है, और शाशा उसे मना कर रही है। माँ ने शाशा को मना करने में कुछ ऐसी गहराई पाई, जो ध्यानयोग्य थी। पर माँ को बेटे के सम्बन्ध में चिन्ता हो गई, क्योंकि पावेल ने शाशा की बात नहीं मानी। माँ ने बेटे से पूछा—तो पावेल ने मान लिया कि वह जल जाने वाला है। बेटे ने पूछा—तो क्या मुझे रोक रही हो ?

माँ बोली—नहीं तो, मैंने कुछ नहीं कहा—पर वह दुःखी थी, और बेटे की उठी हुई आँखों के सामने उसकी आँखें झेंप गईं।

पावेल बोला—वैसी माँएँ कब होंगी, जो हँसती हुई अपने बेटों को मृत्यु के मुँह में भेज सकें ?

—मैंने कुछ नहीं कहा। पर क्या करूँ मैं माँ तो हूँ।

माँ की सारी खुशी समाप्त हो गई, पर वह ऊपर से दृढ़ बनी रही। माँ

ने यह देखा कि आण्ड्रेई अपने मित्र पावल की अति दृढ़ता को पसन्द नहीं करता और पावेल को समझाता रहा कि माँ से इस प्रकार का व्यवहार उचित नहीं है।

एक दिन जब पावेल और आण्ड्रेई कारखाने गये थे, तो माँ को एक स्त्री ने आकर खबर दी कि एक खुफ़िया को किसी ने मार डाला है। सुनकर माँ उसे अन्य स्त्रियों के साथ देखने गई। किसी को उस खुफिया से सहानभूति नहीं थी, यद्यपि वह मरा पड़ा था। जब लड़के घर पर आये तो उस खुफिया की हत्या पर बात करते हुए पावेल ने पूछा—क्या तुम ऐसे व्यक्ति को मार सकते हो ?

आण्ड्रेई बोला—लक्ष्य के लिए मैं बेटे को भी मार सकता हूँ।

मां ने इस पर प्रतिवाद किया, तब आण्ड्रेई बोला—अजीब बात है। हम लोगों से घृणा करते हैं, जिस से कि वह दिन नज़दीक आवे, जब कि हम उन्हें प्यार कर सकते हैं। जो प्रगति के मार्ग में खड़ा होगा, या अपने लिए मान और सुरक्षा प्राप्त करने के लिये धन के लिये लोगों को वेच देगा, हमें उन को मिटा देना है। फिर वे हमारे मालिक फौज-फाटा, जल्लाद, चकले और जेल क्यों रखते हैं। यदि वे हमारे सैंकड़ों आदमियों को मारते हैं, तो क्या हमें उन पर हाथ उठाने का भी अधिकार नहीं है ? हमारे रक्त से सत्य का पौधा बढ़ता है, जब कि उस रक्त को वर्षा की तरह चारों तरफ़ फैला दिया जाय। मैं जीवन के लिए कुछ भी करने को तैयार हूँ—कहकर वह टहलते हुए बोला—मेरी आँखों के सामने यह हत्या हुई, मैं इसे रोक सकता था।

माँ ने उसे आगे कुछ कहने से मना किया, पर वह रुका नहीं, बोलता गया—उस हरामज़ादे ने मुझसे कहा कि आण्ड्रेई तुम बहुत चालाक हो, हमें मई दिवस की सब बातें मालूम हैं। तुम खुफिया क्यों नहीं हो जाते ? मैंने यह सुनकर उसे एक तमाचा मारा, और चला आया। इतने में शायद ट्रगुन-अफ़ उसके लिए प्रतीक्षा कर रहा था, और उससे बोला कि बेटा आज फँसे हो। मैं पीछे को नहीं लौटा, यद्यपि मैं समझ गया कि···। इसके बाद ही मैंने मार की आवाज़ सुनी। आज जब काम पर गया, तो लोगों ने कहा कि वह खुफ़िया तो मारा गया। तब से मेरे हाथ दर्द कर रहे हैं। ऐसा मालूम होता है जैसे लकवा मार गया।

इन बातों को कहकर वह नहाने चला गया। माँ और बेटे में बातचीत होती रही। पावेल ने कहा—इस हत्या की अधिक चिन्ता न करो। असली

हत्यारे तो वे हैं।

दिन बीतने गये, और काम के मारे माँ को मई दिवस के सम्बन्ध म सोचने की फुरसत ही नहीं रही। पर कभी-कभी हृदय के अन्दर एक ऐंठन सी मालूम होती थी।

पावेल और आण्ड्रेई अपने रोज़ के काम में जाते थे। इन दिनों मज़दूरों से मई दिवस में भाग लेने का आह्वान करते हुए पर्चे प्रतिदिन निकलते थे। उधर से चारों तरफ़ खुफ़िया पुलिस के लोग घर-घर में सूँघते फिरते थे। माँ यह समझती थी कि पावेल और आण्ड्रेई विपत्ति में पड़े हुए थे। न मालूम किस कारण से उस हत्या के सम्बन्ध में पुलिस दो एक दिन तहक़ीकात करके ठण्डी पड़ गई थी। माँ को एक पड़ोसिन से पुलिस की राय भी मालम हो चुकी थी। वह राय यह थी कि हत्या के दिन कम-से-कम सौ मज़दूरों ने उस खुफ़िया को देखा होगा, जिनमें से ९० तो उसका काम तमाम करना चाहते होंगे। सात साल से वह सबको सताता आ रहा था।

एक दिन आण्ड्रेई बोला—देख लिया? वे जनता की बिलकुल परवाह नहीं करते, और उन लोगों की परवाह करते हैं, जिन्हें वे जनता के विरुद्ध कुत्तों के रूप में इस्तैमाल करते हैं।

इसी प्रकार आण्ड्रेई बराबर कुछ न कुछ मौलिक बात कहता था। अन्त में मई दिवस भी आ गया। माँ ने सवेरे ही चाय का पानी रख दिया। फिर वह बड़ी देर तक ईश्वर से व्याकुल प्रार्थना करती रही। जब लड़के चाय के लिए आए, तो माँ ने अलग से आण्ड्रेई से कहा—बेटा, तुम पावेल के साथ-साथ रहोगे न?

आण्ड्रेई ने कहा—ज़रूर।

पावेल ने पूछा कि माँ क्या कह रही है, तो आण्ड्रेई ने कहा—माँ कह रही है कि कान के पीछे अच्छी तरह साफ़ करना, बात यह है कि आज लड़कियां मुझ पर कटाक्ष बाण फेंकने वाली हैं।

पावेल नें कहा—मजदूरो संग्राम के लिए उठो।

माँ के मन में भी शान्ति थी। देर तक दोनों मिल खाते रहे। खाना समाप्त होने पर भी वे बैठे रहे, इतने में खबर आई कि मज़दूर निकल रहे हैं। पावेल उठ खड़ा हुआ और माँ भी चलने को तैयार हुई। पावेल ने पूछा, तो माँ बोली कि वह भी चलेगी। इस पर पावेल बोला—मैं तुम से कुछ नहीं कहता, और तुम भी मुझसे कुछ मत कहो।

जब वे बाहर निकले तो चारों तरफ लोग जमा हो रहे थे। पावेल और

आण्ड्रेई चारों तरफ़ बिना देखे बढ़े चले जा रहे थे। वे शान्त थे। एक जगह एक मजमा-सा इकट्टा था। वक्ता को बोलना नहीं आता था, इस कारण आण्ड्रेई ने कहा—मैं चलकर बोलता हूँ।

कहकर आण्ड्रेई बोलने लगा। इतने में पुलिस आ गई। पुलिस वाले आण्ड्रेई पर घोड़ा दौड़ाना चाहते ही थे कि माँ ने उसका हाथ पकड़कर बचा लिया, बोली—तुम तो कहते थे कि पावेल के साथ रहोगे, और यहाँ तुम खुद ही दूसरों का झगड़ा मोल लेते फिर रहे हो।

इस पर आण्ड्रेई नें माफ़ी माँगी, और दोनों चल पड़े। अन्य स्थानों पर भी मजमे हो रहे थे। एक जगह पावेल बोल रहा था—साथियो! हमने यह तय किया कि आज हम खुलकर बता देंगे कि हम क्या हैं, हम आज यह बताना चाहते हैं कि हम सुयुक्ति, न्याय और स्वतन्त्रता के झण्डाबरदार हैं।

यह कहना था कि एक सफेद डण्डा हवा में खड़ा हो गया, और उसमें से चिड़िया के पर की तरह मज़दूरों का लाल झण्डा लहराने लगा। पावेल ने उसका अभिवादन करते हुए कहा—मज़दूरों की जय।

माँ की आँखों में आँसू आ गए, और चारों तरफ़ से जय नारे लगने लगे। आण्ड्रेई बोला—साथियो! हम सुयुक्ति, कल्याण और सत्य के लिए खड़े हैं। यह एक नया देवता है, हम उसके पूजक हैं। हमारा उद्देश्य बहुत बड़ा है, पर हमें काँटों के मुकुट तो अभी मिलने वाले हैं। हमारी बातों तथा आदर्शों में जिनको विश्वास नहीं है, वे हमारे साथ न चलें।

कोई अन्तर्राष्ट्रीय गाना गा उठा, और लोग दौड़ते हुए लाल झण्डे का अभिवादन करने लगे। अफ़वाह फैल गई कि स्वयं गवर्नर फौज लेकर आ रहे हैं। इस पर कुछ लोग पीछे हटने लगे। गाना गाने में वह एका नहीं रहा। पावेल बोला—साथियो! फ़ौजी भी हमारे भाई हैं, वे हमें क्यों मारेंगे? अभी वे नासमझ हैं, इसलिए उनकी समझ को द्रुत करने के लिए हमें आगे बढ़ते जाना चाहिए। आगे बढ़ो, भाइयो आगे बढ़ो।

भीड़ आगे बढ़ी। एक जगह जाकर देखा गया कि सामने फौजियों की दीवार सी बनी है। माँ का हृदय धक् से हो गया। केवल चार व्यक्ति झण्डे को लेकर फौज की तरफ़ बढ़े, जिनमें पावल और आण्ड्रेई भी थे।

किसी ने चिल्लाकर कहा—सुअर के बच्चे गा रहे हैं।

यद्यपि भीड़ रुक गई थी, पर वह उन चार गाते और आगे बढ़ते हुए लोगों को ध्यान से देख रही थी। इतने में संगीनें चढ़ाकर फौज़ को आगे बढ़ने का हुक्म हुआ। माँ अपलक दृष्टि से घटनाओं को देखती रही।

आण्ड्रेई पावेल के सामने खड़ा हो गया, पर पावेल नें हुक्म दिया—हट जाओ, झण्डा सबसे आगे रहता है।

कई सिपाहियों ने झण्डे को घेर लिया। एक अफ़सर ने झण्डा माँगा, पर पावेल नें झण्डा नहीं दिया, तब वे गिरफ़्तार कर लिये गए। पावेल नें सिपाहियों के व्यूह के अन्दर से कहा—माँ विदाई······

आण्ड्रेई ने भी इसी प्रकार से विदाई ली। माँ के हृदय को बड़ी शान्ति मिली कि पावेल ज़िन्दा है, और वह माँ की याद कर रहा है। इतने में किसी नें माँ की छाती पर एक घूँसा मारा। माँ के हाथ में लाल कपड़े का एक टुकड़ा था। अफ़सर ने उसे छीन लिया, और फिर एक धक्का देते हुए कहा—जा······

सिपाहियों के ब्यूह के अन्दर से वही गाना उठ रहा था। इतने में किसी ने हुक्म दिया इनका गाना बन्द कराओ। उधर माँ को फिर एक धक्का देते हुए किसी ने कहा—बुढ़िया भाग, बुढ़िया जा।

सड़क को भीड़ से साफ़ करने की कार्रवाई चलने लगी। माँ लड़खड़ाती हुई चली। भीड़ में तरह-तरह की टिप्पणियाँ हो रही थीं। यद्यपि लोगों ने साथ नहीं दिया था, फिर भी वे पावेल आदि की प्रशंसा कर रहे थे। माँ इन टिप्पणियों को सुनती हुई आगे बढ़ रही थी। थोड़ी देर में माँ के अन्दर से वाणी फूट निकली, और माँ बोली—हमारे बेटे जनता के लिए चले गए। प्यारे लोगो, तुम लोग उन्हें अकेले न छोड़ो। वे अपने विश्वास के लिए, ईसा मसीह और सत्य के लिए मरने को तैयार हैं। उन पर विश्वास रखो।

जनता में जोश बढ़ गया, और लोग बोले—यह बुढ़िया सत्य कह रही है। सबनें माँ की तरफ सम्मान के साथ देखा। माँ बोली—यदि लोग उन के गौरव को बढ़ाने के लिए प्राण देने को तैयार न होते, तो ईसा मसीह होते ही नहीं—कहकर वह धीरे-धीरे अपने सूने घर में चली गई।

उसी दिन सन्ध्या समय पुलिस वाले आए और उन का एक अफ़सर बोला—मुँह बनाकर बैठी हो, यह सारा तुम्हारा ही दोष है कि तुम अपने पुत्र में ईश्वर तथा सम्राट् के प्रति सम्मान की भावना उत्पन्न नहीं कर पाईं।

इस पर माँ ने कुछ कहा, अफ़सर ने माँ को डाँटा और तलाशी शुरू हुई, फिर वे चले गए। माँ कपड़े बिना बदले सो गई, और स्वप्न में भी अपने बच्चों को देखती रही। स्वप्न में अन्तर्राष्ट्रीय गाना और ईसा मसीह का भजन एक रूप में हो गए। वह स्वप्न से एकाएक फड़फड़ाकर उठ पड़ी।

रसोईखाने में एक छोटा-सा डण्डा और उसका लाल कपड़ा अभी पड़ा हुआ था। अब माँ के सामने प्रश्न यह था कि क्या किया जाय। वह इधर-उधर भटकी। एक क्रान्तिकारी उससे मिलने आया। माँ फिर काम करने लगी। बोली—यदि हमारे बच्चे और हमारे जिगर के टुकड़े अपना स्वार्थ बिना सोचे, बात-की-बात में प्राण दे सकते हैं, तो हम माँ होकर क्या नहीं कर सकतीं ?

यह तब हुआ कि माँ निलोलाई नामक क्रान्तिकारी के घर पर रहेगी, जब तक मां वहाँ न जा पाये, तब तक के लिए कुछ पैसे दे दिये गए। चौथे दिन माँ अपने नये स्थान में गई। निकोलाई अकेला रहता था। माँ ने जाते ही घर का चेहरा बदल दिया, पौधों में पानी देने लगी इत्यादि। निकोलाई की विधवा बहन भाई के यहाँ रहने के लिए आई। पहले माँ डरी थी कि न मालूम यह स्त्री कैसी रहेगी, पर सोफ़िया तो बड़ी अच्छी निकली। माँ और सोफिया में पावेल को भगवाने के सम्बन्ध में बातचीत होने लगी। इस सम्बन्ध में माँ के विचार स्पष्ट नहीं थे।

सोफ़िया और माँ के सम्बन्ध घनिष्ठ होने लगे। सोफ़िया अक्सर माँ को अपने क्रान्तिकारी कार्यों के सम्बन्ध में सुनाया करती थी। सोफ़िया और माँ दोनों कुछ कार्य करने के लिए व्याकुल थीं। दोनों छद्मवेश बनाकर मजदूरों का काम करने लगीं। वे कुछ दिनों के लिए गाँव में भेजी गईं। देहात के एक क्रान्तिकारी अड्डे में दोनों पहुँचीं, तो उनका नीरव स्वागत हुआ। बात यह है कि खुलकर स्वागत तो हो नहीं सकता था। फिर यह सही मानो में क्रान्ति-कारियों का अड्डा नहीं था और इसमें कई लोग ऐसे थे जो अभी कोई निश्चित विचार नहीं रखते थे। यह कोलतार के कारखाने में काम करने वाले मजदूरों का अड्डा था। इन्हीं मजदूरों को सही रास्ते पर लाना था। सोफ़िया और माँ चुपचाप अपना काम करने लगीं।

माँ का मन पुत्र के सम्बन्ध में चिन्ताग्रस्त था। इसमें तो सन्देह था ही नहीं, उसे साइबेरिया-निर्वासन या इसी प्रकार कोई कड़ी सजा मिलने वाली थी। पर माँ अब जब भी अपने पुत्र के सम्बन्ध में सोचती, तो उसके साथ-साथ आण्ड्रेई और अन्य यूवकों के विचार भी आ जाते थे। पावेल का चेहरा अब दूसरे इसी प्रकार के युवकों के चेहरों के साथ एक हो गया था। मानो पावेल ही प्रसारित हो गया था। माँ की इन सब सन्तानों के सम्बन्ध में चिन्ता थी।

सोफ़िया की अजीब हालत थी, कभी दो-चार दिन के लिए गायब हो जाती

थी, फिर आती थी। माँ को सोफ़िया की गन्दगी से बहुत परेशानी थी, पर वह उसे साफ़-सुथरी बनाने पर तुली हुई थी। इससे माँ का समय कट जाता था। माँ ने यह देखा कि निकोलाई बहुत-कुछ आण्ड्रेई से मिलता है, पर निकोलाई में क्रान्ति की ज्वाला उतनी प्रखर नहीं थी।

माँ को संगीत से प्रेम हो गया था, और अब सुनते-सुनते उसके मन में उच्च संगीत के लिए प्रेम उत्पन्न हो गया था। वह किताबों को खोलकर अवसर के समय तस्वीरें भी देखा करती थी। पशुओं के सम्बन्ध में पुस्तकों में माँ को विशेष दिलचस्पी थी। एक दिन माँ ने निकोलाई से कहा बेटा यह जगत कितना बड़ा है। इस प्रकार माँ का जगत् बहुत बढ़ता जा रहा था। देहात से जो लोग निकोलाई से मिलने आते थे, माँ ने देखा कि वे उससे कुछ सहमकर मिलते हैं। एक दिन माँ ने निकोलाई की अनुपस्थिति में बाहर से आए हुए एक नौजवान से कहा—तुम डरते क्यों हो? तुम मास्टर साहब के सामने सबक सुनाने थोड़े ही आते हो, फिर यह झिझक क्यों?

उस नौजवान ने कहा—यह तो स्वाभाविक है, क्योंकि वह हम लोगों में से नहीं हैं।

शाशा भी कभी-कभी आती थी, पर वह निकोलाई से शुष्क ढंग से काम की बातें करके चली जाती थी। वह पावेल के सम्बन्ध में मां से जरूर पूछ जाती थी, और माँ कहती थी—ईश्वर को धन्यवाद है कि वह खुश है।

एक बार माँ ने शाशा से यह शिकायत की कि वे इतने दिनों से पावेल को बिना मुकदमा चलाये हिरासत में रखे हुए हैं। इस पर शाशा के तेवर बदल गए, वह कुछ बोली नहीं, पर उसकी उँगलियाँ थर-थर काँपने लगीं।

एक दिन नाटाशा आई, और माँ से गले मिलती हुई बोली—मेरी माँ मर गई। अभी वह पचास साल की भी नहीं थी। पर यह भी मैं बिना कहे नहीं रह सकती कि मेरी माँ के लिए मौत जिन्दगी से कहीं अच्छी रही। बड़ी सताई हुई थी। मेरे बाप नें माँ को इतना सताया कि हद है। मरना अच्छा रहा।

माँ बोली—यदि भविष्य में भी कोई आशा न हो, तो सचमुच जीने में कोई फ़ायदा नहीं।

नाटाशा मजदूरों के बच्चों के एक स्कूल में पढ़ाती थी। माँ वेष बदलकर उसे समय-समय पर पर्चे आदि पहुँचा आती थी। इसमें माँ को बहुत आनन्द मिलता था। माँ ने ईसा के विषय में जो कुछ सुना था उसमे उसकी यह धारणा थी कि ईसा बहुत मामूली कपड़े पहनने वाले थे, पर गिर्जों में उन्हें सोने

चाँदी से ढका हुआ दिखलाया जाता था। इस सम्बन्ध में माँ को यह स्मरण हो आया कि राइबिन ने कहा था—इन्होंने हमें ईश्वर के सम्बन्ध में भी धोखा दिया है।

अब अपने अनजान में माँ पहले से कम प्रार्थना करने लगी। माँ को ऐसा प्रतीत हुआ कि ये साधारण व्यक्ति ईसा के अधिक नजदीक हैं। जब भी वह पर्चे बाँटकर लौटती थी, तो वह बहुत खुश दिखाई पड़ती थी। माँ को ऐसा प्रतीत होता था कि ईसा से वह पहले से अधिक प्यार करती थी, पर ईसा अब दूसरे रूप में दिखाई देते थे। संगीत आदि में भी माँ की दिलचस्पी पहले से अधिक मालूम होती थी। निकोलाई अक्सर देखता था कि माँ पुस्तकों को देख रही है।

एक दिन निकोलाई रोज से अधिक देर में काम से लौटा, और कुछ परेशान मालूम हुआ। पता लगा कि कोई फ़रार व्यक्ति है, और उसे आश्रय देने के सम्बन्ध में निकलोई की यह परेशानी है। माँ बोली कि वह इस काम में हाथ बटाएगी। वह सड़क पर निकल पड़ी। भगा हुआ व्यक्ति भी आश्रय ढूँढ़ता हुआ घूम रहा था, इतने में माँ दिखाई पड़ गई, और उसे आश्रय मिल गया। अब प्रश्न यह हुआ कि इस भागे हुए व्यक्ति को कहाँ आश्रय दिया जाय। पावेल के सम्बन्ध में पता लगा कि वह मजे में है और जेल के अन्दर नेता बना हुआ है। माँ को इस पर बड़ी खुशी हुई, पर भीतर-ही-भीतर वह कुछ निराश भी हुई थी, क्योंकि वह समझ रही थी कि शायद पावेल ही भागकर आया हो।

माँ को इन दिनों येगोर नामक बीमार क्रान्तिकारी के सम्बन्ध में बड़ी चिन्ता थी। अन्त तक उसे अस्पताल भेजना पड़ा। माँ भी उसी के साथ गई। येगोर अस्पताल में पहुँचकर बोला—माँ मैं जल्दी ही मरने वाला हूँ। ठीक भी है, यदि काम नहीं कर पाता, तो जीनें में क्या मजे हैं? इससे तो मर जाना ही अच्छा है।

माँ नें उसे चुप रहने के लिए कहा। अन्त तक येगोर मर गया। लुडमिला नामक लड़की ने माँ से कहा—हम लोग साथ-ही-साथ निर्वासन में थे। साथ-ही-साथ हमने जेल काटी। कई लोगों ने आत्मसमर्पण कर दिया, पर—कहकर वह रो पड़ी।

माँ भी रोनें वाली थी, पर उसने अपने को रोका। लुडमिला बोली—माँ वह कितना अच्छा था, भीतर से कष्ट उठाने पर भी वह हमेशा दूसरों के लिए हँसता रहता था। उसने मेरे साथ जो किया, उसका वर्णन सम्भव नहीं है।

पर उसने इसके बदले में कभी कुछ नहीं माँगा—कहकर वह अपनें साथी की लाश की तरफ़ देखकर बोली—प्रिय साथी ! विदाई ! जैसा तुमने काम किया, वैसा ही में आजीवन काम करूँगी ।

जो भी साथी आते गए, वे येगोर को श्रद्धाञ्जलि देते गए। शाशा नें कहा—वे मर चुके । इसका अर्थ क्या है ? क्या मरा ? क्या येगोर के लिए मेरी सम्मान-भावना या उनके विचारों की स्मृति मरी ? फिर क्या मरा ? उनके ओंठ मूक हो गए, पर वाणी अमर है ।

माँ ने अन्त्येष्टि क्रिया की तैयारी में पूरा भाग लिया। सबने मिलकर क्रान्तिकारी ढङ्ग से येगोर का मृतक-संस्कार किया । बाहर के भी बहुत से लोग आये । खुफिया भी आये, और इसी हालत में गाने भी हुए । क्रान्तिकारी मजदूरों के गाने । किसी ने खड़े होकर कहना शुरू किया—साथियो•••

इतने में पुलिस-अफ़सर ने उसे रोका ।

उस व्यक्ति ने कहा—मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि हम अपने साथी की कब्र पर यह प्रतिज्ञा करें कि हम कभी उनकी शिक्षा को नहीं भूलेंगे, और उस दमनकारी शक्ति की आजीवन कब्र खोदते रहेंगे, जिसने हमारे देश को नष्ट किया है याने राजतन्त्र की कब्र खोदते रहेंगे ।

अफ़सर ने कहा—इसे गिरफ़्तार कर लो ।

उधर से जनता से आवाज आई—राजतन्त्र मुर्दाबाद ।

पुलिस वाले दौड़ पड़े, पर वह व्यक्ति बोला—स्वतन्त्रता की जय ।

माँ को किसी ने एक धक्का दिया, फिर तो चारों तरफ़ सीटी बजने लगी, उस व्यक्ति ने कहा—साथियो ! अपनी शक्ति का अपव्यय मत करो ।

इसका असर पड़ा, और भीड़ धीरे-धीरे छँट गई । एक बच्चे को इसमें चोट आई थी । न मालूम सोफ़िया ने कहाँ से आकर उस बच्चे का हाथ माँ के हाथ में दे दिया और कहा इसे लेकर घर चली जाओ । माँ ने ऐसा ही किया। जब बच्चे को लेकर माँ घर पर पहुँची, तो वहाँ सोफिया घर पर पहुँच चुकी थी । वहाँ पर लड़के के सिर पर अच्छी तरह बैंडेज आदि किया गया । जब यह सब किया जा रहा था, तो माँ के हाथ में उस लड़के का सूखा खून आ गया । माँ ने दिल में सोचा कि ऐसा तो पावेल के साथ भी हो सकता है । सोचते ही मां का हृदय धक् से हो गया । लड़के को अस्पताल ले जाने की बात पर कोई फैसला नहीं हुआ ।

माँ के कपड़ों में भी यत्र-तत्र खून के छींटे लगे हुए थे । जब माँ कपड़े बदलने लगी, तो अपनें कपड़ों को देखकर उसे ध्यान आया कि ये अजीब लोग

है कि आदमी मर रहे हैं, खून-खराबी हो रही है, पर इन को कोई चिन्ता नहीं है। इस विचार से माँ को बड़ी शान्ति मिली।

यह तय हुआ कि सरकार द्वारा किये गए अत्याचारों का यथेष्ट प्रचार नहीं हो रहा है, इस कारण साहित्य-प्रकाशन के मोर्चे को तगड़ा किया जाय। पर इसके लिए कोई व्यक्ति नहीं मिलता था। माँ ने अपने को इस कार्य के लिये समर्पित किया। निकोलाई ने इस पर आपत्ति करते हुये कहा कि इस काम के लिये देहात में रहना ज़रूरी है, और देहात में रहने से पावेल से मिलते रहना सम्भव न होगा। इस पर माँ बोली—पावेल इसे अनुभव नहीं करेगा, और जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, ऐसी मुलाकातों से हृदय फट जाता है। कुछ कहने-सुनने का मौका नहीं मिलता, और लोग अजीब तरीके से मुँह ताकते रहते हैं कि कहीं मैं ऐसी कोई बात तो नहीं कह रही हूँ जिसे कहना मना है।

पर निकोलाई ने विषय बदल दिया। उस आहत लड़के की बात होने लगी, फिर यह भी बात चल पड़ी कि पावेल और आण्ड्रेई को जेल से भगाना चाहिए। माँ वहाँ से उठकर चली गई, क्योंकि उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसकी उपस्थिति में लोग पावेल के सम्बन्ध में उतनी स्वतन्त्रतापूर्वक बात-चीत नहीं कर सकते थे।

एक दिन माँ जल में पावल से मिल रही थी कि मौका पाकर माँ ने कह दिया कि येंगोर मर गया और उसको दफ़नाने के समय झगड़े में एक आदमी गिरफ़्तार हो गया। जेलर ने फौरन टोका, तो इस पर माँ ने सरलता के साथ कहा कि मैं राजनीति पर बात थोड़े ही कर रही हूँ, मैं तो झगड़े के विषय में बात कर रही हूँ। जेलर बोला कि व्यक्तिगत विषयों के अलावा किसी विषय पर बात करना मना है। माँ ने पूछा कि मुकदमा कब हो रहा है, तो इसका उत्तर मिला कि जल्दी ही होगा। माँ ने मना किये जाने पर भी बहुत सी बातें कह दीं।

छोटी-मोटी घटनाएँ और भी होती रहीं। राइबिन नामक किसानों में काम करने वाला क्रान्तिकारी गिरफ़्तार किया गया, मौका पाकर जनता ने उसकी हथकड़ियाँ खोल दीं। पुलिस-कप्तान आया, तो पुलिस वालों से मालूम हुआ कि जनता ने उसे मुक्त कर दिया—इस पर पुलिस-कप्तान ने पूछा—वह कौन-सी बला है ? जनता कौन ?

पुलिस-कप्तान ने चारों ओर देखा, और नाम ले-लेकर पूछा—क्यों चूमाकोफ़ तुम जनता हो ? और कौन है ? मिशिन तुम जनता हो ?

यह कहकर उसने एक आदमी की दाढ़ी पकड़ ली, और कहा—दोगळे तुम लोग यहाँ से चलते-फिरते दिखाई पड़ो, नहीं तो मजे दिखाऊँगा।

जनता कुछ पीछे हट गई। कप्तान ने राइविन को हथकड़ी लगाने की आज्ञा दी, पर राइविन बोला—मैं न तो भाग रहा हूँ, और न मैं झगड़ा करूँगा, फिर इसकी क्या जरूरत है?

इस पर कप्तान आगे बढ़ा, तो राइविन बोला—जनता को तुम खूब सता चके। अब तुम्हारा घड़ा भर गया।

इस पर कप्तान ने कहा—कुतिया के बच्चे तुमने क्या कहा?—कहकर उसने राइविन को एक घूँसा मारा।

राइविन बोला—घूँसे बाज़ी से सत्य की हत्या नहीं हो सकती, और तुम्हें मुझे मारने का कोई अधिकार नहीं है।

—मुझे अधिकार नहीं है? मुझे?—कहकर उसने राइविन की तरफ़ एक घूँसा ताना, पर वह बीच में ही रोक लिया गया, और उल्टा पुलिस-कप्तान ही गिरते-गिरते बचा।

राइविन बोला—मुझे मारना मत, कह दिया।

इस पर पुलिस-कप्तान ने निकिटा नामक एक किसान से राइविन को मारने के लिए कहा। निकिटा आया और उस ने धीरे से एक धौल जमाई। इस पर भीड़ में से किसी ने कहा निकिटा ईश्वर को न भूलो। कप्तान बोला—निकिटा मारो। पर निकिटा वहाँ से यह कहकर हट गया कि मैंने बहुत मारा। तब कप्तान स्वयं राइविन पर दौड़ा, और मारते-मारते उसे गिरा दिया। जनता नाराज़ होकर आगे बढ़ी इस पर कप्तान बोला—अच्छा यह विद्रोह है?—कहने को तो उसने ऐसा कहा, और उसने तलवार भी निकाल ली, पर उस का चेहरा फ़क हो गया। वह धीरे-धीरे भीड़ से हट गया।

पुलिस वाले राइविन को हथकड़ी डालने लगे, पर जनता ने राइविन को उठाते हुए कहा—ठहरो। थोड़ी देर में राइविन को होश आया, और वह बोला—मैं दुनिया में अकेला हूँ। सब सत्य कभी गिरफ़्तार नहीं किये जा सकते। सब अण्डे भी नष्ट हो जायँ, तो सत्य पंख पसार कर उड़ेगा।

कप्तान लौट आया, बोला—मैं तुम्हें मार सकता हूँ, पर तुम मुझे मार नहीं सकते।

राइविन ने चिल्लाकर कहा—तुम अपने को समझते क्या हो? क्या तुम ईश्वर हो?

पुलिस वाले राइविन को उठाकर ले गए, और भीड़ धीरे-धीरे तितर-बितर

हो गई । माँ ने देखा कि लोगों की दृष्टि बदली हुई है । कोई माँ को नहीं जानता था, फिर भी माँ के पास लोग आये । राइबिन ने जेल जाते समय भी जनता से कहा—क्यों भूखे मर रहे हो ? स्वतंत्रता मिल जाने पर तुम्हें रोटी भी मिलेगी, और न्याय भी मिलेगा ।

माँ ने यह भी देख लिया कि राइबिन ने उसे पहचान लिया । माँ बहुत उत्तेजित थी, पर वह इतना समझ चुकी थी कि उत्तेजना प्रदर्शित करने से कुछ न होगा । नीरव सेवा तो वह कर ही रही थी । माँ ने यह देखा कि किसानों में राइबिन की गिरफ्तारी का अच्छा असर पड़ा है । वह काम करके लौट गई, पर बार-बार राइबिन का रक्त से सना उज्ज्वल आँखों वाला चेहरा याद पड़ रहा था ।

इस बीच में निकोलाई के घर में तलाशी हुई थी, और निकोलाई सरकारी नौकर होने के कारण यह आशङ्का की जा रही थी कि उसकी नौकरी जायगी, पर वह इस पर खुश था । साथ-ही-साथ यह भी ज्ञात हो रहा था कि सरकार चौकन्नी हो चुकी है, क्योंकि अब चारों तरफ़ तलाशियों का ताँता बँधा हुआ था । जनता में कब्रिस्तान की लड़ाई के बाद से अच्छी जागृति उत्पन्न हुई थी । एक क्रान्तिकारी ने इस अवसर पर कहा कि बुरी शान्ति से अच्छी लड़ाई हमेशा श्रेष्ठ रहती है ।

पर सरकार चुप बैठने वाली नहीं थी, और बराबर गिरफ्तारियाँ होती जा रही थीं । माँ को यह आश्चर्य होता था कि दुधमुँहे बच्चों को सरकार क्यों गिरफ्तार कर रही है ? आखिर यह दुधमुँहे बच्चे कितने खतरनाक हो सकते हैं ? एक दिन माँ जेल में पावेल से मिलने गई, तो पावेल ने जेल वालों की आँख बचाकर माँ के हाथ में एक पुड़िया दे दी । इस पत्र में पावेल ने जेल से भागने से इन्कार किया था, और कहा था कि इससे हम अपनी आँखों में गिर जायँगे । पर उसने यह लिखा था कि अभी जो किसान आया है, उसे हर प्रकार की मदद दी जाय । माँ को इस बात से खुशी नहीं हुई, पर साथ ही अपने लड़के के साहस पर कुछ गौरव का अनुभव भी हुआ । लोगों ने यह कहा कि जब पावेल की ऐसी ही इच्छा है, तो मुकदमा हो जाय, और पावेल साइबेरिया से भाग सकता है । माँ की यह इच्छा थी कि पावेल और शाशा का मिलन हो जाय, पर वह पूरी होती नहीं दीखती थी ।

यह तय हुआ कि राइबिन को भगाया जाय । शाशा इसमें भाग ले रही थी । माँ ने भी इसमें हाथ बटाना चाहा । माँ ने इस काम को जितना भयङ्कर समझा था, व्यवहार में वह उतना भयङ्कर प्रमाणित नहीं हुआ । माँ ने जब

देख लिया कि राइविन निकल गया, तो स्वाभाविक ढङ्ग से उसके मन में यह अफसोस हुआ कि पावेल क्यों न भागा ? माँ नें अड्डे पर लौटकर सुना कि सारा काम ढङ्ग से हो गया, पर माँ के मन में यह शङ्का हो रही थी कि कहीं राइविन के भागने के कारण पावेल और आण्ड्रेई पर कोई विपत्ति न आये। मां को यह डर हो रहा था कि कहीं अधिकारियों ने कुछ पूछा, और तुनुक मिज़ाज़ तो ये हैं ही, इन्होंने नाराज़ी से जवाब दिया, तो न मालूम क्या बीत जाय। माँ ने दबी आवाज़ में निकोलाई के निकट यह शङ्का प्रकट की, पर माँ ने देखो कि निकोलाई समझा नहीं।

जब मुकदमे का दिन आया, तो माँ वहाँ पर गई। माँ की ही तरह कई अन्य अभियुक्तों के प्रियजन भी आये थे। एक स्त्री माँ से बोली—तुम्हारे ही बेटे ने मेरी ग्रीशा का सर्वनाश किया।

पहले तो जज साहब आए, फिर अभियुक्त बुलाये गए। माँ की बगल में बैठे हुए एक व्यक्ति ने कहा—देखा माँ ? ये लोग कतई डरे हुए नहीं हैं।

जज और अभियुक्तों में कुछ प्रश्नोत्तर-सा हुआ। माँ को कुछ सुनाई नहीं पड़ा। पर एक समय पावेल की दृढ़ आवाज सुनाई पड़ी—यहाँ न तो कोई अपराधी है, और न कोई जज। माँ केवल विजेता और विजित हैं।

आण्ड्रेई ने कहा—न मैंने चोरी की है, और न किसी की हत्या की है। मैं तो केवल ऐसी पद्धति के विरुद्ध हूँ, जिसमें लोग चोरी और हत्या करने पर मजबूर होते हैं।

अभियुक्त सीजाव ने कहा—मैं इस मुकदमे को गैर-कानूनी समझता हूँ। तुम कौन हो ? क्या जनता नें तुमको हम पर मुकदमा चलाने का अधिकार दिया है ? नहीं, इस कारण मैं तुम्हारी हकूमत माननें से इन्कार करता हूँ।

सरकारी वकील का वक्तव्य पेश हुआ, जिसमें पावेल को प्रधान अभियुक्त करार दिया गया। फिर गवाहों की गवाहियाँ होने लगीं। जब गवाहियाँ हो चुकीं, तो अभियुक्त भीतर ले जाये गए। अभियुक्तों के रिश्तेदार बाहर गये। उसी स्त्री ने जिसने कचहरी आरम्भ होते समय माँ को उलाहना दिया था, अब कहा—मैंने तुम्हें दोष दिया था, पर शैतान ही जानता है कि इनमें से कौन अधिक दोषी है। देखा मेरी ग्रीशा को ?—यह स्पष्ट था कि हवा बदल चुकी थी।

सभी रिश्तेदार जो मुर्झाये हुए आये थे, अब अपने को गौरवान्वित समझ रहे थे। फिर कचहरी बैठी। सरकारी वकील ने अपना वक्तव्य फिर पेश किया। नाम के लिए एक सफाई का वकील भी खड़ा हो गया। पावेल ने फिर

से वक्तव्य दिया, और कहा—मैं इस अदालत को नहीं मानता। फिर भी अपने साथियों की इच्छा के अनुसार मैं कुछ स्पष्टीकरण करना चाहता हूँ हम लोगों के विरुद्ध यह कहा गया है कि हम लोग जारशाही के विरुद्ध विद्रोही हैं, पर मैं यह स्पष्ट कह दूँ कि जारशाही हमारे मार्ग का केवल एक रोड़ा है। इसे हटाने के बाद तभी हम अन्य रोड़े हटा सकते हैं।

पावेल की आवाज से अदालत गूँज उठी। पावेल कहता जा रहा था—हम समाजवादी हैं। हम वैयक्तिक सम्पत्ति के विरुद्ध हैं। हम हर तरह की मानसिक गुलामी के विरुद्ध हैं। । सबको काम करना पड़ेगा। उत्पादन के साधन जनता के हाथ में होने चाहिएँ। हम क्रान्तिकारी हैं, और तब तक रहेंगे, जब तक हमारा कार्य पूरा न हो जाय। समाजवाद आकर रहेगा।—बार-बार बाधा पाकर भी पावेल ने अपने वक्तव्य को पूरा किया, और बैठ गया। उसके साथियों ने हाथ मिलाकर उसे अभिनन्दित किया।

आण्ड्रेई ने भी इसी ढङ्ग पर वक्तव्य दिया। अन्य अभियुक्तों ने भी अपनी-अपनी बातें कहीं। जज भीतर चले गए। रिश्तेदारों को यह मौका दिया गया कि वे अभियुक्तों से मिलें। माँ पावेल से मिली, और दूसरे भी मिले। थोड़ी देर में जज लौट आए, तो सबको निर्वासन-दण्ड दिया गया : माँ रोना चाहती थी। पर लज्जा के मारे रो न सकी। माँ अदालत से निकली, तो रात हो चुकी थी। माँ के सम्बन्ध में किसी ने कहा कि यही पावेल की माँ है, बस वहाँ एकत्र जनता माँ को अभिनन्दित करने लगी। जनता में से कोई बोल रहा था—साथियो! रूसी जनता को चर्वण करने वाले राक्षस ने फिर आज अपने जबड़े बन्द किये हैं, और हमारे बहादुर भाई उसमें समा गए।

क्रान्तिकारियों की ओर से पावेल का वक्तव्य तैयार हुआ और उसे बाँटने के काम में माँ नें भी हाथ बटाया। माँ ने जनता में स्वयं जाकर पर्चे बाँटे। इन पर्चों में पावेल का वक्तव्य था। एक खुफिया ने देख लिया और माँ घेर ली गई। वह बोली—मैं पावेल का वक्तव्य बाँट रही हूँ। यह एक ईमानदार मज़दूर का वक्तव्य है। माँ इस तरह बात कर रही थी कि खुफिया ने माँ को मारा। माँ का मुँह रक्त के नमकीन स्वाद से भर गया। जनता बीच में पड़ी, तो माँ पर और मार पड़ी। मारते-मारते माँ को एक दरवाज़े के अन्दर ढकेल दिया। माँ बोली—रक्त के महासागर में भी सत्य को बोरा नहीं जा सकता।

इस पर माँ पर और मार पड़ी, तो वह बोली—मूर्ख लोग इससे हमारे मन में घृणा ही बढ़ेगी और हम सब का दाम तुम्हें बाद को चुकाना पड़ेगा।

एक पुलिस वाले ने माँ का गला पकड़ लिया, और उसे घोंटने लगा। माँ ने रुँधे हुए कण्ठ से कहा—अभागे कहीं के।

किसी ने इसका उत्तर फफक-फफक कर दिया।

× × ×

यही संक्षेप में गोर्की की माँ नामक उपन्यास है। हमने कुछ विस्तार के साथ इसका संकलन इस कारण किया कि यह उपन्यास न केवल प्रगतिवादी साहित्य की दृष्टि से बल्कि ऐतिहासिक दृष्टि से भी एक बहुत महत्त्वपूर्ण रचना है। गोर्की द्वारा प्रतिपादित क्रान्तिकारी रोमांसवाद के पुट से युक्त यथार्थवाद का यह एक अच्छा नमूना है। बाद को गोर्की ने समाजवादी नाम से अपनी कला का प्रचार किया। वे सोवियट लेखकों के लिए आदर्श स्वरूप हो गए। जैसा कि ग्लेव स्टूवे ने लिखा है कि गोर्की के ढङ्ग पर लिखना ही साहित्यिक उत्तमता का मानदण्ड हो गया।

समाजवादी यथार्थवाद के सम्बन्ध में भी लगे हाथों दो-चार शब्द कह दिये जायँ। पहले-पहल यह शब्द १६३४ के अगस्त में होने वाली पैन सोवियट साहित्यिक कांग्रेस के अवसर पर सुनाई पड़ा। कहा जाता है कि स्टालिन ने ही इस शब्द की रचना की और ऐसा करते हुए उन्होंने सोवियट लेखकों को मानवीय आत्माओं के इंजीनियर बताया। समाजवादी यथार्थवाद का अर्थ किसी एक विशेष शैली से नहीं, बल्कि हम बहुत-सी शैलियाँ हो सकती हैं। १६२४–२५ से सोवियट लेखकों ने जिस प्रकार से लिखा और जिन शैलियों म लिखा, वे सब समाजवादी यथार्थवाद के अन्तर्गत माने जाते हैं। यह बताया गया है कि इस में साहित्य के स्वरूप तथा रूप के बजाय उस की अन्तर्गत वस्तु पर अधिक जोर किया जाता है, पर बात ऐसी नहीं है। यह आलोचना केवल इस बात को सूचित करती है कि जहाँ तक स्वरूप और रूप का सम्बन्ध है सोवियट लेखकों को अभी सभी क्षेत्रों में वह उच्चता प्राप्त नहीं हुई है, जो बहुत से पूँजीवादी लेखकों को प्राप्त हुई है। हम यहाँ पर और व्यौरे में नहीं जा सकते।

इस सम्बन्ध में यह बात भी बता देने योग्य है कि गोर्की ने शैली की सरलता पर जोर दिया। गोर्की ने अपने कई लेखों में इस बात की निन्दा की कि नवीन शैली की सनक से सोवियट नवीन लेखक कई बार गुमराह हो गए। गोर्की ने १६३३ में भाषा की शुद्धता के सम्बन्ध में भी एक आन्दोलन चलाया था।

'माँ' के अतिरिक्त गोर्की ने बहुत-सी पुस्तकें लिखीं। क्रान्ति के बाद भी

वे बराबर लिखते रहे। इन रचनाओं में 'ओटामोनोफ़' 'क्लिम सैमगिन की जीवनी' बहुत महत्त्वपूर्ण है। सभी इस बात को मानते हैं कि इन रचनाओं में चरित्र-चित्रण बहुत सुन्दर हुआ है। 'क्लिम सैमगिन की जीवनी' में रूस के चालीस साल का इतिहास आ गया है। विशेषकर क्रान्तिकारियों की कार्यावली दिखाई गई है। गोर्की की कहानियाँ तथा नाटक भी बहुत सुन्दर माने जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि गोर्की का साहित्य बहुत उच्चकोटि का है और सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने साहित्य के जरिए जीर्ण पुरातन का तिरस्कार किया, तब निर्माण में हाथ बँटाया, आत्म-समालोचना की' संक्षेप में उन सब बातों को किया, जिनके कारण उन्हें मानवीय आत्माओं के इंजीनियरों में बहुत प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ। उनका साहित्य रूस में समाजवादी निर्माण में एक बहुत बड़ा सहायक उत्पादक सिद्ध हुआ। दुःख है कि हम उनके साहित्य का इस से अधिक ब्यौरा इस प्रसङ्ग में नहीं दे सकते।

भारतीय लेखकों को चाहिए कि वे गोर्की-साहित्य का अच्छी तरह अध्ययन करें, वे केवल 'माँ' पढ़कर न रह जायँ। गोर्की की बहुत-सी कहानियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। सुज्ञ पाठक को यह देखकर आश्चर्य होगा कि गोर्की के सभी साहित्य को प्रचारकार्यमूलक नहीं कहा जा सकता। अवश्य सर्वत्र क्रान्ति और प्रगति के साथ उनका पक्षपात स्पष्ट है, (क्या इसे पक्षपात कहेंगे ?) पर यह पक्षपात बहुत से क्षेत्रों में परोक्ष है, बिलकुल सामने दिखाई नहीं पड़ता।

३७

आक्षेपों का उत्तर

अपनें एक गीत-संग्रह की भूमिका लिखते हुए हिन्दी के स्वनाम-धन्य कवि श्री बालकृष्ण जी शर्मा 'नवीन' ने कई महत्त्वपूर्ण मौलिक प्रश्न उठाये हैं, जो प्रत्येक प्रगतिवादी के लिए एक चुनौती के रूप में हैं। साधारण पाठक के लिए भी ये प्रश्न महत्त्वपूर्ण इस कारण हो जाते हैं कि आज हिन्दी में ही क्यों सारे विश्व-साहित्य के क्षेत्र में विचारों की जो उथल-पुथल बल्कि गड़बड़ी मची हुई है, इन प्रश्नों से उसके परिष्करण में सहायता मिलती है। यहाँ यह बता दिया जाय कि जिस गीत-संग्रह की अनुक्रमणिका के रूप में नवीन जी ने यह सुबृहत् भूमिका लिखी है, वह उस लेख का आलोच्य नहीं है। जहाँ तक मेरी क्षुद्र बुद्धि जाती है, यह भूमिका उस गीत-संग्रह से अङ्गी रूप से सम्बद्ध भी नहीं है, यानें इन दोनों का सम्बन्ध अधिक-से-अधिक दूर का है। मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि नवीन जी को कुछ कहना था, उन्होंनें उसे भूमिका के व्यप-देश से कह दिया।

यह बहुत ही अच्छा हुआ, क्योंकि आज जहाँ प्रगतिवाद की तूती हिन्दी में कुछ-कुछ बोल रही है, और दिन-ब-दिन उसके वक्तव्य हिन्दी-संसार के सामनें प्रबलता के साथ आते जा रहे हैं, वहाँ उसके विरुद्ध मतवाद, बल्कि मतवादों की आवाज बहुत धीमी पड़ गई है, और सच तो यह है कि हिन्दी में उनका कोई पद्धतिगत रूप से नाम-लेवा पानी-देवा दिखाई नहीं देता है। जो लोग प्रगतिवाद से विरोध रखते हुए या मतभेद रखते हुए ज्ञात होते हैं, वे दिनकरजी की तरह eclectic उञ्छवृत्तिवादी हैं। वे कुछ हद तक प्रगति-वादियों के साथ हैं, तो कुछ हद तक अन्य मतों के मन्दिरों में भी यदा-कदा माथा टेक लेते हैं। ऐसे लोगों के वक्तव्यों से परिस्थिति का स्पष्टीकरण न होकर उससे विचार-धारा और भी उलझ जाती है।

इस परिस्थिति को देखते हुए नवीनजी की यह भूमिका जिसमें बिना किसी रू-रियायत के प्रगतिवाद का तिरस्कार किया गया है, बहुत सम्भव है, हिन्दी-संसार में एक ऐतिहासिक वक्तव्य सिद्ध हो। जहाँ सारे संसार में अब जान में या अनजान में प्रगतिवाद की अन्तिम विजय होनें ही वाली है, वहाँ क्या पता यह बुझने के पहले भाववाद की अन्तिम लौ और अन्तिम साँस सिद्ध

हो। प्रगतिवाद पर नवीन जी का यह आक्रमण इच्छाकृत है, इसमें कोई घुमाव-फिराव नहीं है, शत्रु के प्रति उनके हृदय में कोई कोमल कोना नहीं है, यह प्रगतिवाद का निरवच्छिन्न विरोध है। वे खुलकर प्रगतिवाद के विरोध की कतार में खड़े हैं, और उनकी तलवार म्यान से बाहर है और लपलपा रही है। सबसे अच्छी बात यह है कि वे प्रगतिवाद पर आक्रमण करते हुए ऊपर-ऊपर सतही समालोचना करके निवृत्त नहीं होते, वे उसकी जड़ तक जाकर उस पर वार करते हैं, क्योंकि उनका उद्देश्य उसे निर्वंश और निर्मूल करके तब दम लेना है।

वे स्पष्ट शब्दों में मार्क्स और एंगल्स-प्रतिपादित भौतिकवाद पर पहुँचते हैं, और उसकी आलोचना करने के बाद यह कहते हैं—

"इस दर्शन-सिद्धान्त पर जो भी साहित्य, कला, सौन्दर्य-शास्त्र आधारित होगा, वह पूर्ण रूप से ग्राह्य नहीं हो सकता। इस प्रकार का शास्त्र, उस अंश तक, जिस तक वह अपने को पदार्थवादी दर्शन का अनुगामी बना लेता है, मानव प्रगति को रोकने वाला अतः मानवोन्नति-बाधक, गति-अवरोधक, अचल तथा प्रतिक्रियावादी सिद्ध होगा।"

कहना न होगा कि इस आक्रमण में कहीं किसी प्रकार की रियायत नहीं है। वह बहुत ही स्पष्ट और निःसंदिग्ध है। यह एक चुनौती है, जिसे किसी भी प्रकार टालना सम्भव नहीं है।

साहित्य में प्रगतिवादी मत के कई प्रतिपादक शायद टैक्टिक्स के कारण इस बात को जहाँ तक हो सके सामनें लाने से हिचकते हैं कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के साथ प्रगतिवाद का अच्छेद्य सम्बन्ध है, पर नवीनजी ने उसे सामने लाकर रखा है, और फायरवाख, मार्क्स और ऐंगल्स से अपनी आलोचना का सूत्रपात किया है।

वे स्वाभाविक रूप से सभी दर्शन-शास्त्र के प्रथम प्रश्न ऐपिस्टेमोलोजी, ज्ञान-शास्त्र या विचार तथा अस्तित्व, बींग एंड बिकमिंग के प्रश्न से आरम्भ करते हैं। सारे दर्शन-शास्त्र का प्रधान आधारगत प्रश्न, विशेषकर आधुनिक दर्शन-शास्त्र का प्रधान प्रश्न, विचार और अस्तित्व में क्या सम्बन्ध है, इसी पर एक पक्ष में मत देनें से आरम्भ होता है। भौतिकवादियों का दोष यह है कि वे जगत् को विचार से उत्पन्न नहीं, बल्कि जगत् से ही विचारों को उत्पन्न मानते हैं। वे ज्ञान को सम्भव मानते हैं, पर वे साथ-ही-साथ यह मानते हैं कि इन्द्रिय-ग्राह्य ज्ञान ही ज्ञान का एक-मात्र रूप है। इसका अर्थ किसी भी रूप में यह नहीं है कि हमारे वर्तमान जगत्-व्यापार में विचारों का कोई महत्व नहीं है, इसका वक्तव्य केवल इतना ही है कि विचारों की भी जड़ें होती हैं,

अक्सर ऐसा भी हो सकता है कि एक विचार की जड़ दूसरे विचार में हो, परअन्ततोगत्वा उस विचार की जड़ किसी-न-किसी भौतिक या सामाजिक आर्थिक परिस्थिति में होती है। जो विचार सामाजिक शक्ति के रूप में अपने समय में प्रबल होते हैं, उनके सम्बन्ध में तो यह निश्चित रूप से दिखलाया जा सकता है कि उस समय के उस समाज में उस विचार के लिए गुञ्जाइश थी, इस कारण वह विचार छा सका, और उस विचार के प्रबल प्रतिपादक के रूप में जो व्यक्ति सामने आता है, वह महान् नेता अथवा कुनेता हो जाता है। संक्षेप में भौतिकवाद का यही सार है।

यहाँ साहित्य के एक साधारण छात्र के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि भौतिकवाद के इस घटत्व-पटत्व से साहित्य का क्या सम्बन्ध है ? जो नवीनजी के लेख को बिना पढ़े ही इस लेख को पढ़ेंगे, उनके मन में इस प्रश्न का उठना बिलकुल स्वाभाविक है। इसका उत्तर बिना दिये आगे बढ़ना उचित नहीं होगा, इसलिए यह बता दिया जाय कि उठाये हुए गूढ़ दार्शनिक तर्कों से साहित्य का क्या सम्बन्ध है।

साहित्य और कला विचार-धारा के अन्तर्गत हैं। इसलिए जो बात विचार-धारा के लिए सही होगी, वही बात साहित्य के लिए भी सही है। जैसा कि बताया गया विचार-धारा को अन्ततोगत्वा सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों के साथ सम्बद्ध करना सम्भव है, यही बात साहित्य, कला तथा संगीत आदि पर भी लागू होती है।

प्रगतिवाद के मूल साध्य ये ही हैं। अब नवीनजी ने इसकी जड़ पर कुठाराघात करते हुए भौतिकवादी ज्ञान-शास्त्र पर ही आक्रमण किया है, याने उन्होंने इस मत को स्वीकार नहीं किया कि इन्द्रिय-ग्राह्य ज्ञान ही ज्ञान का एक-मात्र रूप है। यहाँ यह बता दिया जाय कि इन्द्रिय-समर्थित तथा इन्द्रिय-समर्थनीय ज्ञान को ही ज्ञान मानने में ज्ञान को केवल हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर प्रत्यक्ष रूप से आश्रित नहीं रखा गया है। एक व्यक्ति, जिसे ज्वर आ गया है, वह दूसरे व्यक्ति के शरीर के उत्ताप का पता नहीं लगा सकता। पर इससे हमारा साध्य गलत नहीं पड़ जाता। प्रकृति में शैत्य और उष्णता के सम्बन्ध में केवल एक ही नियम लागू हो, ऐसी बात तो नहीं है। इन्हीं नियमों की गड़बड़ी से बचकर उत्ताप-ज्ञान के लिए मनुष्य ने तापमान-यंत्र तथा अन्य अनेक यंत्र निकाले हैं। पर दूरवीक्षण यंत्र हो या अणुवीक्षण यंत्र हो, चाहे वे यंत्र ऐसे हों कि परिणाम को स्वयं रेकार्ड करने में समर्थ हों, फिर भी वे किसी-न-किसी रूप में हमारी ज्ञानेन्द्रियों के प्रसारित, स्थिरीकृत तथा जहाँ तक हो सके

सही रूप है ।

इस दृष्टि से देखने पर सारा विज्ञान इन्द्रिय ग्राह्य-ज्ञान-राशि है । विज्ञान में गणित का भी स्थान है, जिसे हम निरीक्षणों पर आधारित विचारों को एक नियमबद्ध रूप से आगे बढ़ाना, और फिर आगे बढ़ाना कह सकते हैं । कई बार गणित से भी हम निरीक्षण से अनुपलब्ध ज्ञान में पहुँच जाते हैं । कई ग्रहों का आविष्कार इस प्रकार से हुआ कि आस-पास के ग्रहों के मध्याकर्षण के हिसाब में और निरीक्षण में कुछ असामंजस्य पाकर यह अनुमान किया गया कि अमुक स्थान पर कोई ग्रह अवश्य होगा । इसके अनुसार उस क्षेत्र का विशेष रूप से निरीक्षण हुआ, और सचमुच वे ग्रह मिल गए ।

इस प्रकार से विचार से विचार, फिर उससे विचार, और आगे फिर विचार के सिलसिले को हम अनिवार्य रूप से वैज्ञानिक नहीं कहते, पर आगे चलकर किसी-न-किसी सोपान में निरीक्षण से उसका समर्थन होना चाहिए । निरीक्षण तथा निरीक्षण-जन्य समर्थन से बिलकुल स्वच्छन्द होकर गणित प्रतीक-वाद में बहक जाय, तो उसे हम विज्ञान नहीं कह सकते, इसलिए ज्ञान नहीं कह सकते ।

नवीनजी भौतिकवादी ज्ञान-शास्त्र के इस आधार पर बड़े जोर से आक्रमण करते हैं, और वे भौतिकवादी के सामने कई ऐसे प्रश्न उपस्थित करते हैं, जो चुनौती के रूप में हैं । वे कहते हैं—

"बर्बर समाज की स्वप्नोदित छायाओं को आत्मा-विषयक विचार की जननी मानने-मनवाने का उपहासास्पद प्रयत्न करनेवाले जन क्या स्पष्टीकरण करते हैं उन विज्ञानोपरि घटनाओं का, जो चन्द्रशेखर वेंकटरमण-जैसे वैज्ञानिकों को भी आश्चर्य में डाल देती हैं ? पोटशियम साइनाइड विष के लघुमात्र से क्षण-भर में मृत्यु हो जाती है । कलकत्ता साइन्स इन्स्टीट्यूट में डा० रमण के सम्मुख एक हठयोगी ने इतना साइनाइड विष खा लिया जिससे सैंकड़ों मनुष्य मर सकते थे । और वह खड़ा व्याख्यान देता रहा । जब रमण महोदय से पूछा गया कि यह क्या बात है ? तो वे बोले—It is a challenge to science. यह विज्ञान को एक चुनौती है ।

प्रगतिवादी भौतिक दर्शन-शास्त्री अथवा उनके अनुयायी यह पढ़कर हँसेंगे । पर, अनुचित आग्रहपूर्ण हँसी में वास्तविक घटना निमज्जित नहीं होगी । भौतिक प्रतिक्रिया को मानव-शरीर पर हलाहल विष की प्राण-घातक प्रतिक्रिया को—जो शक्ति अतिक्रमित कर दे, वह क्या है ? आधिभौतिक ? या अभौतिक, अतः आध्यात्मिक ? इतना ही क्यों ? हम अपने समाज में आये

दिन पूर्वजन्म के आश्चर्यजनक उदाहरण देखते-सुनते रहते हैं। क्या यह इन सब छोटे-छोटे बालकों के मन पर अजान रूप से पुनर्जन्म विषयक-विचारों को थोपने का परिणाम मात्र ही है? ऐसा कहना साहस का काम होगा—विशेषकर उस अवस्था में जब कि उन बालक-बालिकाओं द्वारा दूर के ग्राम-नगर का भूगोल बता दिया जाता है, वहाँ के एक विशिष्ट घर और कुटुम्ब का हाल बता दिया जाता है। और उस घर तथा कुटुम्ब के जनों के नाम भी बता दिये जाते हैं। इस देश में ऐसी एक नहीं सहस्रों घटनाएँ घटती रहती हैं। इनको कपोल कल्पना कहकर टालना अवैज्ञानिक अथच प्रतिक्रियावादी, मनोवृत्ति का परिचय देता है।"

नवीनजी ने जिन घटनाओं की व्याख्या करने की चुनौती प्रगतिवादियों को दी है, वे प्रगतिवादियों के लिए चुनौती तो हैं ही, पर इससे पहले वे विज्ञान के लिए भी चुनौती हैं जैसा कि श्री रमण ने कहा है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखने योग्य है कि विज्ञान प्रति पग पर इस प्रकार की चुनौतियों का सामना करने का अभ्यस्त है, और सच कहा जाय, तो ऐसा चुनौतियों का सामना करते हुए वह बराबर आगे बढ़ा है। विज्ञान में बराबर ऐसा होता रहा है कि बहुत निरीक्षणों के बाद एक साधारण नियम स्थापित हुआ, पर थोड़ी दूर चलकर एक या एकाधिक अपवाद निकल आये, जो उसके लिए चुनौती के रूप में थे। बाद को चलकर इन अपवादों को अपने में समाकर एक बृहत्तर साधारण नियम बना।

इसी प्रकार से विज्ञान की उन्नति होती रही है। नवीनजी ने पोटेशियम साइनाइड खाने का जो उदाहरण दिया है, तथा पुनर्जन्म के सम्बन्ध में जिस प्रकार के उदाहरणों का उल्लेख किया है, उन्हें यह कहकर टालना अनुचित होगा कि वे घटनाएँ घटित ही नहीं हुई। अवश्य साथ-ही-साथ ऐसा मान लेने की भी आवश्यकता नहीं है कि जिन घटनाओं का नवीनजी ने विज्ञान को चुनौती के रूप में उल्लेख किया है, उनके सम्बन्ध में पूर्ण रूप से वैज्ञानिक वातावरण में जाँच हो चुकी है। अध्यात्मवादियों ने अत्यन्त आदिम युग से बहुत सी जालसाजियाँ तथा धोखे किये हैं। ग्रीस के ओराकलस से लेकर आधुनिक काल के स्पिरिचुअलिस्टों तक उन्होंने कितने धोखे किये, यह हमें ज्ञात है। सेयांस के नाम पर प्रेतात्मा से बातचीत करने की परिपाटी के सम्बन्ध में सभी को ज्ञात होगा। इन अवसरों पर कैसे धोखा दिया जाता है, यह बीस-बीस साल के पुराने मीडियमों ने बाद में स्वीकार किया है।

मैं यह नहीं कहता कि रमण साहब के सामने जो व्यक्ति ढेर सा पोटे-

शियम साइनाइड खाकर व्याख्यान देता रहा, उसने हाथ की सफाई से पोटे-शियम साइनाइड के बजाय कुछ और खा लिया होगा, पर इतना मैं अवश्य कहूँगा कि इस मामले में जितनी सावधानी होनी चाहिए थी, शायद उतनी सावधानी बरती नहीं गई। यदि सावधानी बरती जाय और फिर भी एक व्यक्ति ढेर सा पोटेशियम साइनाइड खाकर व्याख्यान देता रहे, तो वह अवश्य-ही विज्ञान के लिए एक चुनौती है। पर यह कैसे मान लिया जाय कि उस व्यक्ति की यह शक्ति अभौतिक अत: आध्यात्मिक है? हम सबने उस चीनी की कहानी सुनी है, जिसको विषैले साँप काटने पर साँप ही मर गए, वह नहीं मरा। हम लोग विष-कन्या से भी परिचित हैं, जिन्हें बचपन से क्रम वृद्धिशील मात्रा में विष खिला-खिलाकर इस प्रकार बना दिया जाता था कि वे बहुत अधिक मात्रा में विष झेल सकती थीं, केवल यही नहीं उनके सम्पर्क में आने वाले पुरुष मर जाते थे। क्या इसके लिए कोई प्रमाण है कि जिस व्यक्ति ने ढेर सा पोटेशियम साइनाइड खाया था, उसने किसी उपाय से उस विष के सम्बन्ध में अपने को इम्यून या सुरक्षित नहीं कर लिया था?

मेरा कहने का मतलब यह है कि चाहे जो कुछ भी हो उस व्यक्ति के पोटेशियम साइनाइड खाकर व्याख्यान देते रहने के पीछे कोई-न-कोई भौतिक कारण रहा होगा, इसमें आध्यात्मिकता कहाँ से घुस आती है, यह मेरी समझ में नहीं आता।

धर्म और अध्यात्मवाद ने बाकी स्थानों से विताडित होकर बराबर ऐसे अन्धकार कोनों में आश्रय लिया है, जहाँ विज्ञान की सर्चलाइट अभी पहुँच नहीं पाई। यदि उस व्यक्ति ने किसी प्रकार की हाथ की सफाई, कौशल या अज्ञात प्रतिशोधक का सहारा लेकर पोटेशियम साइनाइड खाया, या उसने विष-कन्या या उस चीनी की तरह क्रमवृद्धिशील मात्रा में विष-सेवन के द्वारा अपने को उस भयानक विष से सुरक्षित कर लिया, तो मेरा निवेदन यह है कि ये सब कारण भौतिक ही हैं। मैं यह पूछना चाहूँगा कि जो लोग यह दावा करने के लिये उद्यत हैं कि उस व्यक्ति में कुछ आध्यात्मिक शक्ति है, क्या वे यह कहेंगे कि उस व्यक्ति में बुद्ध से अधिक आध्यात्मिक शक्ति थी, जो बासी शूकर-मांस खाकर मर गए या उसमें कृष्ण से अधिक आध्यात्मिक शक्ति है, जो एक साधारण तौर से मर गए? मैंने केवल दो स्वीकृत अध्यात्म गुण-सम्पन्न व्यक्तियों के नाम गिनाए। ऐसे सैकड़ों व्यक्तियों के नाम गिनाए जा सकते हैं जो पोटेशियम साइनाइड के मुकाबले में बहुत मामूली विष-क्रियाओं से मर गए।

मेरा नवीनजी-ऐसे अध्यात्मवादियों से निवेदन है कि वे ऐसी घटनाओं पर अध्यात्मवाद को निर्भर न रखें। इससे उन्हीं की हानि है। हाईजनवर्ग के अनिश्चयता-सिद्धांत की आड़ में जब अध्यात्मवादियों ने आश्रय लिया था, उस समय आइनस्टाइन ने यह जो कहा था कि It is a temporary asylum of ignorance यह केवल सामयिक रूप से अज्ञान का शरण-गृह है, इस सम्बन्ध में याद करने लायक है। विज्ञान असंगतियों का समाधान करते हुए ही आगे बढ़ता गया है, और कोई कारण नहीं कि वह किसी असंगति से परास्त होगा। सामयिक रूप से अज्ञान के शरण-गृह तो बहुत मिलेंगे, पर केवल उस सामयिक अज्ञान के बलबूते पर किसी वाद को बल पहुँचाने का प्रयास करना भ्रान्त और अन्ततोगत्वा उस मत के लिए खतरनाक है, जिसे इनके बूते पर खड़ा रखने की चेष्टा की जाती है।

मैंने इस प्रसंग में विज्ञान और वैज्ञानिकों के सम्बन्ध में बहुत बातचीत की है, इसलिए यह चेतावनी दे दूँ कि बहुत से ऊँचे दर्जे के वैज्ञानिक धर्मवादी हैं, पर जैसा कि आइनस्टाइन, जो स्वयं धर्मवादी हैं, कहते हैं कि हममें यह तमीज होनी चाहिए कि एक वैज्ञानिक वैज्ञानिक के रूप में जो कुछ कहता है और साहित्यिक तथा निजी हैसियत से जो कुछ कहता है, उसमें फर्क कर सकें। दूसरे शब्दों में हम वैज्ञानिक के विज्ञान को प्रामाणिक मानते हैं, पर वह साहित्यिक या धार्मिक ताव में आकर जो कुछ कहता है, उसे उसके गुण-दोषों की परीक्षा के बाद ही ग्रहण कर सकते हैं।

नवीनजी ने जन्मान्तरवाद को पुष्ट करने वाली जिन बातों का उल्लेख किया है, यदि वे सत्य भी हों, तो हम उनसे घबराकर अध्यात्मवाद या रहस्यवाद के चरणों में माथा टेकने की कोई आवश्यकता नहीं समझते। क्लेरवोयास या मन की बात बता देना, जेब के अन्दर की चीज का पता बताना, इत्यादि बहुत सी शक्तियां हैं, जिनकी अभी व्याख्या करना सम्भव नहीं है, पर निराशा की कोई बात नहीं है, हम इस सम्बन्ध में अधिकाधिक जानते जा रहे हैं।

एक व्यक्ति बहुत मामूली गुत्थियों को समझ नहीं पाता, पर आइनस्टाइन-ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं, जो विश्व-संसार की गुत्थियों को अपने मस्तिष्क में सुलझा रहे हैं। कहा जाता है कि आइनस्टाइन प्रतिवादित सापेक्षवाद के गणित को समझ भी सकें, ऐसे व्यक्तियों की संख्या संसार में दो सौ से अधिक नहीं है, तो क्या हम इस बात पर यह मान लें कि आइनस्टाइन में आध्यात्मिक शक्ति बहुत अधिक है, याने रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ आदि भी से अधिक है? हम ऐसे व्यक्तियों के लिए जीनियस या असाधारण

प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति शब्द प्रयुक्त करते हैं, और जैसा कि अभी एक लेखक ने लिखा था जब हम किसी व्यक्ति को समझ नहीं पाते, तो उसके सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग कर देते हैं, वैसे ही हम यह क्यों न थोड़े समय के लिए मान लें कि जन्मान्तरवाद के कथित उदाहरणों में हम कई चीजों को अभी समझ नहीं पा रहे हैं, जिन्हें हम बाद में समझ पायेंगे।

नवीनजी के प्रतिपाद्य की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि उन्होंने प्रगतिवाद की भर्त्सना करने के लिए विज्ञान की भर्त्सना की है। हम सभी जानते हैं कि यह भर्त्सना व्यर्थ है, और इससे प्रगतिवाद भ्रान्त प्रमाणित न होकर उसके विपरीत विज्ञान के साथ एक कोष्ठक में आ जाता है। यह नवीनजी की ईमानदारी और सतता का परिचायक है कि वे इस रुख को साहसपूर्वक लेते हैं कि प्रगतिवाद को ढहा देने के लिए विज्ञान में आस्था को ढहा देना आवश्यक है, और इस कारण जैसे भी बन पड़ता है वे उस पर सामने से आक्रमण करते हैं। इससे एक ओर तो समस्या की समग्रता के सम्बन्ध में नवीनजी का ज्ञान सूचित होता है, पर दूसरी ओर क्या यह सूचित नहीं होता कि वे ईंट की दीवारों पर पदाघात वर्षा कर रहे हैं, जिससे पद-पीड़ा, और अन्ततोगत्वा मनोपीड़ा की ही प्राप्ति होगी ?

मैं समझता हूँ कि विज्ञान, वैज्ञानिक बुद्धि तथा प्रयोगलब्ध ज्ञान के विरुद्ध जेहाद व्यर्थ जाने के लिए बाध्य हैं। विज्ञान में सैंकड़ों संशोधित नये सिद्धान्त आयँगे और उनकी तुलना में पहले के सिद्धान्त पुराने पड़ जायँगे, पर इन से विज्ञान उत्तरोत्तर उन्नत और पहले से अधिक विस्तृत होता जायगा। पोटेशियम साइनाइड खाकर व्याख्यान देते रहने वाले एकाध उदाहरण से विज्ञान व्यर्थ नहीं हो जायगा, भले ही उसके सामने एक नई समस्या और चुनौती खड़ी हो जाय।

प्रगतिवाद पर नवीनजी ने जो आक्रमण किया है, उसका सबसे कमजोर बिन्दु यह है कि नवीनजी ने यह चेष्टा तो की है कि भौतिकवादी एपिस्टेमोलोजी या ज्ञान-शास्त्र में संशय उत्पन्न हो जाय, और उसमें उनका सबसे बड़ा तर्क वही पोटेशियम साइनाइड खाकर व्याख्यान देने वाला व्यक्ति है, पर उन्होंने अपना वैकल्पिक ज्ञान-शास्त्र पेश नहीं किया है। यदि इन्द्रिय-गम्य और प्रयोग-लब्ध ज्ञान ही एक-मात्र ज्ञान नहीं है, तो ज्ञान का दूसरा तरीका क्या है, इसे वे बताने से चूक जाते हैं। कोई भी दर्शन केवल दूसरे दर्शनों के खंडन करके खड़ा नहीं हो सकता, उसका एक अपना धनात्मक दृष्टिकोण और उससे भी पहले एपिस्टमोलोजी या ज्ञान-शास्त्र होना चाहिए।

नवीनजी के प्रति न्याय करने के लिए मैं यह मान लूँगा कि उन्होंने इस लेख में विस्तार-भय से भारी बातें नहीं कही हैं। इसलिए इस ओर साधारण रूप से जो तर्क अध्यात्मवादियों की ओर से दिये जाते हैं, उनका संक्षेप में उल्लेख करके हम आगे बढ़ जायँगे। अध्यात्मवादी आप्तवाक्य, रिविलेशन या इण्ट्यूशन को ज्ञान का एक साधन मानते हैं। जहाँ तक ये प्रयोग लब्ध ज्ञान के विपरीत नहीं आते, वहाँ तक इनसे झगड़ा मोल लेने का कोई कारण नहीं नहीं है, पर जहाँ वे इसके विरुद्ध जाते हैं, वहीं पर आकर झगड़ा पड़ता है। यदि इनको ज्ञान के साधन माना जाय, तो उससे विचार-क्षेत्र में बड़ी गड़बड़ी पैदा हो जाती है। इसी की आड़ लेकर हरेक कनफड़ा यह दावा कर सकता है कि उसे विशेष ज्ञान प्राप्त है, और जैसा कि सभी लोगों को मालूम है ऐसा करने में वे चूकते नहीं हैं। मैं समझता हूँ कि कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति इस परिस्थिति को स्वीकार नहीं कर सकता। यहाँ पर फिर वही प्रश्न आ खड़ा होता है कि किस दावेदार का दावा सुना जाय, और किसका नहीं, याने फिर एक बार बुद्धि और प्रयोग से काम पड़ता है। किस कनफड़े और योगी का सुना जाय और किसका नहीं, इसका निर्णय इण्ट्यूशन से नहीं बल्कि वैज्ञानिक बुद्धि से किया जाता है। इस प्रकार अन्त तक इण्ट्यूशन में भी बुद्धि से ही काम लिया जाता है। दुःख है कि इस प्रसंग में इससे अधिक कहने के लिए स्थान नहीं है।

अब मैं साहित्य के प्रश्न पर आता हूँ। सच तो यह है कि नवीनजी ने प्रगतिवाद पर आक्रमण करने के लिए ही दर्शन-शास्त्र के प्रश्नों को उठाया है। वे मौलिक प्रश्न हैं, और उन पर बिना कुछ निर्णय किये साहित्य के मूलगत प्रश्नों पर विचार नहीं हो सकता है।

साहित्य किसी जाति के विचार जगत् का एक अङ्ग है। इस कारण वह उस जाति की सामाजिक आर्थिक परिस्थिति से उद्भूत और उससे सम्बद्ध है। जब आधार में परिवर्तन होता है, ऊपरी ढाँचे में भी परिवर्तन होता है, अर्थात् आर्थिक, सामाजिक परिस्थिति के साथ-साथ विचार-जगत् में इस कारण साहित्य में परिवर्तन होता है। पर यह परिवर्तन तो यान्त्रिक रूप से होता है, और न यह आवश्यक है कि वह तुरन्त हो। कई परिस्थितियाँ बदलने पर भी रूढ़ियों के रूप में पुराने विचारों का बोल-बाला रह जाता है। उसी प्रकार यह भी समझना चाहिए कि किसी एक वर्ग की समाज-पद्धति के भी विचार किसी न-किसी रूप में रह सकते हैं। वह ऐसे कि प्रत्येक समाज-पद्धति में उससे आगामी पद्धति में जो वर्ग क्रान्तिकारी रूप में आगे आने वाला है, उसके

विचार भी क्रियाशील रहते हैं। एक ऐतिहासिक उदाहरण से इसको स्पष्ट किया जाय। फ्रेंच सामन्तवादी समाज में रूसो और वाल्टेयर आदि के रूप में ऐसे लोगों के विचार तथा साहित्य मौजूद थे, जो आगामी पूँजीवादी क्रान्ति के अग्रदूत के रूप में थे।

इस प्रकार से एक ही समय में (यद्यपि परिस्थिति एक ही है) कई प्रकार के विचार और साहित्य मौजूद रहते हैं। रूढ़ियों के रूप में पुराने मूल्य काम करते रहते हैं, उस समय मौजूद दो वर्गों और उनके उपवर्गों के विचार भी साहित्य में प्रतिफलित हो सकते हैं। इस प्रकार से उसी समाज में शासक-वर्ग के साहित्य के अतिरिक्त शोषित वर्ग का भी कुछ-कुछ साहित्य हो सकता है। वर्गहीन समाज में भी साहित्य का एक अंश बहुत दिनों तक पुरानी रूढ़ियों से परिप्लावित रह सकता है।

इस प्रकार हम प्रगतिवादी साहित्य जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शोषक वर्ग के किसी भी अङ्ग या विचार पर आक्रमण करता है, उसे हास्यास्पद बनाता है, उसका तिरस्कार करता है, या क्रान्तिकारी विचारों को बल पहुँचाता है, वह प्रगतिवादी साहित्य है। इलियट नें कहा है—

"The greatness of literature cannot be determined solely by literary standard, though we must remember that whether it is literature or not can be determened by literary standard only."

अर्थात्—"साहित्य की महत्ता का निर्णय केवल साहित्यिक मानदण्ड से नहीं हो सकता, यद्यपि हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कोई रचना साहित्य है या नहीं, इसका निर्णय साहित्यिक मानदण्ड से ही हो सकता है।"

इलियट ने यह जो बात कही है, वह बहुत ही उच्च कोटि की है। मैंने इसके पहले भी कई बार कहा है, और फिर भी कहता हूँ किसी रचना के प्रगतिवादी साहित्य होने के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले साहित्य हो। जब एक रचना साहित्य मान ली गई, तभी यह प्रश्न उठता है कि वह प्रगतिवादी है या नहीं? प्रगतिवादी का अर्थ जैसा कि मैं बता चुका केवल इतना ही है कि वह प्रगतिशील शक्तियों के मार्ग से रोड़े हटाकर या अन्य किसी प्रकार की शक्तियों को बल पहुँचाय।

यह प्रमाणित किया जा सकता है कि प्रत्येक साहित्य किसी-न-किसी प्रकार की शक्तियों को बल पहुँचाता है। मोपासाँ या सार्त्र के साहित्य को भी वर्ग समाज में भाग लेता हुआ, पलायनवाद और अश्लीलता के द्वारा भाग लेता

हुआ दिखाया जा सकता है। साथ-ही-साथ उनमें अपने समय के समाज के शासक वर्ग को प्रतिबिंबित देखा जा सकता है। इन दोनों के साहित्य उस हद तक प्रगतिवादी उपादान से युक्त भी कहे जा सकते हैं, जिस हद तक वे एक सज्ञान पाठक के मन में उन रचनाओं में प्रतिबिंबित शासक वर्ग के प्रति घृणा उत्पन्न करते हैं। पर उनका कला भाग इतना प्रबल है कि साधारण पाठक सम्भव है बह जाय, और वह अश्लीलता में आनन्द लेने लगे, इसलिए कुल जोड़ के रूप में किसी हद तक उनके साहित्य को प्रगतिवादी कहना उचित न होगा।

जिस समय किसी समाज को अपनी सारी शक्ति को एकत्रित करके किसी समस्या के साथ लड़ने की आवश्यकता है, उस समय यदि कोई साहित्य हमारा ध्यान अवांतर बातों की ओर आकृष्ट करे, हमें ऐसे विषयों की ओर आकृष्ट करे, जिनमें कोई तत्त्व नहीं है, हमें अश्लीलता की धारा में बहावे, तो उस साहित्य में शोषक-वर्ग के प्रति कोई स्पष्ट पक्षपात न होते हुए भी वह साहित्य प्रतिगामी कहलायगा। सम्भव है कि वह साहित्य केवल साहित्यिक मानदण्डों से नापे जाने पर बहुत अच्छा पाया जाय, फिर भी जैसा कि इलियट के द्वारा प्रतिपादित मत को मानते हुए हम प्रगतिवादी कह सकते हैं, वह कोई महान् साहित्य नहीं होगा।

साहित्य को महान् बनाने के लिए उसमें साहित्यिक गुणों के अतिरिक्त और भी गुण होने चाहिएँ। ये गुण क्या हो सकते हैं, इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहना पड़ता है कि जीवन के उच्च मूल्यों, स्थापनाओं तथा मान्यताओं के साथ पक्षपात ही साहित्य को बड़ा बनाता है। क्या इस सम्बन्ध में कोई दो मत हो सकते हैं? इसलिए यदि लेनिन ने १९०५ में, जिस समय प्रत्येक सम्भव उपाय से क्रान्ति की ज्वाला को भड़काकर उसमें सड़ी-गली शोषण-मूलक शासन-पद्धति को जला देने का नारा दिया, और यह कहा कि "जब वर्ग-भेद तीव्रतापूर्वक आगे बढ़ रहा हो, तब प्रत्येक कलाकार को अपनी वर्ग-मैत्री या वर्ग-लगाव को स्पष्टतः प्रकट करना होगा, और उस संघर्ष में अपना निश्चित स्थान ग्रहण करना होगा", तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? क्या लेनिन ने इस प्रकार उसी बात को अपने ढंग से नहीं कहा जिसे इलियट के सूत्र की व्याख्या कही जा सकती है? जैसा कि नवीनजी ने उद्धृत किया है लेनिन ने उक्त अवसर पर कहा था—

"पूँजीवादी प्रथा याने सामाजिक परिपाटी को कुंठित करने के लिए, पूँजीवादी व्यापार-मूलक पत्रकारिता का विरोध करने के लिए तथा पूँजीवादी धन-

प्राप्ति तथा वैयक्तिक उन्नति-मूलक साहित्य-सेवा का प्रतिरोध करने के लिए समाजवादी सर्वहारा को पक्षपात-मूलक साहित्य के नारे को सामने रखकर आगे बढ़ना पड़ेगा।''

यदि लेनिन समाजवादी शब्दावली प्रयुक्त बिना किये इसी को इस रूप म कहते कि इस समय का नारा यह होना चाहिए कि समाज के लिए हितकर मूल्यों और मान्यताओं को स्थापित करने वाले साहित्य को अपनाना चाहिए, तो शायद किसी को विशेष आपत्ति न होती। पर बात एक ही होती ! रहा यह कि लेनिन की बातों में स्पष्टता है, जब कि दूसरे ढंग से कहने पर उसमें उतनी स्पष्टता नहीं होती।

नवीनजी इस बात को मानने से इन्कार करते हैं कि हमारा प्राचीन साहित्य वर्ग-पक्षपात-दुष्ट है। पर जिन लोगों ने हमारे प्राचीन साहित्य का गहराई के साथ अवगाहन किया है, उनका मत ऐसा नहीं है । हमारा वैदिक साहित्य वर्ग-पक्षपात से भरा हुआ है। कला उस समय शासक वर्ग की सेवा में नियुक्त थी। ओल्डनवर्ग ऋग्वैदिक कविता के सम्बन्ध में कहते हैं कि 'यह कविता न तो सौन्दर्य की सेवा में संलग्न है और न इसमें प्रतिपादित धर्म आत्मिक उन्नति का प्रवर्तक है, यह तो वर्ग-स्वार्थ तथा वैयक्तिक स्वार्थ-मूलक और दक्षिणा वसूल करने के लिए है।' वैदिक कविता में दान-स्तुति के नाम से चालीस ऋचाएँ हैं, जिनमें 'खुशामद में आमद है' नीति का अनुसरण करके दाताओं का गुण-गान किया गया है। यदि यह देखा जाय कि ऋग्वेद में १०२८ ऋचाएँ हैं, तो इन दान-स्तुतियों की संख्या बहुत कम प्रतीत नहीं होगी। एक ऋचा में वर्ग-भेद का समर्थन इस प्रकार किया जाता है—

'दो हाथ समान होने पर भी समान नहीं होते, एक ही कोख से उत्पन्न दो गायें बराबर मात्रा में दूध नहीं देती, जुड़वें शिशुओं की ताकत समान नहीं होती, सब रिश्तेदार एक-से उपहार नहीं देते।'

ऋग्वेद में दान-स्तुतियों के अतिरिक्त दस राजाओं के युद्ध, इन्द्र और सम्बर का युद्ध आदि प्रकरण में उच्च वर्गों की गाथाओं का वर्णन है। इसमें महाकुल और मघवनों की प्रशस्ति है। यजुर्वेद तो ब्राह्मण और क्षत्रियों की उन्नति के लिए एक यज्ञशास्त्र के रूप में है। बाद के प्राकृत और पाली साहित्य में जातक, अवदान और अंगादि पुस्तकों में जनसाधारण का कुछ परिचय मिलता है, इसका कारण यह है कि बौद्ध और जैन-विद्रोह जनता को लेकर उठा, यद्यपि बाद को चलकर वे भी जनता से दूर हो गए। जब अन्तिम मौर्य सम्राट् को मारकर उसके सेनापति पुष्यमित्र ने ब्राह्मणाधिपत्य स्थापित किया,

तो उस युग की शासक श्रेणी ने स्वार्थ को लेकर कथित 'मानव-धर्म-शास्त्र' या मनुसंहिता का अन्तिम संस्करण बना। इसके बाद की शताब्दियों में संस्कृत-काव्य-साहित्य बना। इनमें सामन्ती मूल्यों तथा मान्यताओं के इर्द-गिर्द ही सारा साहित्य बना। प्रभु-भक्ति, वर्णाश्रम धर्म, कुल और वंश की महिमा, पुरुषों के गणिका-गमन के बावजूद स्त्रियों के सती-धर्म आदि सामन्ती मान्यताओं को बल पहुँचाया गया।

हम इस विषय पर बहुत ब्यौरे में नहीं जायँगे, क्योंकि इस सम्बन्ध में मैं अन्यत्र बहुत ब्यौरे में लिख चुका हूँ। फिर भी इतना बता दूँ कि यद्यपि हमारे दर्शन तथा उपनिषदों में बहुत ऊँचे आदर्श यत्र तत्र बघारे गए हैं, फिर भी हम-जैसे किसी व्यक्ति को उसके द्वारा बताये हुए उच्च सिद्धांतों के आधार पर नहीं कूतते, हम उसके आचरण को देखते हैं, उसी प्रकार से जब हम आर्यों के आचरण पर आते हैं, तो हम देखते हैं कि अपने शत्रुओं को तो उन्होंने अपने इतिहासों में राक्षस आदि करके चित्रित किया ही, इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने समाज के लोगों में इतना भेद-भाव बरता जो अकल्पनीय है। एक ही अपराध के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की सजाओं में प्रभेद यह हमारे हिन्दू स्मृति-ग्रन्थों तथा सूत्र-ग्रन्थों की विशेषता है। हम यहाँ पर इस ब्यौरे में भी नहीं जायँगे कि भारतीय समाज में किस प्रकार वर्ण-भेद की पद्धति में ही वर्ग-भेद समा गया था यद्यपि यह एक बहुत ही दिलचस्प विषय है।

अतएव दिनकरजी का यह जो विचार है कि 'राजनीति ने अब एक नया नारा निकाला है कि साहित्य राजनीति का रण-वाद्य है', उतना नया नहीं है जितना कि दिनकरजी समझते हैं। दिनकरजी ने लिखा है—"राजनीति ने अब एक नया नारा निकाला है कि साहित्य राजनीति का रण-वाद्य है। एक बहुत ही प्रगतिशील देश ने अनुभवों से यह पता लगाया है कि राजनीति के सिद्धान्त अगर राजनीति के भीतर पचा दिये जायँ, तो वे मनुष्य के संस्कार बन जाते हैं और फिर उन्हें कोई हिला-डुला नहीं सकता। अतएव उस देश के शासकों की दृष्टि में साहित्य का मान बहुत कुछ बढ़ गया है और कहा जाता है कि वहाँ साहित्यिकों का दल सबसे सुखी और सम्मानित है। किन्तु डूबकर देखने से पता चलेगा कि वहाँ भी गुलाब की प्रशंसा के लिए जो पुरस्कार दिया जाता है, वह उस पुरस्कार से कहीं न्यून है जो गेहूँ के विकास के लिए अत्यन्त आदर के साथ प्रदान किया जाता है। ('गेहूँ और गुलाब' की सूक्ति के लिए बेनीपुरी जी को धन्यवाद) रूस की देखा-देखी अब हिन्दुस्तान में भी राजनीतिक दल साहित्य का सहारा लेना चाहते हैं। हम मानते हैं कि यह उपेक्षा की अवस्था

से अच्छी अवस्था है। किन्तु इससे उस उद्देश्य की सिद्धि दुर्लभ होगी जिसके लिए साहित्य की आवश्यकता है।"

दिनकरजी जिसे रूस की देखा-देखी कहते हैं, यह रूस की देखा-देखी नहीं है। जब से वर्ग-समाज उत्पन्न हुआ, और साहित्य की उत्पत्ति हुई, चाहे वह लिखित साहित्य न हो, श्रुति और स्मृति के रूप में हो, शोषक वर्ग साहित्य को अपने शासन का परोक्ष साधन बनाता रहा है। इसमें रूस की देखा-देखी केवल इतनी है कि रूस वाले इस बात को छिपाकर पक्षपात-हीनता के ढोंग की परिपाटी में विश्वास नहीं करते। नहीं तो रामायण, महाभारत तथा हमारा सारा प्राचीन साहित्य वर्ग-पक्षपात से दुष्ट है, और उन कृतियों के रचयिताओं को यदि वे इस समय मौजूद होते तो रूस से कुछ सीखना नहीं पड़ता। सोवियट लेखकों ने नात्सियों का जो चित्रण किया गया है, वह उनसे कहीं अधिक उदार और मानवीय है। इसके अतिरिक्त यह तो हम बता ही चुके कि रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में बराबर उन्हीं मान्यताओं को ऊँचा उठाया गया है, जो उन दिनों की शासक वर्ग की मान्यताएँ थीं।

नवीनजी आवेश में आकर कह देते हैं कि—"जिसका मस्तिष्क यथास्थान है, वह तुरन्त देख लेगा कि मार्क्स, ऐंगल्स, लेनिन का वह पक्षावलम्बी सिद्धान्त भारतीय साहित्य की इन धाराओं पर लागू नहीं होता," पर यह कथन सत्य की कसौटी पर ठहरता नहीं है। रामायण को नवीनजी बहुत महत्त्व देते हैं इस कारण मैं दो शब्दों में यह भी बता दूँ कि उसमें आर्य-साम्राज्य-विस्तार की एक टेकनीक बार-बार सामने आई है, जो पाश्चात्य साम्राज्यवादियों के साम्राज्य-विस्तार की टेकनीक से बहुत मिलती है। पहले पादरी जाकर धर्म-प्रचार करते थे, फिर उनकी रक्षा के लिए गनबोट जाते थे। इसी प्रकार आर्य ऋषि आगे निकलकर कहीं यज्ञ आदि करते थे, फिर जब उन्हें उस देश के आदिम निवासियों की ओर से बाधा प्राप्त होती थी, तो आर्य राजा सैन्य-सामन्त लेकर पहुँचते थे। रामायण की कहानी आर्य-साम्राज्य विस्तार की कहानी है, उसमें शत्रुओं के साथ न्याय करना तो दूर रहा, उनमें अवगुण-ही-अवगुण दिखलाए जाते हैं। राम मर्यादा पुरुषोत्तम है, पर रावण राक्षस-राज है। मित्रतापूर्ण जातियों को भी वानर की आख्या दी गई, और उनकी पूँछों के लम्बे वर्णन किये गए। क्या इतने पर भी यह दावा किया जायगा कि जो लोग साहित्य में पक्षपात को लागू देखते हैं, उनका मस्तिष्क यथास्थान नहीं है।

दिनकरजी पक्षपात वाले सिद्धान्त का इतनी कठोरता से वर्जन नहीं करते,

जितना नवीनजी करते हैं। वे एक मध्यम मार्ग लेकर कहते हैं—

"मैंने कहा है कि राजनीति की ओर से साहित्य की जो आराधना शुरू हुई, वह कोई बुरी चीज नहीं है। किन्तु मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि साहित्य राजनीति की अनुचरता स्वीकार करके मनुष्य का कल्याण नहीं कर सकता। जनता साहित्य का विश्वास केवल इसलिए करती है, क्योंकि झूठ बोलना अथवा मिथ्या प्रचार साहित्य के स्वभाव के विरुद्ध है। जनता के नवचेतन में कौनसी कामनाएँ ऊँघ रही हैं, जनता के विकास की भावी दिशा क्या होनी चाहिए, ये बातें सबसे पहले साहित्य को ही मालूम होती हैं और इसीलिए साहित्यकार को यह आजादी रहनी चाहिए कि वह अपने हृदय की बात को निर्भीकतापूर्वक कहे और यह आजादी उन्हें भी नहीं अखरनी चाहिए जो साहित्य के प्रतिपालक पद पर आरूढ़ होते हैं। अगर कवि संघर्ष के भीतर बिठलाया जाता है तो संघर्ष से ऊपर वाली जगह भी उसी की होनी चाहिए। कवि की उदारता, कवि की सहानुभूति और कवि का रोने का अधिकार कहीं भी सीमित नहीं किया जा सकता। क्योंकि इस भयंकर संसार में वही तो एक ऐसा जीव है जो "एक दल का पक्ष लेते हुए भी अपनी सहानुभूति का अर्द्धांश शत्रुओं के लिए भी सुरक्षित रखता है।"

दिनकर-वर्णित यह कवि, जो एक दल का पक्ष लेते हुए भी सहानुभूति का अर्द्धांश शत्रुओं के लिए सुरक्षित रखता है, केवल कल्पना में ही मौजूद है। हाँ कोई कवि झक्की हो, मध्यममार्गी हो, इस पक्ष से उस पक्ष में चला जाय तो उसकी बात और है। कवि भी अपनी श्रोतृ-मंडली पर जीता है, इस कारण वह उनसे स्वतंत्र होकर न तो जी सकता है, न जीता है।

दिनकरजी तो पलायनवाद के साथ भी कुछ हद तक संधि करने को तैयार हैं। वे कहते हैं—

"जिसे आप पलायनवाद कहते हैं, उसका मैं कटु आलोचक नहीं हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि कल्पना के जब-तब वन्द हो जाने से कवि की शक्ति का विकास ही होता है, और उसकी वाणी कला के चमत्कारों से युक्त रहती है।"

दिनकरजी के इस कथन की विशेष आलोचना की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पलायनवाद की जो समालोचना पहले आ चुकी है, वह इस पर भी लागू होती है। मालूम होता है कि दिनकरजी पहलवानों की वर्जिश और रियाज के रूप में पलायनवाद में विश्वास करते हैं। अस्तु।

साहित्य किसी-न-किसी धारा, वर्ग, विचार के साथ पक्षपात करता है, प्रगतिवादियों के इस कथन से लोग इतना चिढ़ते क्यों हैं, यह समझ में नहीं

आता । क्या यह सत्य नहीं है ? मजे की बात यह है कि रवीन्द्रनाथ, जिनका सारा साहित्य विशेषकर उपन्यास साहित्य-प्रचार-मूलक है, और जो पुराने सामन्ती समाज की मान्यताओं के विरुद्ध उदार पूँजीवादी वर्ग के झण्डे को लेकर आमरण लड़े, वे भी एक स्थान पर 'साहित्य की मात्रा' नामक लेख में कह जाते हैं, "कहानी की किताबों में जिन्हें थीसिस पढ़ने का मर्ज है, मैं कहूँगा कि वे साहित्य के पद्मवन में मत्त हस्ती की तरह हैं।" खैरियत यह है कि वे अन्य सभी स्थानों में दूसरी ही बात कहते पाये जाते हैं ।

'साहित्य विचार' नामक लेख में वे लिखते हैं—"साहित्य-विचार-सम्बन्धी किसी भी ग्रन्थ को पढ़ते समय कमो-बेश यह बात दिखाई पड़ती है कि आलोचक कुछ विशेष संस्कारों के अधीन है । इन संस्कारों का उद्भव उसके दल, श्रेणी तथा शिक्षा के कारण होता है । कोई भी सम्पूर्ण रूप से इस प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता । कहना न होगा यह संस्कार सर्वकाल के आदर्श का अनुवर्ती नहीं है । न्यायाध्यक्ष के मन में व्यक्तिगत संस्कार होते हैं, पर वह कानून के दंड की सहायता से अपने को खड़ा रखता है । दुर्भाग्य से साहित्य में यह कानून विशेष काल, विशेष पल, विशेष दल, विशेष शिक्षा या विशेष व्यक्ति की ताड़ना से बनते रहते हैं । यह कानून सार्वजनिक तथा सार्वकालिक नहीं हो सकता ।"

इस प्रकार अन्य स्थानों में भी कवीन्द्र ने इस सत्य को माना है, भले ही वे इसे एक आह के साथ मानते हों कि साहित्य तथा उसकी आलोचना में पक्षापात होता है । फिर जिस न्याय के दण्ड को वे उपमेय के रूप में लेते हैं, यदि मैं यह कहूँ कि वह न्याय भी वर्ग-न्याय होता है, तो बात बहुत बढ़ जायगी, अस्तु । दिनकरजी ने जिस राजनीति के साथ साहित्य के गठबन्धन को आधुनिक माना है, वह न तो रूस का प्रसाद है न आधुनिकता का, यह तो देखा गया । साहित्य में किन्हीं विचारों के साथ पक्षपात न केवल किया गया, बल्कि बराबर उचित माना गया है । हमारा सारा प्राचीन साहित्य यहाँ तक कि काव्य-साहित्य भी प्रयत्क्ष या परोक्ष रूप से धार्मिक तथा एक विशेष विचार-धारा का प्रतिपादक रहा ।

आर्यों के साम्राज्य-विस्तार के साथ पक्षपात के विषय में पहले ही कहा जा चुका है । प्राचीन भारत में न केवल धार्मिक साहित्य को तरजीह दी जाती थी, बल्कि जो साहित्य धर्म के विरुद्ध होता था, उसका दमन भी किया जाता था । चार्वाक, वृहस्पति आदि के साहित्य को इतना दबाया गया कि वह लुप्त हो गया, और अब केवल उनके विरोधियों के साहित्य में उनके जो उद्धरण

मिलते हैं, उन्हीं से उनके मत का कुछ-कुछ पता मिलता है ।

नाट्य-शास्त्रकार ने यह स्पष्ट कह दिया कि "सर्वोपदेश जननं नाट्यं खलु भविष्यति, और यह हम सभी जानते हैं कि उपदेश का अर्थ प्रचार है । नाट्य-शास्त्रकार और भी कहते हैं—

धर्मोधर्मः प्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम् ।
निग्रहोदुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया ।।
क्लीबानां धाष्टर्य करणमुत्साहः शूरमानिनां ।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि ।।
ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुखार्दतस्यच ।
अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरुद्विग्न चेतसाम् ।।
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्राम जननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।।

याने "नाट्य धर्म में प्रवृत्त लोगों को धर्म, कामोपसेवियों को काम, दुर्दान्तों को निग्रह, विनीतों की विनयबुद्धि, क्लीबों को साहस, वीरों को उत्साह, निर्बोधों को बुद्धि, विद्वानों को विद्या, धनियों को उचित विलास, दुःख-पीड़ितों को धैर्य, अर्थोपजीवियों को अर्थ के उपाय, उद्विग्न चित्तों को ढाढस, दुखियों, श्रम-पीडितों, शोकार्तों तथा तपस्वियों को विश्राम प्रदान करेगा ।"

इस प्रकार से यह देखा गया कि लेनिन तथा अन्य प्रगतिवादियों ने यह कहकर विशेष अपराध नहीं किया है कि साहित्य सज्ञान रूप से किन्हीं विचारों के साथ पक्षपात करे । अवश्य उन्होंने नाट्य-शास्त्रकार की तरह अस्पष्ट शब्दों का प्रयोग न करके इस पक्षपात को एक वैज्ञानिक रूप दिया है, इसके लिए कोई उनको कितना भी कोस ले, ठीक है । हम पहले ही यह बता चुके हैं, और जिसे मुझे डर है कुछ अत्युत्साही प्रगतिवादी समझ नहीं पाते कि किसी साहित्य के प्रगतिवादी होने के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले साहित्य हो । मैंने बार-बार इस उपमा का प्रयोग किया है, और इस अवसर पर फिर उसका उल्लेख करता हूँ कि यदि कोई व्यक्ति क्रान्ति के जोश में कनस्तर पीट दे, तो वह क्रान्तिकारी संगीत नहीं हुआ जाता ।

जार्ज डिमिट्राफ ने सोवियट लेखकों में बोलते हुए यह स्पष्ट कर दिया था कि "वह लेखक क्रान्तिकारी लेखक नहीं है, जो अपनी कृतियों में बार-बार 'इन्कलाब जिन्दाबाद' कराता है ।" इसी प्रसंग में गोर्की ने अपने नाटक 'निम्नतर गहराइयाँ' के उद्देश्य के सम्बन्ध में यह कहा था, "मञ्च पर जुलूस और झण्डों के साथ क्रान्ति दिखलाने का कोई अर्थ नहीं होता । हमें तो मनुष्य की आत्मा,

जीवित मनुष्यों के जरिये से क्रान्ति दिखलानी है। हमारा उद्देश्य है कि शासक वर्ग की मानसिक शान्ति को नष्ट कर दें, और उनका नातका बन्द कर दें। यह बहुत सुन्दर रहेगा।" (टेलीशोफ लिखित संस्मरण)।

नवीनजी ने स्टालिन की भाषा-शास्त्र-समस्या-सम्बन्धी लेख का उद्धरण-देते हुए यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि उसके अनुसार प्रत्येक जाति की एक संस्कृति है, अतः भारत की एक विशेष संस्कृति है। इसमें तो सन्देह नहीं कि भारत की एक विशेष संस्कृति है। पर स्टालिन के वक्तव्य से नवीन-जी ने जो अर्थ निकालना चाहा है, वह भ्रान्त है। यह तो ठीक है कि प्रत्येक संस्कृति अपनी निजी विशेषताओं के द्वारा विश्व-संस्कृति को ऐश्वर्यशाली बना-यगी, पर नवीनजी यह भूल जाते हैं कि न तो स्टालिन और न अन्य कोई प्रगतिवादी ही किसी स्थानीय संस्कृति या विश्व-संस्कृति में ऐसे उपादानों को रहने देना चाहेंगे, जो शोषणात्मक हों, और न उसको संरक्षित करना चाहेंगे। नवीनजी जिस विशेषता को भारतीय विशेषता कहते हैं, जिसे वे 'क्वासि' की टेर कहते हैं, दूसरे शब्दों में भारतीय मार्का अध्यात्मवाद को वे विश्व को भारत के दान के रूप में देना चाहते हैं। और यह सब वे स्टालिन के मत्थे पर करना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में मेरा पहला नम्र निवेदन यह है कि वे स्टालिन के इस सम्बन्ध के वक्तव्य के मथितार्थ को समझ नहीं पाये। स्टालिन तो किसी रूप में भी धर्म और अध्यात्मवाद को रखना नहीं चाहते, क्योंकि धर्म और अध्यात्मवाद जनता के लिए अफीम है। इस सम्बन्ध में दूसरा वक्तव्य यह है कि अध्यात्मवाद को भारत की विशेषता समझना ऐतिहासिक रूप से गलत है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत में कई कारणों से सैकड़ों वर्षों से इसका बोल-बाला रहा, पर अन्य देश भी अध्यात्मवाद को उतना ही महत्त्व देते रहे। बात यह है कि अध्यात्मवाद एक विशेष विचार-धारा है और वह एक विशेष परिस्थिति में पनपता है। इस तर्क-सूत्र का दूर तक अनुसरण करना यहाँ संभव नहीं है।

अध्यात्मवाद को भव्य, उदात्त, श्लाघ्य, चरम उन्नति प्रेरणादायक आदि विशेषण विभूषित करने पर भी नवीनजी अपनी ही लेखनी से अध्यात्मवाद का मृत्युदण्ड-पत्र इस रूप में लिख देते है। वे कहते हैं—"वर्तमान विज्ञान-जिज्ञासा और भारतीय परम्परा की जिज्ञासा में जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अन्तर है, वह यह है कि वर्तमान जिज्ञासा बहिर्मुखी है, और भारतीय परम्परा की जिज्ञासा भावना अन्तर्मुखी है।" हम इस वक्तव्य के गूढ़ अर्थ के उद्घाटन में पड़ने की आवश्यकता नहीं समझते। हमारे उद्देश्य के लिए इतना ही यथेष्ट है कि

नवीनजी भारतीय परम्परा की जिज्ञासा की भावना को विज्ञान-विमुख, केवल यही नहीं विज्ञान की जिज्ञासा भावना से विपरीत पथगामी मानते हैं। न स्टालिन को और न अन्य किसी प्रगतिवादी को ऐसी किसी भी परम्परा या भावना की आवश्यकता है, जो विज्ञान के विरुद्ध जाती हो। मैं नवीनजी को इसके लिए बधाई देना चाहता हूँ कि वे साहसपूर्वक यह मानते हैं कि जिस आधार को वे साहित्य के मूल के रूप में लेना चाहते हैं, वह अनिवार्य रूप से विज्ञान-विरोधी है। वे आगे चलकर और भी साफ कह देते हैं "विज्ञान-सम्बंधी जिज्ञासा और भारतीय जिज्ञासा की परम्परा को एक ही कोष्ठक में बन्द नहीं किया जा सकता।"

इस आधार को रख कर नवीनजी संस्कृति की व्याख्या करने चल देते हैं। स्वाभाविक रूप से उनके निकट संस्कृति एक और अविभाज्य है। न तो उनके निकट वर्ग-संस्कृति है और न वर्ग-साहित्य। वे उपसंहार के रूप में कहते हैं—

"मेरी मति के अनुसार संस्कृति गान्धी है, संस्कृति-विनोबा है, संस्कृति कबीर, तुलसी, सूर, जानदेव, समर्थ तुकाराम है।" इत्यादि-इत्यादि।

मैं यह पूछना चाहूँगा कि भारतीय संस्कृति में इन व्यक्तियों के अतिरिक्त गीता के कृष्ण, राम, चार्वाक, बृहस्पति, अकबर, भगतसिंह चन्द्रशेखर आजाद तथा आज के सैकड़ों ज्ञात और अज्ञात क्रान्तिकारी भी तो हैं। मैंने केवल कुछ ही नाम गिनाए, क्योंकि नाम गिनाकर संस्कृति का निरूपण सम्भव नहीं। इसलिए एक विचार को लिया जाय जैसे अहिंसा। यदि भारत में इसके प्रतिपादक बुद्ध से लेकर गांधी तक बहुत से महापुरुष हो गए, तो दूसरी ओर वैदिक आर्यों से लेकर कृष्ण, राम, लोकमान्य तिलक और चन्द्रशेखर आजाद तक कितने ही ऐसे महापुरुष हो गए, जो अन्यायी के बल के विरुद्ध बल-प्रयोग और युद्ध में विश्वास करते थे। प्रेम सृजनात्मक है, तो घृणा अन्यायी के प्रति भी एक सृजनात्मक शक्ति है। किसको हम भारतीय संस्कृति के प्रतीक मानेंगे, बुद्ध और गांधी को या गीता के कृष्ण, राम और लोकमान्य तिलक को, जिन्होंने गीता की व्याख्या की, और चापेकर बन्धु, खुदीराम की प्रशंसा में लेख लिखकर जेल काटी?

इस कारण हमारे सुविस्तृत इतिहास में से एक विशेष विचार को निकालकर उस पर भारतीयता का ठप्पा जबर्दस्ती लगा देने से कोई काम नहीं बन सकता। सच तो यह है कि भारतीय संस्कृति में ऐसे बहुत से उपादान हैं, जो शोषणमूलक हैं, हमें उन्हें दूर करना पड़ेगा। इसके बाद भी हमारे पास

बहुत कुछ बचेगा जिसे लेकर हम विश्व-संस्कृति के सामने जा सकते हैं।

नवीनजी का अन्तिम वाक्य है—

'संस्कृति है आत्म-विजय, संस्कृति है राग-वशीकरण, संस्कृति है भाव-उदात्तीकरण। जो साहित्य-मानव को इस ओर ले जाय, वही सत्साहित्य है।"

इस पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृति के और भी स्वरूप हैं, जैसे प्रकृति पर विजय, निरन्तर उत्पादन के साधनों में उन्नति के कारण उच्चतर समाज-पद्धति में गमन, वर्ग-संघर्ष इत्यादि। संस्कृति में सबसे बड़ी बात है अपने ऊपर नहीं प्रकृति पर विजय का प्रयास, जो वर्ग-संघर्ष-मूलक शोषण-मूलक समाज के स्थापित होने के बाद भी कायम रहेगा, शायद हमेशा कायम रहे। जिसे नवीनजी आत्मविजय, राग-वशीकरण और भाव-उदात्तीकरण बताते हैं, वह कहाँ तक आवश्यकता तथा मनुष्यों के पारस्परिक Adjustment के कारण हुआ, और कहाँ तक 'आत्मा की पुकार' के कारण यह विचार्य है। क्या कारण है कि आदिम समाज में मातृ-गमन और भगिनी-गमन नियम था, उस समय आत्मा की पुकार कहाँ थी, और अब क्यों इन बातों को गर्हित माना जाता है? जिसे रागवशीकरण आदि कहा जाता है, क्या वह अन्ततोगत्वा सामाजिक आवश्यकता के दबाव के कारण विकसित नहीं हुआ?

अन्त में हम नवीनजी के उस संशय का निरसन करना चाहते हैं जो वर्तमान प्रगतिवादियों के विरुद्ध यह कहकर उठाया गया है कि स्वयं प्रगतिवादियों में एक मत नहीं है, उनमें कई मत और कई पथ हैं, एक रचयिता को एक प्रगतिवादी अच्छा कहता है तो दूसरा बुरा कहता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह परिस्थिति श्लाघ्य नहीं है, और इससे जन-साधारण को वस्तु को समझने में बड़ी दिक्कत होती है, संभव है इससे प्रगतिवाद के शत्रुओं की बन भी आती हो। पर क्या यह मतभेद अनिवार्य नहीं है?

प्रगतिवादियों में कई शेड का होना अनिवार्य इसलिए है कि एक सिरे पर तो वह प्रगतिवादी है जो क्रान्ति के जोश में बजे हुए या बजाए हुए कनस्तर को संगीत मानने के लिए तैयार हैं, दूसरी तरफ वे लोग हैं जो दूसरी बातों को उतना ही महत्त्व देते हैं जितना उसके उद्भव-स्थल को। एक तरफ वे लोग हैं जो दलगत साहित्य और प्रगतिशील साहित्य को करीब-करीब एक मान कर बैठे हैं, दूसरी तरफ वे लोग हैं जो दलेतर साहित्य में प्रगतिशीलता देखने को तैयार हैं। रूस में भी ये लहरें चलीं। वहाँ प्रथम युग में गोर्की आदि कुछ लेखकों के अतिरिक्त बाकी सब लेखक प्रतिक्रियावादी माने गए। मेरे पास टालस्टाय का एक सोवियट रूसी संस्करण था जिसमें उनको शुद्ध प्रतिक्रिया-

वादी कहा गया था, पर बाद को उनके दर्शन और कुछ रचनाओं को प्रतिक्रियावादी मानते हुए भी उनको उस्ताद माना गया। इसी प्रकार क्रमशः उदारता की नीति को अपनाया गया। जैसे धर्म और धार्मिक दर्शनों में आपस में फर्क होने से, एक में ईश्वर मान्य होने से, दूसरे में उस पर चुप्पी साधने से, एक में जन्मान्तरवाद मानने से, दूसरे अमान्य होने से, फिर भी धर्म और अध्यात्मवाद के मूलीभूत दृष्टिकोण एक ही हैं, उसी प्रकार प्रगतिवाद में कई मत-मतान्तर होने से भी वह न तो भ्रान्त प्रमाणित हो सकता है, और न उसका साहित्य-शास्त्र गलत हो सकता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ रूस की तरह यहाँ भी प्रगतिवादियों में उन्हीं लोगों की प्रधानता होती जायगी, जो उदार दृष्टिकोण को अपनाकर साहित्य की आलोचना करेंगे। प्रगतिवादियों में कई शेड होने से प्रगतिवाद की व्यर्थता सिद्ध न होकर बल्कि यही सिद्ध होता है कि उसमें जैसा कि उसके शत्रु सदा बताने के लिए लालायित रहते हैं उसमें 'रेजिमेण्टेशन आफ थाट' याने विचारों का सैनिकीकरण न होकर सोचने की स्वतन्त्रता है।